साईं सेंती साँच चलि, औरौं सूँ सुध भाइ ।
भाव लाँबे केस रखि, भावै घुरड़ि मुड़ाय ॥

—कबीर

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति ।
सबै सयाने एक मति, तिनकी एकै जाति ॥

—दादू

वक्तव्य

ईश्वर को अनेक धन्यवाद हैं कि आज हम स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल की प्रधान एवं ख्यातनामा अंग्रेजी कृति 'दि निर्गुण स्कूल आफ़ हिंदी पोएट्री' (The Nirgun School of Hindi Poetry) का हिंदी रूपान्तर प्रकाशित करने में समर्थ हो सके हैं। मूल पुस्तक डाक्टरेट की उपाधि के निमित्त थीसिस के रूप में लिखी गई थी जिसकी उसके परीक्षकों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। स्वयं डा० बड़थ्वाल अपनी इस प्रिय कृति को हिंदी में अत्यन्त मौलिक रूप में निकालना चाहते थे जिसमें विषय से सम्बंधित पीछे के शोधों-द्वारा उपलब्ध समस्त तथ्यों का भी समावेश रहता। इसी कारण उन्होंने मूल पुस्तक के केवल पहले, दूसरे और छठे अध्यायों का ही अनुवाद करके आगे के अनुवाद-कार्य को अनुकूल एवं उपयुक्त समय तक के लिए स्थगित कर दिया था। उक्त तीन अध्यायों का अनुवाद "हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय" नाम से हुआ था और वह अंत के थोड़े से अंश को छोड़कर उस समय तुरन्त ही 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के पंद्रहवें भाग में छपा था। इस छपे अंश से ही पता चल जाता है कि अनुवाद को मौलिक बनाने में किस प्रकार संशोधन और परिवर्द्धन का कार्य हो रहा था। अस्तु। मूल पुस्तक के साथ-साथ इस अनुवाद की भी बड़ी ख्याति हुई और हिंदी प्रेमियों की ओर से पुस्तक के हिंदी संस्करण की भी माँग होने लगी। डा० बड़थ्वाल इस माँग की पूर्ति की ओर सचेष्ट तो बहुत थे पर अन्य कार्यों ने उनको इस प्रकार व्यस्त रखा कि वे उत्कट इच्छा रखते हुए भी जीवन पर्यंत इसको आगे नहीं बढ़ा

सके। इस प्रकार होनहार के आगे कुछ न चल सकी और मौलिक अनुवाद की बात सर्वंव के लिए जाती रही।

प्रस्तुत हिंदी संस्करण का नामकरण और उसके प्रथम तीन अध्यायों (मूल पुस्तक के प्रथम, द्वितीय और षष्ठ अध्यायों) का अनुवाद जैसा कि पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है डा० बड़थ्वाल का दिया हुआ है। शेष का अनुवाद और सम्पादन विद्वद्वय पंडित परशुराम जी चतुर्वेदी (बलिया) और डा० भगीरथ मिश्र (लखनऊ विश्वविद्यालय) ने किया है। श्री चतुर्वेदी जी प्रस्तुत विषय के प्रेमी तो हैं ही, साथ ही साथ इस विषय का उनका गंभीर अध्ययन है। मीरा के पदों के सम्पादन-द्वारा और हिंदुस्तानी आदि पत्रिकाओं में निकले संत-साहित्य विषयक उनके निबन्धों से उनका नाम सर्वविदित है। प्रस्तुत संस्करण में शेष अनुवाद और भूमिका-लेखन उन्हीं का है। डा० मिश्र लखनऊ विश्व-विद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक हैं और सुकवि होने के अति-रिक्त "हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास" नामक साहित्यशास्त्र-संबंधी अपनी सुंदर एवं प्रधान रचना-द्वारा विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। वे डा० बड़थ्वाल के पट्ट शिष्यों में से हैं और उनकी भाव, भाषा और शैली से अच्छी तरह परिचित हैं। इन्हीं दृष्टियों से उन्होंने संपादन-कार्य किया है। नवीन अनुवाद को सुव्यवस्थित रूप में सजाकर और उसमें उचित संशोधन तथा परिवर्द्धन करके उसको डा० बड़थ्वाल के अनुवाद के अनुरूप बनाने का उन्होंने प्रयत्न किया है। सम्पादन का विशेष अभिप्राय भी यही था। क्योंकि एक तो अनुवाद दो तरह के हो गये थे जिनमें भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक था दूसरे नवीन अनुवाद में मूल के भावों की रक्षा करना भी था। संपादन-कार्य एक कला है जिसका काम यही है। अतः सौभाग्य से इस कार्य में डा० मिश्र की सहा-यता हमें प्राप्त हो गई। कहने का तात्पर्य यह है कि डाक्टर

वड़थ्वाल की मूल कृति को उसके तुल्य ही हिंदी में भी उत्तम बनाने का भरसक उद्योग किया गया है। आशा है विज्ञ पाठक इसका आदर कर हमारा परिश्रम सफल करेंगे।

पुस्तक को आकर्षक सजधज के साथ प्रकाशित करने में और उसको मुद्रणकला के आधुनिकतम उच्चस्तर पर शुद्धतापूर्वक छापने में 'अवध पब्लिशिंग हाउस' के अध्यक्ष श्री भृगुराज जी भार्गव ने जो परिश्रम किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। इसके अतिरिक्त उन्होंने डा० वड़थ्वाल की समस्त अप्रकाशित पुस्तकों और लेखों को भी प्रकाशित करने का भार अपने ऊपर लेकर और उनके परिवार को बिना किसी संकोच के अग्रिम आर्थिक सहायता प्रदान कर जिस उदारता का परिचय दिया है वह कभी नहीं भुलाई जा सकेगी। डा० वड़थ्वाल के स्वर्गस्थ हो जाने पर उनकी अप्रकाशित रचनाओं को छापने का एक कठिन उत्तरदायित्व हमारे ऊपर आ पड़ा था, परन्तु श्री भार्गव जी की कृपा से उसे निभाना अब हमारे लिए बहुत सरल हो गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रूफ देखने तथा अनुवादित लेख की शुद्धतापूर्वक प्रतिलिपि करने में श्री रामसहाय पाण्डेय 'चन्द्र' ने विशेष परिश्रम किया है, अतः वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

यहाँ थोड़ा सा उल्लेख "डा० वड़थ्वाल स्मारक ट्रस्ट" का भी कर देना आवश्यक है। उसके विज्ञापनों से बहुत से लोगों में अभी यह धारणा बनी हुई है कि डाक्टर वड़थ्वाल की अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित करने का भार उसने अपने ऊपर ले लिया है, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। डाक्टर वड़थ्वाल की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही उनके परम विश्वासपात्र और निकटस्थ सम्बन्धी श्री ललिताप्रसाद जी नैथानी ने उक्त ट्रस्ट की एक आकर्षक योजना उनके कुटुंबियों के सम्मुख प्रस्तुत की थी जिसने उन्हें मोह लिया था। उसमें डाक्टर

वड़थ्वाल की अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित करने, उनके द्वारा संगृहीत, मुद्रित एवं प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों को सुरक्षित रखने और उनके परिवार की आर्थिक सहायता करने की ये सभी बातें थीं जिन्हें वे लोग सहर्ष चाहते थे। अतः श्री नैथानीजी ने श्री भक्तदर्शन जी के साथ उपयुक्त समस्त सामग्री को टटोलकर उसकी सूची बनाई और संगृहीत मुद्रित-ग्रंथ तथा डाक्टर वड़थ्वाल की बहुत सी रचनाएँ साथ लेते गये। उन्होंने ट्रस्ट का काम आरंभ कर दिया था और कुछ निबन्ध बाबू सम्पूर्णानन्द जी को सम्पादन करने के निमित्त दे दिये थे जो काशी विद्यापीठ से "योगप्रवाह" के नाम से प्रकाशित हुए।

इतना सब बिना किसी लिखा-पढ़ी के हुआ था परन्तु कुछ दिनोंपरांत जब हिंदी साहित्य सम्मेलन से अपने के लिए 'जोगेश्वरीवाणी' की मांग आई और यह बहुत खोजने पर भी न मिली तो हमारे कान खड़े हुए तथा हमें संदेह हुआ। डा० वड़थ्वाल की वह भी एक महत्वपूर्ण कृति थी जिसको उन्होंने गम्भीर अध्ययन और बहुत खोज के पश्चात् लिखा था। उसकी ढूँढ़ सबसे पहले सामग्री की जाँच पड़ताल करने और उसकी सूची बनाने के समय ही कर ली गई थी। उस समय उसके खो जाने की कोई भी चर्चा इन लोगों ने नहीं की थी, परन्तु जब उनसे उस पुस्तक को सम्मेलन में भेजने के लिए कहा गया तो वे इधर-उधर की बात मिलाने लगे। इससे हमें अत्यंत निराशा हुई और हमें उनकी उत्तरदायित्व-हीनता का परिचय मिला। ऐसी दशा में हम यह भी नहीं कह सकते कि डा० वड़थ्वाल की कितनी सामग्री नष्ट हो गई है। हमने तब से उक्त ट्रस्ट की आशा छोड़ दी और डा० वड़थ्वाल की शेष सामग्री को अलग से ही प्रकाशित करने का निश्चय किया। "योगप्रवाह" के सम्बन्ध में भी काशी विद्यापीठ से पत्र-व्यवहार किया गया जिसके फलस्वरूप वहां के सहृदय अधिकारियों ने डा० वड़थ्वाल की पत्नी का ही उस पर स्वत्व स्वीकार किया। इतना सब लिखने

का हमारा अभिप्राय केवल यह है कि एक भ्रांत धारणा का, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, निराकरण हो जाय। हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि उक्त ट्रस्ट से डा० बड़थ्वाल के परिवार को किसी प्रकार की कोई भी आर्थिक सहायता नहीं मिली यद्यपि वह उस समय अत्यंत आर्थिक संकट में था। उस गाढ़े अवसर पर तो डा० बड़थ्वाल के बाल्यसखा उनके मामा के पुत्र—श्री महेशानन्द जी थपल्याल ही ऐसे व्यक्ति थे जो उनके काम आये। इस प्रकार प्रस्तुत प्रकाशन का उक्त ट्रस्ट से कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा यह प्रयत्न है कि धीरे-धीरे डा० बड़थ्वाल की समस्त रचनाएं सुसंपादित होकर निकल जायें, जिससे उनकी नवीन सामग्री और विचारों से साहित्यिक, साहित्यकार और विद्यार्थी लाभ उठा सकें। आशा है हम लोगों की इस योजना का सभी लोग स्वागत करेंगे।

स्वर्गीय डाक्टर बड़थ्वाल के परिवार की ओर से—

दौलतराम जुयाल

"साहित्यान्वेषक"

(काशी नागरीप्रचारिणी सभा)

प्राक्कथन

प्रस्तुत रचना हिंदी-सम्बन्धी अध्ययन के क्षेत्र में एक भारी आवश्यकता की पूर्ति करती है। इसका विषय हिंदी के उन रहस्यवादी कवियों की एक निर्दिष्ट शाखा है, जिन्हें साधारण प्रकार से हम निर्गुण कवि कहा करते हैं। अभी तक इन कवियों का अध्ययन सुव्यवस्थित रूप से नहीं हो पाया था। अभी तक साधारणतः यही विश्वास किया जाता रहा है कि इनका कोई अपना दार्शनिक सिद्धांत नहीं है और भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली इनकी धारणाएँ अस्पष्ट एवं क्रमरहित हैं। डॉ० बड़थ्वाल ने इस शाखा के साहित्य का विस्तृत रूप से गंभीर अनुशीलन किया है और अनेक महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों से भी सहायता ली है। यह उनके लिए एक बड़े गौरव की बात है कि इन संत कवियों के उपदेशों में उन्होंने दार्शनिक एवं नैतिक विचारधाराओं का एक निश्चित क्रम ढूंढ निकाला है। उन्होंने एक ऐसे तत्वज्ञान की सुन्दर व्याख्या की है जो बहुत उच्च व सूक्ष्म होता हुआ भी स्वभावतः व्यावहारिक है। उन्होंने हिंदी काव्य के इस क्षेत्र पर अत्यधिक प्रकाश डाला है और हमारे तद्विषयक ज्ञान में भी वृद्धि की है।

अपने विषय की चर्चा करते समय उन्होंने उसे अनावश्यक विस्तार नहीं दिया है और उसका निरूपण भी सरस किया है।

मैं उनकी सफलता पर उन्हें बधाई देता हूँ।

श्यामसुन्दरदास

प्रस्तावना

इस रचना के अंतर्गत उन हिंदी कवियों की साम्प्रदायिक विचार-धारा को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है जिन्हें यथोचित न होने पर भी साधारणतया निर्गुण संतकवि कहा जाता है और इसी कारण इसके शीर्षक का स्पष्टीकरण हो जाना भी नितांत आवश्यक है। संतकवियों के इस संप्रदाय के विचारों को निर्दिष्ट करने के लिए अधिकतर 'संतमत' एवं 'निर्गुणमत' नामक दो शब्दों के प्रयोग होते हैं। 'संत' शब्द की संभवतः दो प्रकार की व्युत्पत्ति हो सकती है। या तो इसे पालिभाषा के उस 'शांत' शब्द से निकला हुआ मान सकते हैं जिसका अर्थ निवृत्ति-मार्गी वा विरागी होता है अथवा यह उस 'सत्' शब्द का बहुवचन हो सकता है जिसका प्रयोग हिंदी में एकवचन जैसा होता है और जिसका अभिप्राय 'एकमात्र सत्य में विश्वास करने-वाला' अथवा उसका पूर्णतः अनुभव कर लेनेवाला व्यक्ति समझा जाता है।* इन दोनों ही दृष्टियों के अनुसार इस शब्द का प्रयोग इन संतकवियों के लिए उपयुक्त ठहरता है, यद्यपि इन दोनों में से दूसरे को 'संत' शब्द का मूल साधारणतः मान लिया गया है। परन्तु 'सत्' शब्द, सत्य का आशय प्रकट करने के अतिरिक्त सद्भावों की भावना

---

*—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

—'भगवद्गीता' (२-१६)।

†—सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

वही (१७-२६)।

का भी द्योतक है और इस प्रकार 'संत' शब्द एक अत्यन्त व्यापक अभिप्राय का सूचक बन गया है और इसे दुर्जन पुरुष के विपरीत एक सत्पुरुष वा सज्जन का समानार्थक भी समझा जाता है।* धार्मिक जीवन के क्षेत्र में भी इस शब्द के अन्तर्गत वे स्पष्ट सगुणोपासक संत आ जायँगे जो सूरदास एवं तुलसीदास की भाँति इन संतकवियों से नितांत भिन्न विचारधारा के समर्थक हैं। 'निर्गुणमत' नाम भी बहुत उपयुक्त नहीं है। इनकी सांप्रदायिक बातों को यदि छोड़ भी दें तो भी हम देखते हैं कि ये संत न तो परमात्मा के सोपाधि रूप का पूर्णतः वहिष्कार करते हैं और न उसके निरुपाधि स्वरूप को ही अपना अंतिम आश्रय निश्चित करते हैं। क्योंकि वास्तविकता इन दोनों से भिन्न है और वह तभी उपलब्ध हो सकती है जब इन दोनों से ही ऊपर उठा जाय। जब इस संप्रदाय के पिछले संतों में उक्त दोनों से ऊपर उठने की यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट हो जाती है और एक प्रकार की स्थूल साम्प्रदायिकता का रूप ग्रहण कर लेती है तो इस शीर्षक की अनुपयुक्तता और भी स्पष्ट हो जाती है। किंतु, इससे अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में मुझे इसी का प्रयोग करना पड़ रहा है, क्योंकि इसके लिए परम्परागत व्यवहार का समर्थन प्राप्त हो चुका है और जान पड़ता है कि कबीर आदि† ने इसे ग्राह्य समझकर स्वीकार भी कर लिया था। फिर भी इतना स्मरण रहना चाहिए कि इन संतों को भी

---

*—बंदउँ संत असज्जन चरणा।

तुलसीदास—'रामचरितमानस' (१-४)।

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।

कालिदास—'रघुवंश' (१-१०)।

†—संतन जात न पूछो निर्गुनिय।

कबीर शब्दावली भा० १, पृ० ११०।

इन सगुणोपासना के स्थूल रूपों जैसे मूर्त्तियों तथा अवतारों आदि के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के विरोध के कारण ही निर्गुणी कह सकते हैं।

यहाँ पर यह भी उचित जान पड़ता है कि निर्गुण संप्रदाय की विभिन्नता हम, हिंदी काव्य के उन दो अन्य संप्रदायों के साथ भी समझ लें जो कुछ मात्रा तक इसके समान है और जिन्हें निरंजनी* तथा सूफी† संप्रदाय कहते हैं। इनमें से पहला तत्वतः हिंदू है और दूसरा इस्लामी है। ये दोनों निर्गुण संप्रदाय से इस बात में भिन्न हैं कि ये

जानसि नहिं कस कथसि अयाना।
हम निर्गुण तुम सरगुन जाना॥ कबीर ग्रंथावली, पृ० १३०।
निर्गुन मत सोइ वेद को अंता।
ब्रह्म सरूप अध्यातम संता॥

गुलाल, (म० बा०, पृ० ११४)।

खट दरसन को जीति लियो है।
निरगुन पंथ चलाये नाम जो कबीर कहाये॥

ग्रंथ शब्दावली (ह० लि०) में किसी सुरत गोपाल के अनुयायी का कथन।

*—निरंजनी संप्रदाय के प्रमुख कविः—अनन्ययोग के रचयिता अनन्यदास (ज० सन् ११६८) निपट निरंजन (संत सरसी, निरंजन संग्रह इत्यादि के रचयिता) (ज० सन् १५६३) भगवानदास निरंजनी (प्रेमपदार्थ व अमृतधारा के रचयिता) आविर्भाव काल सन् १६२६ ई० इस संप्रदाय के सम्बन्ध में अभी तक वस्तुतः कुछ भी नहीं किया गया है। इस संबंध में डॉ० बड़थ्वाल का एक अलग लेख उनके निबन्ध संग्रह में देखिये। —सम्पादक।

†—सूफियों के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (पृ० ६४, ११६) (तथा प्रस्तुत ग्रंथ के १७ से २० तक) पृष्ठ देखिये।

अपने-अपने मूल धर्मों की ओर से शांतिपूर्वक संतुष्ट जान पड़ते हैं, यद्यपि इनका स्पष्ट उद्देश्य भी है कि संसार को विभिन्न मतों के रहते हुए भी एक व्यापक भ्रातृभाव के साथ रहना चाहिए। निरंजनी लोग सारे हिंदू देवगणों के प्रति प्रदर्शित किये जानेवाले सम्मान को उदार भाव के साथ देखते हैं, यद्यपि उनकी धारणा है कि ये विभिन्न देवता और अवतार निरंजन ब्रह्म के साधारण अवभास मात्र हैं। वे इनकी पूजादि की आवश्यकता से अपने को ऊपर उठा हुआ बतलाते हैं और परंपरागत सामाजिक अनुशासन के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करना नहीं चाहते। सूफ़ी लोग भी भिन्न-भिन्न नवियों व रसूल आदि के लिए पूरा सम्मान प्रदर्शित करते हैं और सारी इस्लामी बातों से प्रेम करते हैं यद्यपि उन्होंने कुछ न कुछ रामानुजीय ढंग के अन-इस्लामी वेदांत को भी अपना लिया है।

सूफी लोगों की दार्शनिक प्रवृत्ति उन्हें निर्गुण संप्रदाय के विशिष्टाद्वैती शिवदयाल आदि के साथ सम्मिलित करती है, जहाँ निरंजनी लोग इस विषय में कबीर जैसे जान पड़ते हैं। निरंजनी संप्रदाय नाथ संप्रदाय का एक विकसित रूप है जिसमें योग पूर्णतः वेदांती प्रभाव में आ चुका है। यह एक प्रकार से नाथ संप्रदाय एवं निर्गुण संप्रदाय का मध्यवर्ती है और कबीर, कमाल एवं दादू जैसे कतिपय पूर्ववर्ती निर्गुणी संतों के साथ इसकी बहुत कम असमानता है, जिस कारण इन्हें हम रामानंद की श्रेणी में गिन सकते हैं। असमानता तब अधिक स्पष्ट हो जाती है जब कबीरादि के धर्मदासी तथा राधास्वामी जैसे अनुयायी निरंजन की, मृत्यु के अधिष्ठाता वा कालपुरुष के रूप में चर्चा करने लगते हैं। निरंजनी लोगों की रचनाएँ या तो विस्तृत निबंधों अथवा लघुकाव्यों के रूप में पायी जाती हैं जो अभी तक अप्रकाशित हैं जहाँ सूफियों की अधिकतर प्रेमगाथाएँ ही मिलती हैं जिनमें कहीं कहीं अन्योक्तियाँ भी पायी जाती हैं।

मेरे विचार में मेरा यह प्रयास अपने ढंग का सबसे पहला है।

निर्गुण संप्रदाय के कवियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लेखकों ने लिखा है, किन्तु, किसी ने भी इन सभी पर एक संप्रदाय के रूप में सुव्यवस्थित ढंग से विचार नहीं किया है। निर्गुण संप्रदाय के उपदेशों का सुव्यवस्थित अध्ययन गभीर भारतीय संस्कृति के समझने में सहायक हो सकता है। हमारे सांस्कृतिक विकास की शृंखला की यह एक महत्वपूर्ण कड़ी है। परन्तु आज तक यह खो गई सी जान पड़ती रही और इसका अभाव इसके अतिम होने के कारण उतना खटकता न था। लोग साधारणतः यही समझते रहे कि इन अशिक्षित संतों के दार्शनिक विचार अस्पष्ट अपरिणमित क्रमरहित और असंबद्ध हैं। किन्तु यह स्थिति वास्तविक नहीं है। इसके विपरीत निर्गुण संप्रदाय एक ऐसी विचारधारा प्रस्तुत करता है जो सुसंगत है और उसके उपदेशों के आधार पर एक विशिष्ट पद्धति का निर्माण किया जा सकता है। मुझे विश्वास है कि मैंने इस बात को भली भांति स्पष्ट कर दिया है। फिर भी ऐसा दावा नहीं किया जाता कि इन संतों ने जान बूझ कर किसी सुव्यवस्थित पद्धति वा पद्धितयों की रचना की थी। क्योंकि ये दार्शनिक न होकर ऐसे आध्यात्मिक महापुरुष मात्र थे जिनकी अज्ञात विचारधारा ने इनके धार्मिक भावों के लिए एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी थी।

इनके द्वारा व्यक्त किया गया धार्मिक भाव सीधा सादा आडम्बर-हीन एवं व्यापक है। परंपरागत धर्मों की व्यर्थ बातों की उपेक्षा करते हुए इन्होंने वास्तविक धर्म के मूल तत्व को सुस्पष्ट कर दिया है जिसका सार कबीर के शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है। "परमात्मा के प्रति सच्चे रहो और दूसरों के साथ सीधा व्यवहार करो।"‡ इसी सारग्राहिता की भावना के कारण कबीर ने विभिन्न

‡—साँईं सेती साँच चलि, औरां सूँ सुध भाइ।
भावै लंबे केस करु, भावै घुरड़ि मुड़ाइ॥
कबीर ग्रंथावली (४६-११)।

धर्मों की उन बाह्य विडंबनाओं का विरोध किया था जो धर्म के वास्तविक अभिप्राय से नितांत दूर रहा करती हैं और उनकी ऐसी भावना के ही उपलक्ष्य में तुकाराम ने उनकी गणना उन 'चार' में की थी जो वस्तुतः अनुकरणीय हैं (चौवां ची तरिघरि सोमरे)‡ तथा पीपा एवं रैदास ने उन्हें क्रमशः नवखंड व त्रिलोक में विख्यात हुआ† बतलाया था। कितने खेद की बात है कि सारग्राहिता की उक्त भावना को न समझ पाने के कारण कुछ विद्वानों ने कबीर को एक प्रच्छन्न मुस्लिम प्रचारक के रूप में मान लिया है।

मेरी यह भी धारणा है कि निर्गुण संप्रदाय के अंतर्गत प्रायः उन सभी बातों का सुन्दर समावेश पाया जाता है जो भारतीय आध्यात्मिक विचारों में मूल्यवान् समझी जाती हैं। अपने सारग्राही स्वभाव के ही कारण इसने भारत की सभी आध्यात्मिक पद्धतियों के सारतत्व को अपना लिया है। भारत के विभिन्न आंदोलनों ने, समय-समय पर जाग्रत होकर, आध्यात्मिक संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी उसे प्रदान किया है वह, कबीर के आविर्भाव के पहले से ही, निर्गुण विचारधारा में सम्मिलित हो चुका था। अजपा जाप के साथ-साथ योगाभ्यास, तंत्रों से उधार ली गई उसकी रहस्यमयी शरीर-रचना प्रणाली, उसके द्वारा प्राण आदि का उपयोग, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, भक्ति की साधना-

‡—अन्य तीन में नामदेव, ज्ञानदेव तथा एकनाथ के नाम लिये जाते हैं (दे० रानाडे, 'मिस्टिसिज़्म इन महाराष्ट्र')।

—पृ० २६५।

†—तिहूँरे लोक परसिध कबीरा।

—'ग्रंथ०' पृ० ६६८।

नाँव नव खंड परसिध कबीरा॥

—'सर्वांगी' (पौड़ी हस्तलेख पृ० २-७२।)

पद्धति और तंत्रवाद में दीख पड़नेवाले उपासनात्मक भावों की इंद्रिय-स्पर्शिणी तीव्रता जिसमें विषयी जीवन के उस घृणास्पद अंश का अभाव रहा करता है जो तांत्रिक साधना का अभिशाप है, ये सभी यहाँ आकर एक सुसंगत व्यापक रूप में संश्लिष्ट हो गये हैं।

इस रचना के पाँचवें अध्याय में दिखलाया गया है कि दो भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक विचारधाराओं का यह सम्मिलन, एकांतिक धर्म एवं बौद्धधर्म से आरम्भ होकर, उनके अठारह शताब्दियों तक पृथक्-पृथक् विकसित होते रहने पर भी, अंत में क्रमशः वैष्णवधर्म एवं नाथमत में परिणत हो जाने पर, किस प्रकार संभव हो गया।

निर्गुणियों के शब्द संग्रह में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द आते हैं जो उक्त दोनों धाराओं के पारस्परिक मिलन के पूर्वकालीन पृथक्-विकास का स्मरण दिलाते हैं। 'हरि', 'नारायण', 'नारदी भक्ति' वे शब्द हैं जो एकांतिक धर्म की ओर से प्रवाहित होनेवाली धारा को सूचित करते हैं और, उसी प्रकार, 'शून्य', 'विज्ञान,' व 'निर्वाण' जैसे शब्द वे हैं जो बौद्ध धर्म की धारा की ओर संकेत करते हैं। पहली धारा की ओर से आनेवाले शब्दों के अर्थ में उतना घोर परिवर्तन नहीं हुआ है जितना कि दूसरी धारावाले शब्दों के संबंध में हो गया है। 'शून्य' एवं 'विज्ञान' शब्द, बौद्ध दर्शन के निश्चित संप्रदायों से सम्बन्ध रखते हैं। नागार्जुन का 'शून्य' उस 'शून्यमण्डल' में सुरक्षित है जो योग-पद्धति से होकर आता हुआ निर्गुण संप्रदायों के अंतर्गत 'ब्रह्मरंध्र' का द्योतक हो गया है।[1] इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि शून्य वहाँ पर ब्रह्म का वाचक है। किन्तु निर्गुणी लोग शून्य का वर्णन कभी-कभी परम

1—सुंनि मंडल में सोधिले, परम जोति परकास।
'कबीर ग्रंथावली', पृ० १२७, पद १२१।

तत्व के रूप में भी करते हैं।‡ परमतत्व को शून्य कहने में नागार्जुन का यह अभिप्राय था कि वह पूर्णतः सारहीन है और उसके लिए 'सत्' अथवा असत् शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। परन्तु शंकराचार्य का अनुसरण करके (जिन्होंने नागार्जुन के सूक्ष्म तर्कों का प्रयोग, औपनिषदिक उपदेशों के अंतिम लक्ष्य-स्वरूप अपने आत्मवाद के समर्थन में किया था) निर्गुणियों ने परमतत्व को सत् मान लिया। कुछ जीवित निर्गुणी जिनके साथ मैंने इस शब्द के विषय में चर्चा की है इसका, संबंध योगियों की उस निःसंज्ञता के साथ जोड़ते हैं जो उन्हें समाधि की दशा में स्थूल विषयों के प्रति हुआ करती है। राधास्वामी-साहित्य में शून्य एवं महाशून्य के प्रयोग उन रिक्त स्थानों के लिए किये गये हैं, जहाँ किसी का निवास नहीं है और जिनसे होकर प्रत्येक साधक को अपनी आध्यात्मिक यात्रा में अग्रसर होना पड़ता है।

इसी प्रकार आसंग का 'विज्ञान' शब्द भी शंकराचार्य के अद्वैतवाद से प्रभावित होता हुआ विवर्त का अर्थ देने लगा है। निर्वाण शब्द भी इसमें आकर अपने मूल बौद्ध भाव विनाश को नहीं व्यक्त करता, प्रत्युत मुक्ति का समानार्थक हो गया है।

यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि इसका कारण कुछ सीमा तक वैष्णव आंदोलन रहा होगा, किंतु इस बात को लोग अभी तक नहीं समझ पाये हैं कि इसका सीधा सम्बन्ध नाथपंथियों की योगपद्धति से भी था। बात यह है कि कबीरपंथी लोग गोरखनाथ आदि योगियों के प्रति विरोध का भाव प्रकट करते हैं और यह विरोध ईसा की सोलहवीं शताब्दी से भी पीछे का जान पड़ता है, जब कि गोरखनाथ के

---

‡—सहज सुंनि सब ठौर है; सब घट सबही माँहि।
तहाँ निरंजन रमि रह्या, कोउ गुण व्यापै नाहि॥
दादू बानी, भा० १, पृ० १२, सा० २६।

प्रति सम्मान प्रदर्शित करनेवाले दादू-पंथ एवं साधु-सम्प्रदाय की स्थापना हुई थी।‡ एक निबन्ध में जो काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के (दिसम्बर सन् १६३० वाले) अधिवेशन में पढ़ा गया था और जो पीछे से उसकी पत्रिका ('नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' भा० ११, सं० ४, माघ वि० सं० १६८७) में प्रकाशित हुआ था, मैंने पहले-पहल दिखलाया था कि इस प्रकार का सम्बन्ध इन दोनों के बीच अवश्य रहा होगा। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि इस सम्बन्ध के विषय में प्रकट की गई मेरी सम्मति के साथ हिंदी के विद्वान् व्यापक रूप से सहमत हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने उस सम्बन्ध को पूर्ण रूप से प्रतिपादित कर देने की चेष्टा की है।

परन्तु इस बात के कारण यह कदाचित् सरलतापूर्वक समझ लिया जा सकता है कि निर्गुणमत और विशेषकर कबीर की विचारधारा के निर्माण में स्वामी रामानन्द का हाथ कम रहा होगा और काल-गणना के कारण उपस्थित होनेवाली कठिनाई से लोग इस भ्रम में पड़ सकते हैं कि इस संप्रदाय के साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध न था। किंतु ऐसा मान लेना सत्य के नितांत प्रतिकूल जाना होगा, क्योंकि रामानन्द में ही आकर नाथमत एवं वैष्णव संप्रदाय का स्पष्ट सम्मिलन हुआ था।†

‡—सीस धर्यो कर बोध दियो गुर [दादू]
जो मन गोरख सेसा ॥
दादू-शिष्य माधोदास का 'सद्गुणसागर' (८-२३) देखिये प्रस्तुत पुस्तक का परिशिष्ट तीसरा।

†—इस बात के प्रमाण में रामानन्द रचित समझे जानेवाले और डाकोर से प्रकाशित हुए 'सिद्धांतपटल' का उद्धरण दिया जा सकता है जिसमें वैष्णवों के सालिग्राम की स्थापना त्रिकुटी में

। फिर भी रामानन्द का महत्व केवल इसी बात में नहीं है कि उन्होंने निर्गुणसंप्रदाय के किसी अंगविशेष को प्रभावित किया था, अपितु, उन्होंने तो निर्गुणसंप्रदाय को अपना रूप धारण करने की प्रेरणा देनेवाले संश्लिष्ट विकास के क्रम को ही पूर्णता प्रदान की थी।

निर्गुणसंप्रदाय ने कबीर के हाथ में पड़कर कुछ बातें इस्लामी आधारों से भी ग्रहण कीं किंतु, इस सम्बन्ध में इस्लाम की देन जितनी निषेधात्मक है उतनी विधेयात्मक नहीं। इस्लाम-द्वारा इसे हिंदू धारणाओं तथा परम्पराओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद के बहिष्कार का मूल इस्लाम धर्म में ही दीख पड़ेगा। फिर इस्लाम ने वर्त्तमान स्थिति के विरुद्ध सामाजिक असमानता के अन्याय को दूर करने के प्रयास में भी सहायता प्रदान की। सूफी मत ने विचारधारा से अधिक उसे व्यक्त करने की शैली में ही सहयोग दिया। केवल दाम्पत्य प्रेम के प्रतीकों के लिए ही निर्गुणी सूफियों के ऋणी कहे जा सकते हैं।

जान पड़ता है कि कबीर के अनन्तर मुस्लिम भावना ने और भी अधिक प्रभावित करना आरम्भ कर दिया और कबीरपंथ की धर्मदासी शाखा तथा वीरभान-द्वारा प्रवर्त्तित साधूसंप्रदाय में भी कबीर, मुहम्मद के अनुकरण में एक धर्मदूत जैसे माने-जाने लगे।

निर्गुणियों का प्रेमभाव सूफियों की देन नहीं, जैसा कि कुछ लोग समझ लेने के धोखे में पड़ सकते हैं। यह तो वही था जिसे रामानन्द के द्वादश शिष्यों ने अपने गुरु से पाया था जैसा कि रामानन्द

बतलायी गई है।—"शब्द स्वरूपी राघवानन्द जी ने श्री रामानन्द जी कूं सुनाया। भरे भण्डार काया बाड़े त्रिकुटी स्थान जहँ बसे श्री सालिग्राम।" अमर बीजमन्त्र ॥१७॥

के विषय में लिखी गई नाभा जी की कुछ पंक्तियों से भी प्रकट है। उस पद्य के अनुसार वे सभी लोग 'दशधा' भक्ति के 'आगर' थे।* भक्ति साधारण प्रकार से नवधा मानी जाती है, किंतु ऐकांतिक धर्म का जो रूप रामानन्द को उपलब्ध हुआ था उसके अनुसार प्रेमाभक्ति, भक्ति के अन्य सभी अंगों से श्रेष्ठ मानी जाती थी और वह इसी कारण दशधा कहलाती थी। ऐकांतिक धर्म के प्रचारक नारद के नाम से प्रचलित 'भक्तिसूत्र' में भक्ति की परिभाषा परमप्रेम रूपिणी (सात्वु-अस्मिन् परम प्रेमरूपा)† दी गई है। रामानन्द ने अपने शिष्यों को प्रेमाभक्ति ही दी थी और इसी में कबीर आदि निर्गुणी मग्न रहा करते थे। कबीर स्वयं उपदेश देते हैं कि "नारद द्वारा प्रवर्तित भक्ति में मग्न होकर भवसागर पार करो।"+

---

*—अनंतानन्द कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भवानन्द रैदास धना सेन सुरसरि की घरहरि॥
औरो शिष्य प्रशिष्य एकते एक उजागर।
विश्व मंगल आधार सर्वानन्द दशधा के आगर॥
बहुत काल वपु धारिकै प्रणत जनन को पार दियो।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो॥
भक्तमाल (लखनऊ) श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद-द्वारा संपादित, पृ० २८८ तथा पृ० २९०। उसी का प्राचीन बनारस संस्करण पृ० १११। श्री वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई सन् १९०५) वाले संस्करण के पृ० ६९ में पाँचवीं पंक्ति का उत्तरार्द्ध 'भक्ति दशधा के आगर' है।

†—सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा।

+—भगति नारदी मगन सरीरा।
इहि विधि भवतिरि कहै कबीरा॥ क० ग्रं०, (१९८-३२४)।

निर्गुणियों के 'सुरति' व 'निरति' शब्द अपरिचित जान पड़ते हुए भी आध्यात्मिक क्षेत्र में विदेशीय भावनाओं की ओर निर्देश नही करते और उन भावों को व्यक्त करते हैं जिनका मूल सम्बन्ध नारद से था। नारद ने उन्हें सनत्कुमार से सीखा था जो ब्रह्मा के विमल पुत्र थे। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के सातवें अध्याय में आया है कि सनत्कुमार नारद को किस प्रकार क्रमशः उनके हृदय में उच्च से उच्चतर ज्ञान की पिपासा बढ़ाते हुए आगे ले जाते हैं और जब वे इस प्रकार बहुत ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं तो उन्हें अपनी क्रमिक आध्यात्मिक पद्धति की शिक्षा देते हैं और धीरे-धीरे स्मृति (स्मर) आशा, आत्मा (प्राण) तथा सत्य से लेकर आनन्द (भूमा) तक पहुँचा देते हैं। सनत्कुमार ने जिन्हें स्मर, आशा एवं भूमा कहा है वे ही क्रमशः निर्गुणियों की सुरति, विरह व निरति हैं। स्मर के विषय में सनत्कुमार कहते हैं कि "जो कोई स्मर का ब्रह्मवत् ध्यान करता है वह स्मर की दूरी तक स्वतंत्र हो जाता है। और स्मर की उपलब्धि हो जाने पर उसके सारे बंधन ढीले पड़ जाते हैं।* यही लगभग कबीर भी सुरति के विषय में कहते हैं जिसकी व्युत्पत्ति मैंने स्मृति से की है। आशा की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि "आशा उन वस्तुओं की इच्छा को कहते हैं जो उपलब्ध नहीं रहती और वह तृष्णा व काम जैसे पर्यायों से भी निरूपित की जाती है तथा वह स्मर वा स्मृति से बढ़कर है क्योंकि अंतःकरण में स्थित हुई आशा से ही मनुष्य अपने स्मरणीय विषय को स्मरण करता है।"† विरह वस्तुतः आशा का ही एक सरस रूप है। भूमा को

---

*—स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपाते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति—छान्दोग्य (७-१३-२) स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः —वही, (७-२६-२)।

†—वही (७-१४-१) डा० गङ्गानाथ झा के अनुवाद से उद्धृत।

पृ० ३४१) में छपाया था] तथा नाभा जी के उन दो पद्यों-द्वारा जो उन्होंने रामानंद की प्रशंसा में लिखे थे, यह बात भली भांति सूचित हो जाती है कि निर्गुण संप्रदाय के मिर्माण में उनका कितना हाथ है। किंतु, मुझे इस बात को सूचित करते भी हर्ष होता है कि मैंने उनके दो छोटे-छोटे पद 'सर्वांगी' में पाये हैं और मुझे उनकी दो 'रामरक्षा' तथा 'योगचिंतामणि' नामक छोटी-छोटी रचनाएँ भी मिली हैं जिनसे इस सम्बन्ध में उनका महत्व पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत रचना का प्रधान अंश, गत पाँच वर्षों से मुद्रित रूप में पड़ा था और जहाँ-तहाँ साधारण संशोधन को छोड़ कर यह ठीक उसी आकार-प्रकार में प्रकाशित होने जा रहा है जिसमें वह काशी हिंदू विश्वविद्यालय में डी० लिट्० की उपाधि के निमित्त थीसिस के रूप में दिया गया था। उसमें सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन कबीर के परिचय का दुवारा लिखा जाना है जो रामानंद एवं कबीर के काल-विषयक मेरी सम्मति में परिवर्तन आ जाने के कारण आवश्यक हो गया था। मूल 'ग्रंथ सूची' को वर्तमान 'ग्रंथ-टिप्पणी' के रूप में विस्तृत कर दिया गया है और पुस्तक में उठाये गये जिन प्रश्नों के समाधान की आवश्यकता थी उन्हें 'विशेष बातें' (परिशिष्ट ३) के अंतर्गत दे दिया गया है।

अंत में मेरा यह कर्तव्य है कि मैं काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष अपने गुरु प्रो० श्यामसुन्दरदास को अपने कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद समर्पित करूँ जिन्होंने मेरा खोज के काम में पथ-प्रदर्शन किया है। मैंने कतिपय उन सुझावों से भी लाभ उठाया है जिन्हें डा० टी० ग्राहम बेली ने मुझे दिये थे और जिनके लिए मैं उन्हें अपना हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। मै उन सब सज्जनों को भी धन्यवाद देता हूँ जिनकी उदारता से ही मुझे कई महत्वपूर्ण हस्तलेखों को देखने का सुयोग संभव हो सका।

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

भूमिका

१—हिंदी-काव्य की 'निर्गुणधारा' व 'निर्गुण-संप्रदाय'

हिंदी-काव्य के इतिहास का पूर्व-रूप हमें पहले-पहल उन काव्य-संग्रहों में दीख पड़ता है जिन्हें समय-समय पर, कुछ व्यक्तियों ने, अपनी रुचि के अनुसार प्रस्तुत किया था और जिनमें, कवियों से अधिक उनकी कृतियों पर ही ध्यान दिया गया था। इसके अनन्तर कविताओं के साथ-साथ उनके रचयिताओं के संक्षिप्त परिचय भी दिये जाने लगे और उक्त प्रकार से संगृहीत रचनाएँ, क्रमशः केवल उदाहरणों का रूप ग्रहण करने लगी। ऐसे कवियों का नामोल्लेख, उस समय अधिकतर वर्णक्रमानुसार किया जाता था तथा उनके समय व स्थानादि का निर्देश कर दिया जाता था। उनकी कविताओं में उपलब्ध साम्य वा उनके वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। इन दूसरे प्रकार के विवरणों का देना, उस समय से आरम्भ हुआ, जब कुछ प्रतिनिधि कवियो के अनुसार काल-विभाजन की भी प्रथा चल निकली और प्रत्येक वर्ग की चर्चा उसके कालक्रमानुसार की जाने लगी। ऐसा करते समय उन कवियों की विशेषताएँ बतलायी जाने लगीं, उनकी पारस्परिक तुलना की जाने लगी और कभी-कभी उनकी रचनाओं का आलोचनात्मक परिचय भी दे दिया जाने लगा। इस प्रकार उक्त कोरे काव्य-संग्रहों का रूप क्रमशः काव्य के इतिहास में परिणत होने लगा और कवियों के साथ-साथ गद्यलेखकों की भी चर्चा आ जाने के कारण इस प्रकार की रचनाएँ पूरे हिंदी साहित्य का इतिहास बनकर प्रसिद्ध हो गईं।

परन्तु नामानुसार किया गया उक्त काल-विभाजन भी आगे चलकर उतना उपयुक्त नहीं समझा गया। कवियों एवं लेखकों की विभिन्न रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय अब उनके रचना-काल की परिस्थितियों पर भी कुछ अधिक विचार किया जाने लगा और तात्कालिक समाज के भीतर उनकी भावधारा तथा रचनाशैली की विशेषताओं के कारणों की भी खोज की जाने लगी। तदनुसार एक समान रचनाओं के किसी कालविशेष में ही उपलब्ध होने के कारण क्रमशः उनके रचनाकाल की प्रमुख विचारधाराओं का भी पता लगाना आवश्यक हो गया और इस प्रकार उक्त काल-विभाजन के आधार में भी आमूल परिवर्तन कर दिया गया। स्व० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' की रचना बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण के अनुसार सं० १९८६ में की थी और तब से वैसे अन्य इतिहासकार भी अधिकतर इसी नियम का पालन करते आये हैं। वे, प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर उनकी विभिन्न धाराओं के अंतर्गत भिन्न-भिन्न कवियों का वर्गीकरण करते रहे हैं और उनका वर्णन करते समय उनकी कृतियों की समीक्षा पर भी विशेष ध्यान देते आये हैं। फलतः हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के अंतर्गत 'निर्गुणधारा' एवं 'सगुणधारा' नाम की दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की कल्पना की गई है और 'निर्गुणधारा' को भी 'ज्ञानाश्रयी' तथा 'प्रेमाश्रयी' नामक दो शाखाओं में विभाजित कर, कबीर, नानक आदि कवियों का परिचय 'ज्ञानाश्रयी शाखा' के अंतर्गत किया जाने लगा है।

कबीर, नानक, रैदास, दादू जैसे संतों के नामों से लोग बहुत दिनों से परिचित थे और उनकी विविध बानियों का प्रचार भी अनेक वर्षों से बढ़ता ही चला जा रहा था। स्वयं उन संतों ने अपने पूर्ववर्ती संतों के नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिये थे और बहुधा उन्हें सफल साधकों व भक्तों की श्रेणी में गिनते हुए उनका स्मरण किया

था। इसी प्रकार भक्तमालों के रचयिताओं ने भी अपने पूर्वकालीन संतों के चमत्कारपूर्ण जीवन की झाँकियाँ दिखलाई थीं और कभी-कभी उनकी विशेषताओं की ओर लक्ष्य करते हुए, उनके महत्व का मूल्यांकन करने की भी चेष्टा की थी। परन्तु, इस प्रकार के वर्णन अधिकतर पौराणिक पद्धति का ही अनुसरण करते आये और इसी कारण इनमें उनके सर्वांगपूर्ण परिचय के उदाहरण नहीं पाये जाते। इसी प्रकार हम उन आलोचनात्मक परिचयों को भी एकांगी ही कह सकते हैं जो योरप तथा भारत के कतिपय विद्वानों-द्वारा विविध धर्मों के इतिहासों में दिये गये मिलते हैं और जिनमें इन संतों की सांप्रदायिक प्रवृत्ति और इनकी सुधार-पद्धति की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है। संतों की कृतियों का अध्ययन उनमें केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही करने का प्रयत्न किया गया है और इनके नामों के आधार पर निकले हुए पंथों का इतिहास भी बतलाया गया है। इस कारण ऐसी पुस्तकों में विशेषकर प्रचलित भेषों और उपासना-पद्धतियों का विस्तृत वर्णन ही पाया जाता है।

उपर्युक्त साहित्यिक अथवा सांप्रदायिक परिचयों में इन संतों का वर्णन सामूहिक रूप में किया गया नहीं दीख पड़ता। पहले प्रकार के ग्रंथों में इन्हें अन्य कवियों की ही भाँति पृथक्-पृथक् परिचित करा कर इनकी रचनाओं के कुछ विवरण दे दिये गये हैं और इसी प्रकार, उक्त धार्मिक इतिहासों में भी इन्हें निरा धार्मिक प्रचारक मानकर इनका वर्णन अलग-अलग कर दिया गया है। संतों को एक वर्ग-विशेष में गिनते हुए उनके सिद्धांतों तथा साधनाओं का सामूहिक परिचय देने अथवा उनकी कथनशैली व प्रचार-पद्धति पर भी पूर्ण प्रकाश डालने का काम उक्त दोनों में से किसी प्रकार की भी पुस्तकों में किया गया नहीं दीख पड़ता। वास्तव में इन संतों के विषय में सर्व साधारण की धारणा पहले यही रहती आई थी कि ये लोग केवल साधारण श्रेणी

के भक्तमात्र थे, इन्होंने अपने-अपने समय के धार्मिक आंदोलनों में भाग लेकर अपने-अपने नामों पर नवीन पंथ चलाने की चेष्टा की थी और अपनी विचित्र प्रकार के रहन-सहन एवं अटपटी बानियों के कारण इन्होंने अपने लिए बहुत से अनुयायी भी बना लिये थे। इनकी अन्य भक्तों से भिन्नता, इनके सिद्धांतों की एकरूपता, इनकी साधनाओं की विलक्षणता अथवा इनकी मुख्य देन के प्रति किसी ने विचार नहीं किया था।

संतों की इस परंपरा को एक सूत्र में ग्रथित करने तथा उनके मत का व्यापक रूप निश्चित करने में कई कठिनाइयाँ भी पड़ती थीं। केवल दो-एक को छोड़कर इनमें से अन्य संतों का कोई साधारण परिचय भी उपलब्ध नहीं था। इनकी बानियाँ या तो इनके अनुयायियों के पास हस्तलिखित रूप में सुरक्षित पायी जाती थीं अथवा विकृत होकर यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हुई मिल जाया करती थीं। इसके सिवाय इन संतों के नामों पर चलनेवाले विविध पंथों के रूप और प्रचार-पद्धति में भी महान् अन्तर आ गया था। जिस उद्देश्य को लेकर उनका सर्वप्रथम संघटन हुआ था उसे, काल पाकर, वे भूल से गये थे और अन्य प्रकार के प्रचलित संप्रदायों के अनुकरण में अधिक लग जाने के कारण, वे क्रमशः साधारण हिंदू समाज में ही विलीन होते जा रहे थे। इन पंथों के अनुयायियों ने, अपने मूल प्रवर्त्तकों को दैवी शक्तियों से सम्पन्न मानकर उनकी पौराणिक चरितावली भी बना डाली थी और उनके मौलिक सिद्धांतों के सच्चे अभिप्राय को समझने की प्रायः कुछ भी चेष्टा न करते हुए उनपर अपने काल्पनिक विचारों का आरोप कर दिया था। इस कारण उनका वास्तविक रूप जान लेना अथवा उनके महत्व का समुचित मूल्यांकन करना कोई सरल काम नहीं था।

उक्त बाधाओं के बने रहने के कारण इन संतों के सम्बन्ध में

अनेक विद्वानों की भी धारणा भ्रांतिपूर्ण हो गई थी। इनकी बानियों को ऐसे लोग अत्यन्त साधारण व नीरस पद्यों में गिना करते थे और इनमें उन्हें कोई संगीत वा नवीनता भी नहीं दीख पड़ती थी। संत लोग इनके समक्ष कतिपय निम्नश्रेणी की जातियों में उत्पन्न अशिक्षित व्यक्ति थे जिन्हें प्राचीन धर्मग्रंथों अथवा शास्त्रादि का कुछ भी ज्ञान नहीं था और जिन्हें इसी कारण, सच्चे मार्ग की पहचान तक नहीं हो सकती थी। ये उनके लिए सर्वसाधारण में घूम-फिर कर ऊटपटांग बातों का प्रचार करनेवाले निरे साधू वा फकीर-श्रेणी के लोग थे और इनके उपदेशों का कोई सुदृढ़ आधार वा उद्देश्य भी नहीं था। संतों की बानियों में बिखरे हुए विचारों की संगति वे, किसी पूर्वागत विचारधारा से, लगा पाने में प्रायः असमर्थ रहा करते थे और इस कारण, उन्हें इनमें कोई व्यवस्था नहीं दीख पड़ती थी और इनकी सारी बातें उन्हें किन्हीं अस्पष्ट व क्रमहीन बातों का संग्रहमात्र प्रतीत होती थी। अतएव, संतपरम्परा, संतसाहित्य वा संतमत की ओर उनका ध्यान पहले एक प्रकार की उपेक्षा का ही रहता चला आया था। इस दिशा में उनके ध्यान का सर्वप्रथम उस समय से आकृष्ट होना आरम्भ हुआ जब संतों की बानियों का यत्र-तत्र संग्रह किया जाने लगा और इस प्रकार के ग्रंथ कभी-कभी प्रकाशित भी होने लगे।

विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही वास्तव में संतों और उनकी कृतियों का क्रमशः प्रकाश में आना आरम्भ हुआ। उस के पहले डा० विल्सन के 'ए स्केच आव दि हिन्दू सेक्ट्स' ('A sketch of the Hindu sects') सं० १८८८ में उनके विषय में थोड़ा-बहुत लिखा जा चुका था, गार्सां द तासी ने अपने 'इस्त्वार द ला लितरेत्योर ऐंदुई ए इंदुस्तानी (सं० १८९६) में कुछ संतों व उनकी रचनाओं की चर्चा की थी और डा० ग्रियर्सन ने भी अपने "माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान" ('Modern Verna-

cular Literature of Hindustan') सं० १९४६ में उनका एक आलोचनात्मक परिचय दिया था जो अधिकतर 'शिवसिंह सरोज' पर आश्रित था। इन लेखकों ने अपने विचार बहुत कुछ अधूरी सामग्रियों के ही आधार पर निश्चित किये थ। उस समय तक न तो स्व० पं० चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी के "अगवंबू" या 'स्वामी दादू-दयाल की वाणी, (सं० १९६८) स्व० बा० बालेश्वरप्रसाद की 'संतबानी पुस्तक माला' (सं० १९६५) व स्व० डॉ० श्यामसुन्दरदास की 'कबीर ग्रंथावली' जैसे मूल साहित्य का प्रकाशन हो पाया था और न डाक्टर मेकॉलिफ के 'दि सिख रिलीजन' (The Sikh Religion) सं० १९६५ डॉ० रवींद्रनाथ ठाकुर की "वन हण्ड्रेड पोयम्स आव कबीर" (One Hundred Poems of Kabir) सं० १९८० डॉ० तारादत्त गैरोला के 'साम आफ दादू' (Salms of Dadu) (सं० १९८६) अथवा प्रो० तेजासिंह के "दि जपजी" (The Japji) जैसे सुन्दर अनुवाद ही निकल पाये थे जिनका अध्ययन कर कोई निर्णय किया जाता। रे० वेस्टकाट (सं० १९५४) डॉ० फर्कुहर (सं० १९७७) डॉ० भांडारकर (सं० १९८५) डा० कीथ (सं० १९८८) जैसे विद्वानों की धार्मिक इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ रे० प्रेमचन्द्र (सं० १९६८) व रे० अहमदशाह (सं० १९७२) द्वारा किये गये बीजक के अनुवाद तथा 'मिश्रबंधु' का 'विनोद' (सं० १९६७) पं० रामचंद्र शुक्ल (स० १९८६) व डा० सूर्यकांत शास्त्री (सं० १९८७) साहित्यिक इतिहास भी इसी काल में निर्मित व प्रकाशित हुए और प्रायः इसी समय से इस विषय पर अच्छे-अच्छे निबंध भी लिखे जाने लगे।

इस प्रकार डा० बड़थ्वाल के इस क्षेत्र में आने के पहले भिन्न-भिन्न संतों व उनके पंथों के अध्ययन का आरम्भ हो चुका था। उनकी कृतियों के प्रामाणिक संस्करण निकालने तथा उनके अनुवाद तक करने की

परंपरा चल निकली थी और उनमें क्रमशः परिगणित होते जानेवाले व्यक्तियों की जिज्ञासा उन्हें अधिक से अधिक जानने की ओर बढ़ती जा रही थी। फिर भी इन सभी संतों को एक वर्ग-विशेष में गिनते हुए उसके सामूहिक अध्ययन की ओर कोई भी प्रवृत्त नहीं हो रहा था। सर्वप्रथम डॉ० बड़थ्वाल ने ही इस कार्य को अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया और उपलब्ध संत-साहित्य का एक साथ अध्ययन कर, संतों के समूचे वर्ग या 'निर्गुण संप्रदाय' के विषय में अपने विचार प्रकट किये।

२. डा० बड़थ्वाल का जीवन-वृत्त

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल का जन्म सं० १९५८ के १७ वें मार्गशीर्ष को पाली नामक एक साधारण से ग्राम में हुआ था। यह ग्राम गढ़वाल प्रांत के प्रमुख केंद्र लैंसडाउन से तीन मील की दूरी पर हिमालय की घाटी में बसा हुआ है। इनके पिता का नाम पं० गौरीदत्त बड़थ्वाल था और वे एक उच्च कुलीन ब्राह्मण, विज्ञ ज्योतिषी तथा पौराणिक विद्वान् थे। बालक पीतांबर को इसी कारण सर्वप्रथम अमरकोश जैसे कुछ संस्कृत ग्रंथों को कंठस्थ करने की शिक्षा मिली थी और उसका अक्षरारंभ भी अपने घर पर ही कराया गया था। अपने जन्म-स्थान के निकट वर्तमान किसी पाठशाले में हिन्दी व संस्कृत की कुछ जानकारी प्राप्त कर लेने पर पीतांबरदत्त श्रीनगर (गढ़वाल) के गवर्नमेंट हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए किंतु वहाँ से भी हटकर उन्हें पीछे लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल में अपना नाम लिखाना पड़ा। इस स्कूल के हेडमास्टर उस समय प्रसिद्ध बाबू श्यामसुन्दरदास जी थे। जिनके हिंदी प्रेम व साहित्यनिष्ठा ने विद्यार्थी पीतांबरदत्त को बहुत अधिक प्रभावित किया और जिनके साथ बढ़ता हुआ इनका परिचय क्रमशः भावी साहित्यिक सहयोग में भी परिवर्तित हो गया। पीतांबरदत्त ने अपनी स्कूल लीविंग परीक्षा सं० १९७७ में पासकर

सं० १९७९ में कानपुर के डी० ए० वी० कालेज से, एफ्० ए०-कर लिया और आगे का भी अध्ययन चलाते रहने के उद्देश्य से काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में जाकर अपना नाम लिखाया।

परन्तु इसी बीच में इनका स्वास्थ्य बहुत कुछ बिगड़ गया और उसे सुधारने के प्रयत्न में, इन्हें, कुछ काल के लिए, अपनी पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। ये, लगभग दो वर्षों के लिए, काशी से अपने गांव पाली चले आये और वहीं रहकर प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग करने लगे। विद्यार्थी पीतांबरदत्त की प्रवृत्ति, श्रीनगर के स्कूल में विद्योपार्जन करते समय से ही कुछ लिखने-पढ़ने की ओर भी उन्मुख हो चुकी थी और कहा जाता है कि, वहां रहकर इन्होंने 'मनोरंजनी' नाम की किसी हस्तलिखित पत्रिका का संपादन भी किया था। उस समय ये वहां की साहित्यिक सभाओं में भी सक्रिय भाग लिया करते थे और, कानपुर आ जाने पर, इन्होंने वहां के 'हिलमैन' पत्र को संपादित किया था। तदनुसार इनका साहित्यिक कार्य, पाली गांव में रहते समय भी निरंतर चलता रहा और, अपने अध्ययन व अनुभवों के अनुसार, इन्होंने कुछ अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर, 'प्राणायामविज्ञान' और कला तथा 'ध्यान से आत्मचिकित्सा' नामक दो पुस्तकें लिख डालीं। अपने प्रांत के सार्वजनिक जीवन में जागृति लाने के उद्देश्य से इन्होंने 'गढ़वाल नवयुवक सम्मेलन' की स्थापना की और समय-समय पर सर्वसाधारण की सहायता के लिए भी प्रशंसनीय कार्य किये। उस समय ये वहां के स्थानीय पत्र 'पुरुषार्थ' में भी बहुधा लिखा करते थ और अपनी कविताओं को प्रकाशित करते समय अपना उपनाम 'अम्बर' अथवा 'व्योमचन्द्र' दिया करते थे।

घर पर उक्त प्रकार से स्वास्थ्य-सुधार कर लेने के अनन्तर ये फिर काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय चले आये और वहीं रहकर पढ़ने लगे। वहां से इन्होंने, बी० ए० की परीक्षा पासकर सं० १९८५ में एम्० ए०

तथा सं० १९८६ में एल्-एल्० बी० भी कर लिया। एम्० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम आये और इसके लिए जो इन्होंने एक विस्तृत निबन्ध 'छायावाद' शीर्षक से लिखा था वह बहुत विद्वत्तापूर्ण सिद्ध हुआ। बा० श्यामसुन्दरदास जी उससे इतने प्रभावित हुए कि उसके पुरस्कार में उन्होंने इन्हें अपने हिंदी-विभाग के अन्तर्गत शोध कार्य पर नियुक्त कर लिया। तबसे यह साहित्यिक खोज का कार्य भी बड़े मनोयोग के साथ करने लगे। फिर सं० १९८७ में इन्हें उसी विभाग में लेकचरर भी बना दिया गया। अध्यापक पीतांबरदत्त को अब, हिंदी-साहित्य के गम्भीर अध्ययन के साथ-साथ उसके विवेचन का भी सुयोग मिलने लगा और इनके विचारों में क्रमश: प्रौढता आने लगी। हिंदी-साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष ये कभी-कभी अपनी नवीन खोजों के आधार पर भी व्याख्यान दिया करते थे और इनकी नित्यप्रति बनती जानेवाली साहित्यिक धारणा क्रमशः निखरती चली जाती थी। इसी समय, इनकी खोज-सम्बन्धी लगन को देखकर, 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' ने भी इन्हें अपने खोज-विभाग का संचालक नियुक्त कर लिया। वहाँ पर इनके तत्वावधान में महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों का पता लगा और उनकी रिपोर्ट तैयार करते समय, इनके साहित्यिक ज्ञान के विस्तार में और भी सहायता मिली।

अपने उपर्युक्त शोध-कार्यों से प्रोत्साहन पाकर ही इन्होंने हिंदी-काव्य की 'निर्गुणधारा' पर एक थीसिस लिखने का विचार किया। यह कार्य एक ऐसे क्षेत्र में करना था जो उस समय तक भी बहुत कुछ उपेक्षा की ही दृष्टि से देखा जा रहा था और इस कारण, उसे हाथ में लेना एक प्रकार का नवीन प्रयत्न भी कहा जा सकता था। फिर भी इन्होंने उक्त विषय पर पूरे परिश्रम के साथ काम किया और अपनी सच्ची लगन व अध्यवसाय के कारण, इस कार्य में सफल भी हो गये। इनके द्वारा प्रस्तुत किये गये निबन्ध से इनके परीक्षक भी बहुत प्रभावित

अपने ग्रंथानुशीलन के फल स्वरूप, उन्होंने कई निबन्ध भी लिखे जो समय समय पर हिंदी के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। उनके बहुत से छोटे-बड़े लेख अभी हस्तलिखित रूप में ही पड़े हैं और कई पुस्तकें जिन्हें वे सम्पादित करना चाहते थे और पाठों के सुधार-प्रमादि को व्यवस्थित करके प्रकाशित करना चाहते थे, अभी ज्यों की त्यों रखी हुई हैं। उनकी सभी प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाओं पर विचार करके देखा जाय तो, विदित होता है कि उनका विशेष ध्यान हिंदी-साहित्य के उस अंश की ओर ही रहा, जो उसके इतिहास में नाथों की सबदियो एवं संतों की बानियों के नाम से प्रसिद्ध है और इन दो के क्षेत्रों में उन्होंने अपना कार्य बड़ी लगन के साथ किया था। इन विषयो पर लिखे गये उनके निबन्धों का एक संग्रह डा० सम्पूर्णा-नन्द जी द्वारा सम्पादित होकर 'ज्ञान मण्डल कार्यालय काशी' से, 'योग प्रवाह' के नाम से, सं० २००३ में निकल चुका है और शेष में से कुछ और भी यथाशीघ्र उनके प्रिय शिष्य लखनऊ विश्व-विद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक डा० भगीरथ मिश्र के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित होने जा रहे हैं। उनके अन्य विषयो से सम्बन्ध रखनेवाले लेखों में से कुछ तुलसी-दास, केशवदास, भूषण, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास आदि पर लिखे गये हैं, कुछ में हिंदी-भाषा-सम्बन्धी कई प्रश्नो पर व्यक्त किये गये उनके विचार दीख पड़ते हैं और शेष का सम्बन्ध अधिकतर भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक विषयों के साथ जान पड़ता है। उनकी प्रकाशित हिंदी पुस्तकों में, प्राकृतिक चिकित्सा विषयक दो रचनाओं के अतिरिक्त,' रूपक रहस्य' 'गोस्वामी तुलसीदास' 'गोरखवानी' 'रामचद्रिका' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। उनकी सबसे प्रसिद्ध प्रकाशित कृति 'दि निर्गुण स्कूल आफ् हिंदी पोएट्री' है जो उनकी थीसिस के रूप में, पहले अंग्रेजी भाषा में लिखी गई थी।

डा० बड़थ्वाल जो कुछ भी लिखते थे उसे गम्भीरतापूर्वक और

पूरी सावधानी के साथ लिखा करते थे, उनके बड़े से बड़े ग्रंथों से लेकर छोटे से छोटे निबन्धों तक की रचना के पीछे उनके गहरे अध्ययन व अनुशीलन की छाप लगी हुई है। वे किसी भी विषय पर सदा स्वतन्त्र रूप से विचार करने की चेष्टा करते थे, उस पर नया प्रकाश डालना अपना लक्ष्य बना लेते थे और, उसे लेकर लिखते समय अपने वाक्यों में युक्तियों के साथ-साथ रोचकता व सजीवता भी भर देते थे। कहते हैं कि अपने लेखों की अनेक पंक्तियों को उन्होंने, प्रकाशित करने के पूर्व, 'बीस-तीस-तीस-तीस' बार तक सुधारा होगा। उनका 'सुरति-निरति' नामक निबन्ध जो उपर्युक्त 'योगप्रवाह' पुस्तक के केवल ग्यारह पृष्ठों में ही छपा है "उनके ग्यारह वर्षों के परिश्रम का फल है"। किसी विषय की धारणा बना लेना, उसे सर्वप्रथम थोड़े में ही व्यक्त करना और पीछे उसे समुचित विस्तार देकर, सुव्यवस्थित रूप देना उनकी प्रमुख विशेषता के अंग थे। वे एक शुद्ध साहित्यिक जीव थे और उनकी अन्तःप्रेरणा, उनकी सच्ची लगन का उपयोग सदा स्थायी कार्यों में ही किया करती थी। उन्हें अपने पांडित्य का अभिमान न था फिर भी उनकी कृतियों में उनके आत्म-विश्वास, दृढ़ता एवं निर्भयता के उदाहरण सर्वत्र लक्षित होते हैं। साहित्य-सेवा ने उनके लिए एक पूरे व्यसन का रूप धारण कर लिया था और उनकी एकांत-निष्ठा व अनवरत परिश्रम, उनकी मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों में क्रमशः विकार एवं ह्रास उत्पन्न करते हुए, उन्हें असामयिक मृत्यु की ओर बरबस खींच ले गये।

३. दि निर्गुण स्कूल आफ हिंदी पोइट्री

डा० बड़थ्वाल ने हिंदी के संतकवियों की बानियों का अध्ययन कर उनकी बाह्य विभिन्नताओं में समन्वय व समानता के आधार ढूंढ निकालने के प्रयत्न किये। उन्होंने इनके उपदेशों की दार्शनिक पृष्ठ-

को प्रकाश में लाकर उन्हें एक दूसरे के प्रति सहृदयता प्रदर्शित करने का मार्ग सुझाया। उनके प्रयत्नों द्वारा पारमार्थिक साधना एवं सामाजिक व्यवहार के क्षेत्रों में भी पूर्ण ऐक्य और समानता की लहर उमड़ चली और संतों के विशिष्ट वर्ग की एक पृथक् परंपरा ही चल निकली जिसे 'निर्गुण संप्रदाय' कहा करते हैं।

२—डा० बड़थ्वाल ने निबंध के दूसरे अध्याय में इन निर्गुणी संतों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। उन्होंने सर्वप्रथम इनके एकेश्वरवाद की व्याख्या की है और बतलाया है कि वह किस प्रकार हिंदूधर्म एवं इस्लाम दोनों में समन्वय स्थापित करनेवाले उस एक व्यापक तत्व का प्रतिपादन करता है जो इस विश्व का कर्त्ता, नियंता तथा शासक भी है। इसी प्रकार उस तत्व की पूर्णता को भी उन्होंने स्पष्ट किया है और बतलाया है कि किस प्रकार वह संतों के अनुसार विश्व के भीतर सर्वव्यापक होता हुआ भी सर्वातीत है जिस कारण उसे निरपेक्ष कहना ही अधिक समीचीन होगा। संतों ने उस तत्व को निर्गुण एवं सगुण इन दोनों से परे की वस्तु माना है और उसे 'चौथा पद' 'अलख' 'अनामी' अथवा 'सत्त' जैसे शब्दों द्वारा अभिहित किया है। संतों के आत्मा-परमात्मा एवं जड़पदार्थ-सम्बन्धी विचारों का निरूपण करते समय इसी प्रकार डॉ० बड़थ्वाल ने उनका तीन प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसार वर्गीकरण किया है और कबीर, दादू, भीखा, मलूक आदि को अद्वैती, नानक को भेदाभेदी तथा शिवदयाल, प्राणनाथ आदि को विशिष्टाद्वैती ठहराया है। प्रथम के अनुसार परमात्मा व जीवात्मा पूर्णतः एक हैं दूसरे के अनुसार दोनों में एक प्रकार से बड़े व छोटे का अंतर है, और तीसरे के अनुसार दोनों में अंश व अंशी का सम्बन्ध है। डा० बड़थ्वाल ने इसके साथ ही यह भी दिखलाया है कि संतों की विचारधारा किस प्रकार प्राचीन औपनिषदिक सिद्धान्तों से मेल खाती है। उनके विचार में ये संत

सहज-साधना के समर्थक थे और मूर्ति पूजा अवतारवाद आदि में विश्वास न रखते हुए, मर्मियों की प्रेम-पद्धति का अनुसरण करते थे ।

३—इसी प्रकार इसके तीसरे अध्याय में इन संतों की साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्पष्टीकरण की चेष्टा की गई है । इसके अंतर्गत इनके उस प्रत्यावर्तन की साधना का वर्णन किया गया है जो आत्मा को उसके अपने मूल स्रोत की ओर पुनः लौटने में सहायता प्रदान करती है । उस मध्यममार्ग का निर्देश किया गया है जिसे संत लोग निवृत्ति एवं प्रवृत्ति मार्गों के बीच का मान कर उसका अनुसरण करते हैं और फिर उस आध्यात्मिक वातावरण की भी चर्चा की गई है जिसके अभाव में रहकर उक्त प्रकार की साधनाओं में सफलता प्राप्त की जा सकती है । वातावरण के अंगों में सबसे अधिक प्रधानता सत्संग को दी जाती है और उसके लिए भी सच्चे संत वा साधु ही अपेक्षित हैं । डा० बड़थ्वाल ने इसके अनन्तर उस सतगुरु की भी व्याख्या की है जो उक्त आध्यात्मिक साधना के लिए सबसे आवश्यक हुआ करता है और तत्पश्चात् उसके द्वारा बतलाये गये नामस्मरण की साधना के महत्व की ओर संकेत करते हुए उसे भक्तियोग का ही एक अंग स्वीकार किया है । संतों की सर्वप्रधान साधना शब्दयोग व 'सुरति शब्दयोग' का वर्णन फिर पूरे विवरण के साथ करने का प्रयत्न किया गया है और इसके अनन्तर उन दो प्रकार के लक्ष्यों की भी चर्चा कर दी गई है जिन्हें संत लोग अपनी सारी चेष्टाओं का अंतिम उद्देश्य माना करते हैं । डा० बड़थ्वाल ने इस अध्याय के अंत में यह भी बतला दिया है कि संतों को उक्त आध्यात्मिक साधना के कारण समाज की उपेक्षा नहीं हुआ करती, प्रत्युत उसमें उसके कल्याण का भी ध्येय सदा बना रहता है । पुस्तक का यह अध्याय सबमें बड़ा है और इसमें भी शब्दयोग वाला अंश अधिक विस्तृत व महत्वपूर्ण है ।

४—पुस्तक के चौथे अध्याय में डा० बड़थ्वाल ने कुछ ऐसे

आवश्यक प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा की है जो संतों वा उनके मत के सम्बन्ध में चर्चा करते समय बहुधा आपसे आप उठ जाया करते हैं। सबसे पहला प्रश्न इस विषय का है कि क्या ये संत लोग केवल सारग्राही मात्र ही थे और क्या इनमें कोई अपनी विशेषता नहीं थी ? इस प्रश्न का उत्तर लेखक ने यह कह कर दिया है कि इन संतों ने अपने समय में वर्तमान सामग्रियों का उपयोग अपने निजी सिद्धान्तों के समर्थनमात्र के लिए ही किया था और इसके कारण इनकी महत्ता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। फिर एक दूसरे प्रश्न अर्थात् क्या इन संतों का वर्ग वास्तव में सांप्रदायिक है ? का उत्तर इस बात को स्पष्ट करते हुए दिया है कि सांप्रदायिक बातें केवल इनके बाह्य कृत्यों में ही पायी जाती हैं और और वे अधिकतर उन अनेक प्रचलित संप्रदायों के कारण घुस आई हैं जिनके वातावरण में संतमत के अनुयायियों को अपना प्रचार करना पड़ता रहा। संत-संप्रदायों के मूल प्रवर्त्तकों का प्रधान उद्देश्य कभी बाह्य साधनाओं को अधिक महत्व देने का नहीं था और जो-जो बातें उनके मूल विचारों के विरुद्ध जाती हैं वे केवल गौणमात्र हैं। उनका न तो कोई वास्तविक महत्व है और न उनके द्वारा हम संतों के मत का उचित मूल्यांकन ही कर सकते हैं।

५—इसके पाँचवें अध्याय में डा० बड़थ्वाल ने संतों की रचनाओं के स्वरूप उनकी कथन-शैली एवं भाषादि के विषय में लिखा है। उनका कहना है कि संतों ने अपने भावों को व्यक्त करते समय इस बात की विशेष परवा नहीं की है कि वे किस प्रकार प्रकट किये जा रहे हैं। इन्होंने न तो हिंदी के प्रचलित व्याकरण के नियमों का पालन करने की चेष्टा की और न उसके छंदों अथवा अलंकारादि की उपयुक्तता की ही ओर विशेष ध्यान दिया। अपनी बातों को स्पष्ट करते समय वा उपदेश देते समय जिन पद्यों का इन्होंने सबसे अधिक प्रयोग

किया है उन्हें 'बानी' व 'साखी' कहते हैं जो क्रमशः पदों व दोहों के ही पर्यायवाची शब्द हैं। अपने गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति इन्होंने अधिकतर उन प्रतीकों के सहारे की है जो साधारण जीवन के क्षेत्रों से चुने गये हैं। परन्तु इसके लिए इनके काम में सबसे अधिक आनेवाले वे रूपक हैं जो दाम्पत्य-भाव को प्रकट करते हैं और जिनके प्रयोग वे जीवात्मा व परमात्मा के सम्बन्ध में करते हैं। इनके ये प्रयोग उच्चकोटि की प्रेमभावनाओं के द्योतक हैं और इनमें लक्षित होनेवाले विरह के भावों में संतों के सच्चे व शुद्ध हृदय का परिचय मिलता है। संतों की रचनाओं की एक विशेषता उनकी उलटबाँसियों में भी पायी जाती है जो उनके कथन को आकर्षक बनाकर हमें उन पर विचार करने को विवश कर देती है।

६—पुस्तक के अंतिम अध्याय में लेखक ने इन संतों का कुछ परिचय देने का भी प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम उसने उनकी ओर संकेत किया है जो इनके पथ-प्रदर्शक थे और जिनमें से कुछ के नाम इन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ लिये हैं। तदनंतर कबीर, नानक, दादू, प्राणनाथ, बाबालाल, मलूकदास, दीनदरवेश, यारीसाहब, जगजीवन-दास, पलटू, धरनीदास, दरियासाहब, बुल्लेशाह, चरणदास, शिवनारायण तुलसी साहब एवं शिवदयाल साहिब के संक्षिप्त परिचय देते हुए उसमें उनकी रचनाओं एवं पंथादि की भी चर्चा की गई है। इन संतों के परिचय स्वभावतः संक्षिप्त हैं और उसकी कई एक कमियों की पूर्ति डा० बड़थ्वाल ने पुस्तक के अंत में दी गई विशेष टिप्पणियों-द्वारा करने की चेष्टा की है। अंत के तीन परिशिष्टों में से पहले में कतिपय गूढ़ार्थवाची शब्दों की एक तालिका दे दी गई है और दूसरे में उस साहित्य की भी एक आलोचनात्मक चर्चा की गई है जिससे लेखक ने अपना निबंध प्रस्तुत करते समय सहायता ली थी। तीसरे में, मूल पुस्तक में आई हुई कुछ बातों और तथ्यों पर विशेष टिप्पणियाँ हैं।

४. निबंध विषयक विशेष बातें

डा० बड़थ्वाल के निबंध के शीर्षक 'दि निर्गुण स्कूल आफ़ हिंदी पोएट्री' अर्थात् 'हिंदी काव्य का निर्गुण संप्रदाय' मे स्पष्ट है कि वे संतों के उस संप्रदाय का परिचय देने जा रहे हैं जिसमें गिने गये लोगों की रचनाएँ, हिंदी कविताओं में सम्मिलित की जाती हैं। तदनुसार, इन संतों पर विचार करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम इनके साहित्यिक परिचय की ही ओर आकृष्ट होता है। कविताएँ या तो भावप्रधान या विषय-प्रधान होती है। अथवा भाषाप्रधान कहलाती है जिनमें रचनाशैली वा काव्यकला की ओर विशेष ध्यान दिया गया रहता है। हिंदी साहित्य के इतिहास में हमें इन दोनों प्रकार की कविताओं के उदाहरण यथेष्ट रूप में मिलते हैं। रीति-काल की प्राय: सभी कविताएँ उक्त 'भाषा प्रधान' की कोटि में आती हैं और भक्तिकाल के संतों की कविताएँ उक्त दोनों ही कोटियों में रखी जा सकती हैं। डा० बड़थ्वाल ने अपने निबंध में इसी कारण संतों के भाव अथवा विषय को ही प्रधानता दी है और उनकी भाषा को गौण स्थान प्रदान किया है। उन्होंने इन सतों-द्वारा रची गयी कविताओं को वस्तुतः कविता की कोटि में न मानकर उन्हें इनकी भावाभिव्यक्ति का एक साधन-मात्र माना है। उनके निबध का एक बहुत बड़ा अंश (दो तिहाई से भी कहीं अधिक) इन संतों के सिद्धांतों, साधनाओं तथा विशेषताओं की ही चर्चा में लग गया है। उसके छ: में से केवल एक अध्याय के ही अंतर्गत, इनकी भाषा वा रचना-शैलियों का वर्णन है और, अंत में, परिशिष्ट के भीतर इनके कतिपय ग्रंथों की एक परिचयात्मक सूची भर दे दी गई है। निबंध के शेष भाग में या तो संतमत के उदय-काल की परिस्थितियों का दिग्दर्शन है अथवा इनका थोड़ा-बहुत परिचय दिया गया है।

"हिंदी-काव्य का निर्गुण संप्रदाय" प्रस्तुत निबन्ध का विशेष उपयुक्त शीर्षक नहीं है और इस पर डॉ० बड़थ्वाल ने निबन्ध की

'प्रस्तावना' में विचार भी किया है। हिंदी काव्य, या वस्तुतः किसी अन्य भाषा के काव्य के क्षेत्र में भी किसी ऐसे संप्रदाय की चर्चा करना जो साहित्यिक न हो उपयुक्त नहीं जान पड़ता। वैसी दशा में 'हिंदी काव्य की निर्गुण धारा' संभवतः कुछ अधिक उचित शीर्षक होता,÷ किंतु उसमें भी अधिकतर साहित्यिक बातों का ही समावेश हो पाता और 'निर्गुणमत' की विभिन्न साधनाओं और सिद्धांतों का विस्तृत विवरण देने के लिए उसमें पर्याप्त स्थान नहीं मिल पाता, जो डा० बड़थ्वाल को अभीष्ट था और जिसके लिए ही उन्होंने प्रस्तुत निबन्ध की रचना की थी। निबंध के कुछ अंशों का हिंदी में स्वयं अनुवाद करते समय उन्होंने, इसी कारण, उसके शीर्षक 'हिंदी काव्य का निर्गुण संप्रदाय' को 'हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' के रूप में परिणत कर दिया है। फिर भी उन्होंने निबंध के अंतर्गत एक अध्याय इन संतों की रचनाशैली के सम्बन्ध में भी दे दिया है और उसका नामकरण 'एक्सपीरियंस एक्स्प्रेस्ड' अर्थात् 'अनुभूति की अभिव्यक्ति' के रूप में किया है जो, उनके दृष्टिकोण से, पूर्णतः उचित था। डा० बड़थ्वाल ने अपने निबंध के इस अंश में संतों की सत्यानुभूति तथा उसके व्यक्तीकरण की कठिनाइयों से आरंभ किया है। इस प्रकार का व्यक्तीकरण ही, वास्तव में, उस रहस्यवाद का भी आधार है जिसके उदाहरण इन संतकवियों की रचनाओं में प्रायः सब कहीं मिलते हैं। अतएव इस स्थल पर यदि निर्गुण संप्रदाय के लोगों की रहस्यानुभूति की एक

÷ पुस्तक के कुछ भाग के छप जाने पर प्राप्त हुई, डा० बड़थ्वाल के हिंदी अनुवाद की, उनके द्वारा संशोधित एक प्रति में, इसका नाम 'हिंदी काव्य की निर्गुण धारा' ही दिया गया है उनके इस संशोधन को हम अगले संस्करण में ही अपना सकेंगे।

'संपादक'

विस्तृत आलोचना भी कर दी गई होती तो बहुत अच्छा ही गया होता। इन संत-कवियो के रहस्यवाद का स्वरूप और हिंदी के अन्य ऐसे कवियों की तुलनायें, उसकी विशेषता का निरूपण यहाँ अपेक्षित रहा। संतों की रचनाओं में प्रयुक्त छंदों और उनके संबंध में की गई उनकी भूलों के विवरण देने की यहाँ उतनी आवश्यकता नहीं थी। डा० बड़थ्वाल ने इसके तथा उनकी व्याकरण-संबंधी त्रुटियों के विषय में इसी कारण, बहुत विस्तार नहीं किया है। उल्टवाँसियों की चर्चा भी उन्होंने बहुत कम की है।

डा० बड़थ्वाल के निबंध लिखने का सर्वप्रधान उद्देश्य इन संतों का साम्प्रदायिक परिचय देना ही प्रतीत होता है। उन्होंने 'संत' शब्द एवं निर्गुण शब्द की व्युत्पत्तियों पर पहले ध्यान दिया है और कहा है कि ये दोनों ही समानार्थक बनकर प्रचलित है। फिर भी उन्होंने पहले का परित्याग कर दूसरे को ही अपनाया है और ऐसा करने का कारण उन्होंने अधिक उपयुक्त शब्द का अभाव ही बतलाया है। डा० बड़थ्वाल ने 'निर्गुण' शब्द-संबधी इस प्रकार के प्रयोगों के उदाहरण, कबीर गुलाल व किसी कबीरपंथी की एकाध रचनाओं के उद्धरण देकर उनमें ढूँढने के प्रयत्न किये है। किंतु इन रचनाओं में से "संतन जात न पूछो निर्गुनिया" का कबीरकृत होना संदेहरहित नही कहा जा सकता और 'हम निर्गुण तुम सरगुण जाना' में व्यक्त होनेवाला कबीर का कथन भी वस्तुतः सगुणवादियों से अपनी भिन्नता सिद्ध करने के लिए ही किया गया कहा जा सकता है। हाँ गुलाल साहब की पंक्ति 'निर्गुणमत सोई वेद को अंता' तथा 'निरगुनपंथ चलाये' में प्रकट होनेवाली किसी कबीरपंथी की उक्ति अवश्य विचारणीय है।

बात यह है कि संतमत का प्रादुर्भाव उस समय हुआ था जब सगुणवादियों की साकारोपासना प्रचलित थी और उसे निःसार वा कम से कम निम्न कोटि की पद्धति सिद्ध करने के लिए कबीर जैसे संतों को भी अपनी विशेषताएँ सर्व साधारण के सामने

प्रदर्शित करनी पड़ी थीं। इस कारण यद्यपि उनके भक्तिभाव का लक्ष्य निर्गुण एवं सगुण दोनों से परे का परमतत्त्व था फिर भी, सगुण-वादी पक्ष के विरोध में वे 'निर्गुण' शब्द का प्रयोग करना कदाचित्, अधिक उपयुक्त समझते रहे और इस बात में उनका अनुकरण बहुत पीछे तक होता चला आया। परंतु जब संत-संप्रदाय का एक विशेष वर्ग क्रमशः प्रतिष्ठित हो गया तब उक्त विरोधसूचक शब्द की वैसी उपयोगिता नहीं रह गयी और हम देखते हैं कि विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अनंतर और विशेषकर संत तुलसी साहब के समय से, उसके स्थान पर 'संत' शब्द का ही प्रयोग अधिकाधिक होने लगा। तब से कबीर आदि को भी साधारण प्रकार के भक्तों वा महात्माओं से भिन्न एक संत-संप्रदाय के अंतर्गत माना जाने लगा। उनके इस नामकरण का कारण एक यह भी हो सकता है कि उनकी विचारधारा एवं दक्षिण के संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव प्रभृति मराठी कवियों की विचारधारा में बहुत साम्य था और संभवतः, इस प्रकार की सूझ ने भी उक्त शब्द के प्रयोग में अधिक सहायता पहुँचाई। जो हो, 'संत' 'संतमत' 'संतपरंपरा' 'संत-साहित्य' जैसे शब्दों ने अब क्रमशः 'निर्गुनिया' 'निर्गुणमत' 'निर्गुणपंथ' वा 'निर्गुण संप्रदाय' एवं 'निर्गुणधारा का साहित्य' के स्थान ले लिये हैं, इस कारण इसके प्रयोगों की सार्थकता अब आरंभिक काल की भाँति नहीं समझी जा सकती।

डा० बड़थ्वाल ने निर्गुण संप्रदाय अथवा संतों के उपर्युक्त वर्ग के अंतर्गत उन लोगों की ही गणना की है जिनके सिद्धांत व साधना-पद्धतियाँ एक विशेष प्रकार की रहीं और जिन्होंने हिंदी भाषा को अपना माध्यम बनाते हुए, उसकी कविता में एक विशेष शैली का प्रयोग भी किया। तदनुसार, उन्होंने कबीर से लेकर शिवदयाल तक के समय अर्थात् लगभग पाँच सौ वर्षों के भीतर उत्पन्न हुए प्रमुख संतों और उनके पंथों के विषय में विचार किया है। भिन्न-भिन्न समय तथा परिस्थितियों में रहते हुए

भी इन संतों ने आत्मा, परमात्मा एवं जगत्-संबंधी गूढ़ प्रश्नों को एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण से सुलझाने की चेष्टा की, परमात्मतत्व के स्वरूप के विषय में अपनी विशिष्ट धारणाएँ निश्चित कीं और उसकी उपलब्धि के निमित्त विशेष साधनाएं भी स्थिर कीं। डा० बड़थ्वाल ने उक्त सभी बातों की दृष्टि से इनमें कुछ न कुछ साम्य आधार पाकर इनको 'निर्गुण संप्रदाय' के वर्ग में सम्मिलित कर लिया है और अपने निबंध के अंतर्गत उन्होंने अधिकतर उन्हीं बातों का विवेचन किया है जो प्रायः सभी में पायी जाती है तथा जिनके विषय में इनमें कम से कम मतभेद प्रतीत होता है। इन संत कवियों की अटपटी बानियों में उन्होंने एक दार्शनिक व नैतिक प्रणाली का क्रम भी ढूंढ निकाला है और इन्हें एक पृथक् समुदाय के रूप में मानते हुए इनके मत विशेष की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है उन्होंने इसी प्रकार संतों की आध्यात्मिक साधना का परंपरागत सम्बन्ध नाथपंथ की योगसाधना के साथ स्थापित किया है और इन दोनों के बीच की लड़ी निरंजनी संप्रदाय को माना है।

संतों के आत्मा, परमात्मा एवं जड़ पदार्थ-सम्बन्धी मत का विवेचन करते समय डा० बड़थ्वाल ने उनमें कम से कम तीन प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं के उदाहरण पाये हैं और उन्हें परंपरागत वेदांतीय नामानुसार अद्वैत, भेदाभेद व विशिष्टाद्वैत कहा है। इस वर्गीकरण के आधार पर उन्होंने कबीर, दादू, सुन्दरदास, जगजीवनदास, भीखा व मलूक के नाम प्रथम वर्ग में, नानक व उनके अनुयायियों के नाम दूसरे वर्ग में और शिवदयाल तथा उनके अनुयायियों के नाम तीसरे वर्ग के भीतर गिनाये हैं और प्राणनाथ, दरियाद्वय, दीनदरवेश, बुल्लेशाह इत्यादि को भी इस तीसरी कोटि में ही रखा है। परन्तु आगे चलकर उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि इन अद्वैतवादियों में सर्वप्रथम होते हुए भी कम से कम कबीर ने इन सभी दृष्टियों से विचार किया

है। इसके सिवाय उनका यह भी कहना है कि जीवात्मा एवं परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दादू का भी मत बहुत स्पष्ट नहीं है। हाँ, बाबालाल, प्राणनाथ, धरणीदास एवं शिवदयाल के मतों में उन्होंने विशिष्टाद्वैतमत का प्रभाव प्रत्यक्ष निर्दिष्ट किया है जो इनकी अनेक पंक्तियों-द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है और जिस पर आपत्ति करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फिर भी इतना स्पष्ट है कि ये संत तर्कपटु दार्शनिक होने के पहले स्वतंत्र साधक थे और इन्हें किसी भी वाद से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी न था। सुन्दरदास जैसे कुछ संतों ने प्रचलित दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन अवश्य किया था, बाबालाल, प्राणनाथ, यारी, दीनदरवेश व बुल्लेशाह पर सूफी विचारधारा का प्रभाव था और धरणीदास व चरणदास जैसे कुछ संत विशिष्टाद्वैत व शुद्धाद्वैत की परंपराओं से प्रभावित थे। परन्तु जहाँ तक उनका सम्बन्ध संतमत की मौलिक बातों के साथ था, वे पूर्ण स्वतन्त्र थे और उस दृष्टि से वे किसी वाद के अंतर्गत नहीं लाये जा सकते। इन संतों के विषय में इस प्रकार का अनुमान करने का कारण केवल यही जान पड़ता है कि इन्होंने अपने मत का प्रतिपादन करते समय, किन्हीं अपने पारिभाषिक शब्दों की रचना बहुत कम की है और इस कारण उनके द्वारा प्रयुक्त किये गये औपनिषदिक शब्दसमूह अथवा नाथों, सूफियों, भागवतों आदि के सांप्रदायिक शब्द इस विषय में बहुधा भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। यद्यपि सभी ने अपने समय के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते समय किसी प्रकार की सावधानी से काम नहीं लिया है फिर भी उनकी विचारधारा पूर्ववर्ती दार्शनिक सिद्धान्तों एवं भक्ति-पद्धतियों में, जिसके साथ अधिक मेल खाती है उस सिद्धान्त और पद्धति का निर्देश कर देना आवश्यक ही था। और इस दृष्टि से डॉ० बड़थ्वाल के ये निर्देश आगे आनेवाले विशिष्ट अध्ययनों के लिए बड़े ही महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख संतों तथा उनके नाम पर प्रचलित होनेवाले पंथों की

विचारधाराओं में, डा० बड़थ्वाल, कोई विशेष अन्तर मानते हुए नहीं दीख पड़ते और कभी-कभी तो इसके विपरीत एक ही सम्प्रदाय के अनुयायी विभिन्न संतों को उसके प्रवर्त्तक की मौलिक विचारधारा से नितांत भिन्न सिद्धांतों का समर्थक समझते हुए भी जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए निबन्ध के एकाध स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के मूल सिद्धान्तों और कबीरपंथ की साम्प्रदायिक बातों में उन्होंने किसी प्रकार की असमानता का अनुभव नहीं किया है और इसी प्रकार दूसरी ओर भीखा, पलटू तथा यारी साहब को उन्होंने एक दूसरे से कुछ न कुछ भिन्न मार्ग ग्रहण करनेवाला मान लिया है। वास्तव में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इस प्रकार का अन्तर नितांत स्वाभाविक है क्योंकि संतमत के व्यापक सिद्धान्तों में जहाँ एक प्रमुख संत की दूसरे के साथ समानता है, वहाँ साधना के सम्बन्ध में एक दूसरे से सूक्ष्म मतभेद भी लक्षित होता है और उनके नामों पर प्रचलित किये गये प्रायः सभी पंथों में अपने प्रवर्त्तकों द्वारा निर्दिष्ट मत का न्यूनाधिक विकसित और कहीं-कहीं बहुत कुछ भिन्न रूप भी दिखलायी पड़ता है किन्तु समस्त सम्प्रदाय की विशेषताओं के निर्देशन में हम पंथ के प्रवर्त्तक की बातें ही अधिक रूप से ग्रहण करते हैं, यद्यपि किसी भी सम्प्रदाय के स्वरूप को पूर्ण स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार के अन्तर और सूक्ष्म भेदों की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक होता है। कबीर के मूलमत एवं कबीरपंथ के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों में जहाँ कुछ अन्तर है, वहाँ बावरीपन्थ के संतों में ऊपर से लेकर पलटू साहब तक एक प्रकार के क्रमिक विकास की धारा अबाधगति से प्रवाहित होती हुई चली आई है और उसके अनुयायियों को किसी प्रकार पृथक् कर लने का कोई वैसा कारण नहीं दीख पड़ता।

'निर्गुण सम्प्रदाय' के संतों की जितनी विशेषताएँ उनकी उपलब्ध रचनाओं में लक्षित होती हैं उनसे कहीं अधिक, उनके वास्तविक जीवन

की अवधि के भीतर उनकी प्रत्यक्ष रहनी में पायी गई होगी। परन्तु उनके विवरण अप्राप्य हैं। ये संत अधिकतर नम्रश्रेणी के समाजों में ही रहा करते थे और सदा गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते थे। इनके निकट ऐसे लोगों की उतनी पहुँच नहीं थी जो आर्थिक, राजनीतिक वा ठेठ सामाजिक दृष्टियों से उच्चश्रेणी के समझे जाते थे और जिनके संपर्क में आने पर ही, इनके व्यक्तित्व की विशेषताओं का प्रचार अधिक संभव हो सकता था। इनके व्यक्तिगत प्रभाव का क्षेत्र बहुधा इनके शिष्यसमुदाय तक ही सीमित रहा करता था जो इनके महत्व का मूल्यांकन, अंधभक्ति के आवेश में भी कर सकते थे। इन संतों के जीवनवृत्तों का ऐतिहासिक रूप हमें इन्हीं कारणों से बहुत कम उपलब्ध होता है। जो कुछ विवरण हमें आज तक मिले हैं उनका अधिकांश या तो चमत्कारों से भरा है अथवा पौराणिक गाथाओं का सग्रहमात्र बन गया है। ऐसे प्रसंगों वा जीवनियों में अधिकतर उन्हीं बातों की चर्चा की गई मिलती है जो इन संतों को एक अलौकिक व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। उनमें वैसी बातों का प्रायः अभाव सा ही दीख पडता है जो कथनी एवं करनी में पूर्ण सामंजस्य प्रतिष्ठित करनेवाले सत्यनिष्ठ महापुरुषों के दैनिक जीवन की प्रत्येक साधारण सी चेष्टा में भी लक्षित हो सकती है और जो वास्तव में इन संतों की विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

डॉ० बड़थ्वाल ने इन संतों का जीवन-परिचय शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देने की चेष्टा की है और वह इसी कारण स्वभावतः संक्षिप्त एवं अपूर्ण है जिससे इनके व्यक्तित्व पर कोई महत्वपूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। बहुत से संतों के सम्बन्ध में तो उन्होंने अपने अनुमान से ही अधिक सहायता ली है और कहीं-कहीं उपलब्ध सामग्रियों का उल्लेख मात्र कर दिया है। काशी की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के पंद्रहवें भाग में [illegible] इस अंग्रेजी निबन्ध के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद

करते समय उन्होंने इस परिचय-सम्बन्धी अंश को कुछ अधिक विस्तृत व व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया है और वही विस्तृत रूप ही प्रस्तुत ग्रंथ में सम्मिलित है, किंतु वह भी यथेष्ट नहीं कहा जा सकता। इस निवन्ध में उनके प्रमुख वर्ण्य विषय 'निर्गुण सम्प्रदाय' के क्रमवद्ध परिचय की भी कमी खटकती है और जान पड़ता है कि लेखक का ध्यान जितना इन संतों की विचारधारा और इनकी साम्प्रदायिक मान्यताओं की ओर था, उतना इनके उक्त समुदाय के स्वरूप वा उसके विकास की ओर नहीं था। संतों के व्यक्तिगत जीवन तथा उनके उक्त सम्प्रदाय के संघटन व क्रमिक-विकास की पूर्व-पीठिका उनकी विचारधाराओं के स्पष्टीकरण में भी बहुत कुछ सहायता प्रदान करती और उसके द्वारा हमें उनकी वास्तविक देन का भी एक सुव्यवस्थित रूप दीख पड़ता। अस्तु।

कबीर के सम्बन्ध में अनेक लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है और डा० बड़थ्वाल ने भी उन पर विशेष ध्यान दिया है। उनके कुल को उन्होंने मुसलमान माना है परन्तु इतना और भी जोड़ दिया है कि वह कुछ ही दिनों पहले से धर्मांतरित होकर आया था। आलोच्य निवंध में तो उन्होंने इसके कारणों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, किंतु अन्यत्र कहा है कि कबीर-द्वारा अपने को 'कोरी' भी कहने से हमें इसकी ओर संकेत मिलता है। इसी बात के आधार पर उन्होंने बंगाल की ओर पाये जानेवाले कतिपय वयन-जीवी जुगियों वा जोगियों के साथ भी उसका पूर्व सम्बन्ध जोड़ा है और कबीर की रचनाओं में गुरु गोरखनाथ के प्रति प्रदर्शित की गई श्रद्धा से भी कुछ समर्थन पाकर उन्होंने यह परिणाम निकाला है कि 'मेरी समझ में कबीर, भी किसी प्राचीनतया कोरी किन्तु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियों का अनुयायी था।" इसी प्रकार उन्होंने कबीर के जन्मस्थान को भी काशी न मानकर उसे प्रचलित मत के विरुद्ध मगहर बतलाया

है और कहा है कि इस बात की पुष्टि कबीर की पंक्ति "पहले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई" से होती है। कबीर को स्वा० रामानंद का शिष्य मानने के प्रति दृढ़ आस्था भी डा० बड़थ्वाल के निबंध की एक विशेषता है क्योंकि इसका समर्थन भी उन्होंने व्यास जी के एक पद एवं 'बीजक' की कुछ पंक्तियों के उदाहरण देकर उनकी व्याख्या-द्वारा किया है।

कहना न होगा कि डा० बड़थ्वाल ने उपर्युक्त तीनों ही बातों के लिए अपने परिणामों को निश्चित रूप देते समय किन्हीं पुष्ट प्रमाणों से सहायता नहीं ली है। प्रत्युत, अपनी कल्पना से ही अधिक काम लिया है। काशी से गोरखपुर के आस पास तक के प्रदेश में कहीं का भी रहनेवाला कबीर का जुलाहा कुल हिंदुओं, बौद्धों अथवा नाथपंथियों के प्रभाव में यों भी आ सकता था। काशी, हिंदू संस्कृति का एक प्रधान केंद्र है और उससे लगे हुए सारनाथ से लेकर गोरखपुर के निकटवर्ती कई स्थलों तक का प्रदेश बौद्धधर्म एवं नाथपंथ का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बहुत पहले से ही माना जाता आया है और ऐसी दशा में उपर्युक्त बातों को कहीं अन्यत्र ढूँढ़ने की वैसी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार "पहले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई" में भी 'दरसन पायो' का अर्थ 'जन्म लेना' लगाने के स्थान पर किसी महापुरुष या परमात्मा का 'साक्षात्कार' करना ही अधिक समीचीन होगा। केवल इसी के बल पर वा कतिपय अन्य ऐसे ही संदिग्ध पंक्तियों के भी सहारे मगहर को कबीर का जन्मस्थान मान लेना उचित नहीं जान पड़ता। डा० बड़थ्वाल ने 'बीजक' के एक पद की "आपन आस किया बहुतेरा" पंक्ति के 'आस' को इसी प्रकार 'अन' मानकर उसमें आगे आनेवाली "रामानंद रामरस माते" पंक्ति के 'रामानंद' को स्वा० रामानंद का नाम मान लिया है और इसके द्वारा उन्होंने कबीर व रामानंद के शिष्य-गुरु सम्बन्ध की पुष्टि की है। परन्तु इन दोनों पंक्तियों के अनंतर आनेवाली

क्रमशः "काहु न मरम पाव-हरि केरा" तथा "कहहि कबीर हम कहि-कहि थाके" पंक्तियाँ ऐसा करने में स्पष्ट बाधा डालती है और पूरे पद का अर्थ, व्यक्तिपरक न रहकर सर्व साधारण के प्रति किये गये उपदेश का रूप ग्रहण कर लेता है।

डॉ० बड़थ्वाल ने संत दादूदयाल के शिष्य जगजीवनदास को भी सत्तनामी संप्रदाय की नारनौल शाखा का प्रवर्तक मान लिया है किंतु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है और न उस जगजीवनदास के जीवनवृत्त पर कोई प्रकाश ही डाला है। दादू-शिष्य जगजीवनदास के विषय में अभी तक केवल इतनाही पता चलता है कि वे काशी में विद्योपार्जन कर चुकनेवाले एक धुरंधर विद्वान् थे जो देशाटन करते-करते बैलों पर लदी हुई अपनी पुस्तकों के साथ राजस्थान प्रदेश के ढूंढाहड़ की ओर जा निकले थे। वे कट्टर वैष्णव थे, इस कारण आमेर में संत दादूदयाल की प्रसिद्धि का पता पाकर उनसे शास्त्रार्थ करने चले आये। शास्त्रार्थ करते समय संत दादूदयाल की मधुर वाणी एवं सुन्दर स्वभाव का उनके ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि उनके विचारों में घोर परिवर्तन आ गया और वे उनके शिष्य तक बन गये। कहा जाता है कि, अपना गर्व दूर होते ही उन्होने अपने सारे ग्रंथ वहाँ के महावटे तालाब में डुबो दिये और गुरुसेवा में लग गये। उन्होने अपने गुरुभाई छोटे सुन्दरदास को बहुत प्रोत्साहित किया था और उन्हे भी काशी में रहकर विद्याध्यन करने की प्रेरणा दी थी। वे टहलड़ी डूंगरी में निवास करते हुए कुछ दिनों तक भजन करते रहे थे और महाराजा मानसिंह ने तथा उदयपुर के महाराणा ने भी उनका बड़ा सम्मान किया था। टहलड़ी में उनकी परंपरा का केन्द्र आज भी वर्त्तमान है और उनके शिष्यों में कई अच्छे-अच्छे ग्रंथकार भी हो चुके है। उनकी वाणियों का भी एक संग्रह ग्रंथ 'बहुत बड़ा ग्रंथ' बतलाया

जाता है, किन्तु उसमें अथवा उनके शिष्यों की भी किसी रचना में सत्त-नामी संप्रदाय का कोई प्रभाव अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है।

'सत्तनामी संप्रदाय' की नारनौल शाखा के मूल प्रवर्तक के सम्बन्ध में अभी तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सका है। उस शाखा के अनुयायियों की चर्चा औरंगजेब बादशाह के शासन-काल का इतिहास लिखते समय, की जाती है। कहा जाता है कि इन सत्तनामियों ने उक्त बादशाह के विरुद्ध सं० १७२६ में विद्रोह खड़ा किया था जो बलपूर्वक दबाया गया था। ये सत्तनामी उस समय में भी अच्छी संख्या में बतलाये जाते हैं, किंतु न तो इनके किसी प्रमुख नेता का परिचय मिलता है और न इनके संघटन का ही पता चलता है। विद्रोह के विवरणों-द्वारा केवल यही विदित होता है कि ये लोग, संभवतः, किसान थे और अपना विद्रोह इन्होंने बादशाह के स्थानीय कर्मचारियों के किसी विशेष दुर्व्यवहार वा अत्याचार के कारण किया था। इनके मत वा किसी धार्मिक संस्था का परिचय, विद्रोह के उक्त विवरणों में, नहीं पाया जाता। विद्रोह-सम्बन्धी युद्धों में इनका केवल 'सत्तनाम' का उच्चारण-मात्र करना कहा जाता है। कुछ विद्वान् इन सत्तनामियों तथा संत-परंपरा के एक अन्य पंथ, साध संप्रदाय में कोई भेद मानते हुए नहीं जान पड़ते और दोनों का मूल प्रवर्त्तक बीरभान को समझते हुए दीख पड़ते हैं। परन्तु इस बीरभान का भी कोई प्रामाणिक जीवन-वृत्त नहीं पाया जाता और उनका सम्बन्ध कभी-कभी ऊदादास और कभी-कभी जोगीदास के साथ जोड़ा जाता है, जो क्रमशः, लगभग सं० १६०० और लगभग सं० १७१५ में वर्तमान थे और जिनमें से वे प्रथम के शिष्य और द्वितीय के भाई माने जाते हैं। अब तक की उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि सत्तनामियों की इस नारनौल-वाली शाखा के एक प्रमुख प्रवर्तक जोगीदास भी थे जिन्होंने दाराशिकोह के साथ होनेवाले औरंगजेब के एक युद्ध में, संभवतः उसके विरुद्ध सं०

१७१५ में भाग लिया था। जिन्होंने सं० १७२६ में इस पंथ का प्रचार बड़ी लगन के साथ करना आरंभ किया था और जिसके द्वारा प्रभावित व्यक्तियों ने ही कदाचित उक्त विद्रोह का झंडा भी उठाया था। फिर भी उक्त विद्रोह की चर्चा करते समय उनका नाम नहीं लिया जाता। संभव है वे पहले वीरभान के 'साध संप्रदाय' के अनुयायी रहे हों और आगे चल कर सत्तनामी मत का प्रचार करने लगे हों। जो हो, जान पड़ता है कि डा० बड़थ्वाल ने सत्तनामियों की कोटवा-शाखा के प्रवर्त्तक जगजीवनदास के साथ केवल नाम-साम्य पर ही दादूशिष्य जगजीवनदास को भी उनकी नारनौल शाखा का प्रवर्त्तक अनुमान कर लिया है। दादूशिष्य जगजीवनदास का अभी तक कोई भी प्रत्यक्ष संबंध सत्तनामी संप्रदाय के साथ सिद्ध नहीं किया जा सका है, इस कारण प्रमाणों के अभाव में, उक्त प्रकार का निश्चय कर लेना भ्रमात्मक ही कहा जा सकता है।

डा० बड़थ्वाल ने, इसी प्रकार, कुछ अन्य संतों व संत संप्रदायों के विषय में लिखते समय भी अधिकतर अनुमान से ही काम लिया है उदाहरण के लिए, बावरी साहिबा की परंपरा की (जिसे उन्होंने यारी साहब का पंथ कहा है) चर्चा करते समय, उन्होंने उसके संतों में एक नाम 'ललना' का भी गिना दिया है और बतलाया है कि इस संप्रदाय के अब तक अज्ञात संत (बीरू, शाह फकीर आदि) की बानियों के साथ-साथ ललना की भी रचनाएं मिलती हैं। परन्तु जिस ग्रंथ (महात्माओं की वाणी) में 'ललना' की बानियों का होना उन्होंने सिद्ध किया है उसमें वैसी कोई भी रचनाएँ आती नहीं जान पड़ती। वास्तव में 'ललना' शब्द किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर, 'सोहर' जैसे गीतों में प्रयुक्त होने-वाली एक 'टेक' व विरामसूचक शब्द मात्र है और उक्त 'महात्माओं की वाणी' में प्रकाशित कतिपय बानियों में भी उसका वैसा ही प्रयोग पाया जाता है। डा० बड़थ्वाल ने, इसी प्रकार, संत बुल्लेशाह को परंपरागत

धारणाओं के आधार पर ही, बाहर के भारत पंजाब में रहनेवाला माना है जहाँ वह प्रकाशित हो चुका है कि वे वस्तुतः सारन जिले के पड़ौल गाँव में सं० १७३७ में उत्पन्न हुए थे, उनके पिता का नाम महम्मद [illegible] था और वे दर्शनी नाम साधु के शिष्य भी रह चुके थे। इनकी मृत्यु सं० १८१० में हुई थी और इनकी रचनाएँ भी अब [illegible] निवासी [illegible] सिंह ने प्रकाशित कर दी हैं। डा० बड़थ्वाल ने इसी प्रकार बाबा धरनीदास का भी उत्पन्न होना सं० १७१३ (सन् १६५६ ई०) में बतलाया है जिसके लिए कोई आधार नहीं। इस संत ने अपनी रचना 'प्रेमप्रगास' के अन्तर्गत स्वयं कहा है कि सं० १७१३ में जब शाहजहाँ का अधिकार छीना गया और औरंगजेब की 'दुहाई' फिरी उस समय मेरे पिता का भी देहांत हो गया और इस बात का मेरे ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि मुझमें पूरी विरक्ति जाग्रत हो गई और मैंने 'वैरागी भेष' धारण कर लिया। अतएव सं० १७१३, बाबा धरनीदास, का 'जन्मकाल' न होकर अधिक से अधिक इनका 'प्रबुद्धकाल' कहा जा सकता है। शिवनारायणी सम्प्रदाय के संबंध में लिखते हुए उन्होंने, इसी प्रकार कहा है कि उसका प्रचार अब नहीं रह गया है और वह आज कल प्राय नष्ट सा हो गया है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। शिवनारायणी सम्प्रदाय का प्रचार, इसके प्रवर्त्तक के जन्म-स्थान जिला बलिया के अतिरिक्त, गाजीपुर, आजमगढ़, [illegible], लाहौर कलकत्ता, बंबई, आदि नगरों में और इनके आस पास अब तक भी पाया जाता है और इसके पूज्य 'ग्रंथ गुरुन्यास' का प्रकाशन कम से कम तीन स्थानों से तो हो ही चुका है।

डा० बड़थ्वाल ने निरंजनी धारा व निरंजनी संप्रदाय को बहुत बड़ा महत्व दिया है। वास्तव में निर्गुण सम्प्रदाय के अंतर्गत इसकी चर्चा सर्व-प्रथम करनेवाले भी डा० बड़थ्वाल ही कहे जा सकते हैं। सं० १९९७ में तिरुपति (मद्रास) में होनवाले 'प्राच्यविद्या सम्मेलन' के हिंदी विभाग के अध्यक्ष के पद से भाषण करते समय, उन्होंने गद्य का पहले पहल

वर्णन किया था।* उन्होंने वहाँ पर बतलाया था कि निरंजनी धारा के अनेक संतों में से हरिदास, तुलसीदास और सेवादास की बहुत सी बानियाँ मेरे पास सुरक्षित हैं तथा खेमजी, कान्हड़दास और मोहनदास की भी कुछ कविताएँ कई संग्रहों में मिलती हैं। इस संप्रदाय के मनोहर-दास, निपट निरंजन तथा भगवानदास के उल्लेख पहले से भी होते आ रहे थे और उनकी कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध थी। परंतु उपर्युक्त संतों की चर्चा कुछ भक्तमालों के अतिरिक्त अन्यत्र बहुत कम सुनी गई थी और ऐसे सभी संतों को एक पंथ में लाकर उनका परिचय देने का प्रयत्न उसके पहले किसी ने भी नहीं किया था। इन संतों की विशेषता इनके नाथपंथ-द्वारा अधिक प्रभावित होने तथा इनकी सगुणोपासना के प्रति सहिष्णुता में दीख पड़ती है और डा० बड़थ्वाल ने इन्हें इसी कारण नामदेव जैसे पूर्वकालीन संतों का समकक्ष माना है। परंतु, इस विचार से देखा जाय तो योगसाधना एवं कृष्णभक्ति की ओर बहुत कुछ उन्मुख रहनेवाले चरणदास तथा उनके संप्रदाय के सम्बन्ध में भी हमें यही स्वीकार करना पड़ेगा। निरंजनी संप्रदाय की अब तक उपलब्ध रचनाओं के अध्ययन से ऐसी कोई भी विशेष बात लक्षित नहीं होती जिसके आधार पर हम इसे, डा० बड़थ्वाल के शब्दों में नाथपंथ एवं संत संप्रदाय के बीच की एक 'महत्वपूर्ण लड़ी' मान लें। इस संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक हरिदास अपनी रचनाओं में कबीर को कहीं-कहीं अपना आदर्श मानते हुए भी दीख पड़ते हैं और इन दोनों संतों के सिद्धान्तों, व बहुत कुछ साधनाओं, में वैसी भिन्नता न होने के कारण भी उक्त कथन को अधिक महत्व देना उचित नहीं जान पड़ता।

डॉ० बड़थ्वाल ने जिस सबसे गम्भीर विषय की चर्चा अपने निबन्ध

---

*—देखिये 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', सं० १९९७, पृ० ७१-८८।

—सम्पादक

में की है वह संतो की साम्प्रदायिक साधना है। इसे सदा अत्यन्त गूढ़ रखा जाना रहा और सम्प्रदाय के सच्चे अनुयायियों के अतिरिक्त, इसका भेद अन्य किसी पर भी कभी प्रकट नहीं किया जाता था। संतों की यह साधना योगाभ्यास की साधारण प्रणाली से कई बातों में मिलती हुई भी, उनसे बहुत कुछ भिन्न है। संतों की साधना में शारीरिक साधनाओं को वैसी प्रधानता नहीं जो हठयोगियों में दीख पड़ती है। यह उनकी अनेक बातों को ग्रहण करती हुई भी उनके आसन एवं मुद्रा आदि का वैसा उपभोग नहीं करती। इसमें वैसी प्रक्रियाएँ गौण मानी जाती है। संतों ने पिंड के भीतर विद्यमान समझे जानेवाले षट्चक्र, त्रिकुटी ब्रह्मरंध्र आदि को प्राय. योगियों की ही भाँति स्वीकार किया है और 'कुंडलिनी-योग' का भी वर्णन लगभग उन्हीं की शब्दावली में किया है। परन्तु जिस प्रक्रिया की ओर उन्होंने सबसे अधिक ध्यान दिया है वह 'सुरति-शब्द-योग' है जिसके अभ्यास का आरम्भ उक्त साधना की अन्तिम स्थिति में ही सुलभ कहा जा सकता है। डॉ० बड़थ्वाल ने अपने 'सुरति-निरति' वाले लेख में अन्यत्र‡ बतलाया है कि किस प्रकार ब्रह्म के विवर्तन-द्वारा "ब्रह्म से शब्द ब्रह्म, त्रैगुण्य पञ्चभूत, अन्त.करण अहंकार और स्थूल माया" के सहारे "चराचर सृष्टि का वन्धान खड़ा हुआ" है और जीव उसके बन्धन में पड़ा हुआ है। ब्रह्म के ऊपर इस प्रकार पड़ी हुई परतों अथवा प्रसिद्ध पंचकोशों की खोल के रहते हुए भी, उसका साक्षात् कर लेना सरल कार्य नहीं है। संत लोग इस उद्देश्य की सिद्धि, सुरति के द्वारा प्राप्त करते है जो हमारे भीतर 'वहाँ' की स्मृति के रूप में विद्यमान है और जो वस्तुतः जीव का अन्यतम स्वरूप ही कही जा सकती है। यही सुरति अनाहतनाद को अपना लक्ष्य बना कर उसकी ओर क्रमश. अग्रसर होती है और अन्त में उस ब्रह्म व परम-

---

‡ —देखिये योगप्रवाह, पृ० ७३। —सम्पादक

तत्त्व को प्रत्यक्ष वा आत्मसात् कर लेती है। सहज समाधि की दशा शब्द व सुरति के संयोग का ही परिणाम है।

संतों ने पिंड के भीतर की विभिन्न स्थितियों का वर्णन भी अपने ही ढंग से किया है। पूर्वकालीन संतों ने अधिकतर योगियों में प्रचलित विवरणों को स्वीकार किया था और वे उन्हीं के बतलाये हुए विविध खंडों वा पदों का उल्लेख कर अन्त में परमपद की ओर संकेत करते थे। परन्तु तुलसी साहब तथा विशेषकर शिवदयाल साहब और उनके अनुयायियों ने उक्त स्थितियों के वर्णन बड़े विस्तार के साथ किये हैं और षट्चक्र को एक प्रकार से केवल ठेठ पिंड का अंग मानकर उसके भी आगे के प्रदेश के पदों की, ब्रह्मांड के परे के देश और उसके भी आगे के प्रदेश के पदों की चर्चा की है। इन अंतिम पदों का परिचय पाना उनके अनुसार सबके लिए सुलभ नहीं है, इस कारण इनका अनुभव केवल उन्हीं को हो पाता है जिन्हें सतगुरु सुझा देने की दया दिखलाते हैं। संत शिवदयाल ने इन पदों का वर्णन पूरे विवरण के साथ किया है और इन्हें पूर्वकालीन संतों की भाँति भिन्न-भिन्न लोकों की संज्ञा दी है। परन्तु जैसा कि कबीर आदि कुछ संतों की अनेक रचनाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ने से विदित होगा, ये 'लोक' वा 'देश' वस्तुतः साधकों की विविध आध्यात्मिक दशाओं के केवल प्रतीक मात्र हैं, इनकी कोई साधारण सी भौतिक स्थिति नहीं है। इनके पदों का उक्त वर्णन ब्रह्मांड की देशगत स्थितियों के साथ इनका पूर्ण सामंजस्य प्रदर्शित करने की चेष्टा में किया गया प्रतीत होता है। सत्यलोक, सत्यखंड, अगमपुर, अमरपुर, संतदेश आदि नाम उस अंतिम पद की दशा को ही सूचित करते हैं जिसे संतों ने अपने लिए परमलक्ष्य माना है। उसे प्राप्त करके साधक परमतत्त्व का पूर्ण अनुभव कर लेता है और 'परचा' वा अपरोक्षानुभूति के प्रभाव के आ जाने पर उसके भीतर कायापलट हो जाता है।

इस कायापलट को संतों ने बहुत बड़ा महत्व दिया है और यदि सच पूछा जाय तो इस प्रकार के एक नवीन जीवन का प्राप्त कर लेना ही संतों की साधना की सबसे बड़ी विशेषता है। ऐसे जीवन की दशा को उपलब्ध कर मनुष्य पूर्णतः और का और हो जाता है। उसका दृष्टिकोण आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर लेता है, उसकी सारी मनोवृत्तियाँ संतुलित बन जाती हैं और उसके जीवन के अंतिम छोर के परमतत्त्व के मूल स्रोत के साथ सदा जुड़े रहने के कारण उसकी किसी भी चेष्टा में संकीर्णता के भाव लक्षित नहीं होते। उसके सारे कार्य सहज भाव के साथ होते रहते हैं, किंतु उनका मूल्यांकन नितान्त भिन्न प्रकार से होने लगता है। उसके सभी आत्मीय बन जाते हैं किंतु किसी भी व्यक्ति के साथ उसका विशेष रागात्मक सम्बन्ध नहीं रह जाता और न उसी प्रकार किसी अन्य के प्रति उसमें विद्वेष का ही भाव रहा करता है। वह विश्व के कल्याण में अपना भी कल्याण मानता है, सबके साथ निर्वैर भाव का बर्ताव करता है और प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों के बीच का मध्यम मार्ग स्वीकार कर लेता है। ऐसा संत, वास्तव में परमात्मा स्वरूप ही बन जाता है और उसके व्यवहार म कभी विधि-निषेध का भी कोई प्रश्न नहीं उठा करता। कबीर न ऐसे संतों की ही परिभाषा बतलाते हुए कहा है कि "ये लोग निर्वैरी, निष्काम तथा परमात्मा में अनुरक्ति और विषयों के प्रति अनासक्ति का भाव रखनेवाले हुआ करते हैं।" इनके अस्तित्व के कारण समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठ जाता है और इनके विचार-स्वातंत्र्य एवं हृदय की सच्चाई के प्रभाव में उसके भीतर आत्मिक बल का संचार हो आता है। ऐसे व्यक्तियों के शील व सदाचार की निर्मलता उसके सामूहिक जीवन को भी क्रमशः परिष्कृत करने लगती है और इस प्रकार उसके द्वारा भूतल पर स्वर्ग लाने का आदर्श भी कोरा स्वप्न ही नहीं रह जाता।

पूर्ण 'संत' का आदर्श ही वास्तव में संतों की सबसे बड़ी देन है जिसके महत्व को भली भाँति हृदयंगम न कर सकने के कारण हम बहुधा उनकी उपेक्षा कर बैठते हैं। हम इस आदर्श के रहस्य को कभी समझने का भी पूरा प्रयत्न नहीं करते और न उसे कभी अपने लिए अनुभवगम्य ही मानते हैं। हमारी मनोवृत्ति का झुकाव किसी आदर्श को आत्मसात् करने की जगह उसके प्रति अवतारोपासना अथवा वीर-पूजा के भाव प्रदर्शित करने की ओर ही अधिक दौड़ पड़ता है और हम अपने आप को उस तक ऊपर उठाने की अपेक्षा उसी को अपने स्तर तक लाना अधिक पसंद करते हैं। हम ऐसे आदर्शों को अपनी कल्पना-द्वारा सदा सजीव एवं सक्रिय मानते हुए उसकी दयालुतादि गुणों में पूरी आस्था रखने लगते हैं और चाहते हैं कि हमारे सर्व प्रकार से अकर्मण्य रहते हुए भी, वे हमें अपनी भुजाओं-द्वारा ऊपर उठाकर अपनी स्थिति तक पहुँचा देंगे। संतों के अनुसार इस प्रकार की मनोवृत्ति अक्षम्य है। उन्हें न तो इस अवतारवाद पर किसी प्रकार का विश्वास है और न वे किसी परलोकवाद में ही आस्था रखते हैं, अपने हाथों अपना उद्धार करने के वे प्रबल समर्थक हैं और वे किसी काल्पनिक लोक के साथ सम्बन्ध स्थापित करने मात्र में ही कोई कल्याण नहीं देखते। डॉ० बड़थ्वाल ने संतों की इन विशेषताओं पर यथेष्ट बल देकर नहीं लिखा है प्रत्युत, उन्हें अधिकतर धार्मिक सुधारकों के रूप में ही स्वीकार कर लिया है। संतों की आध्यात्मिक देन चाहे जो कुछ भी कही जा सके उनकी सामाजिक देन भी किसी प्रकार कम नहीं है और उनकी रचनाओं पर इस धारणा के साथ विचार करने पर ही, हमें जान पड़ेगा कि उनका महत्व विश्वकल्याण की दृष्टि से भी बहुत बड़ा कहा जा सकता है।

५. संत साहित्य का अध्ययन और डा० बड़थ्वाल

डा० बड़थ्वाल का कार्य संत-साहित्य के अध्ययन की प्रगति म

एक प्रधान सीमाचिह्न (Land mark) का महत्व रखता है। उन्होंने एक ऐसे विषय को लिया था जो उस समय के लिए, एक प्रकार से, नितांत नवीन था और जिसके प्रायः किसी भी अंग-संबंधी खोज की ओर विद्वानों का ध्यान तक नहीं जाता था। वास्तव में इस विषय को केवली खोज का उद्देश्य होने की गंभीरता तक भी देना अनेक विद्वान् उचित नहीं समझते थे। कबीर व नानक जैसे दो चार संतों को छोड़ कर शेष के नामों तक से बहुत से लोग अपरिचित थे और उनकी चर्चा उन दिनों केवल धर्म व समाज के साधारण सुधारकों में ही करके उन्हें छोड़ दिया जाता था। उनकी उपलब्ध रचनाओं की गणना या तो धार्मिक उपदेशों में की जाती थी अथवा उन्हें कतिपय साधुओं की अट-पटी बानियों में गिना जाता था। संतों की अधिकांश रचनाएँ अनेक स्थानों पर हस्तलिखित रूप में ही पड़ी हुई थीं। सांप्रदायिक भावना-वाले उन्हें अमूल्य किंतु, परम गोप्य व रक्षणीय मान कर उनकी पूजा किया करते थे और सर्व साधारण उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। सांप्रदायिक दृष्टिवाले व्यक्तियों के लिए उन्हें प्रकाशित करा कर सबके समक्ष लाना जहाँ उनकी प्रतिष्ठा व मर्यादा से नीचे की ओर ले जाना था, वहाँ अन्य लोगों के लिए ऐसा करना अपने द्रव्य का दुरुपयोग मात्र था। कुछ लोगों का उन्हें अपने पास, जैसे-तैसे हस्तलिखित रूप में सुरक्षित रख छोड़ना ही बहुत कुछ था, क्योंकि, यदि इतना भी न हुआ होता, तो आज उनका पता लगा सकना भी कठिन हो गया होता। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' जैसी एकाध संस्थाओं तथा कतिपय साहित्य-प्रेमी व्यक्तियों ने जब इस प्रकार की पुस्तकों की खोज का काम आरंभ किया तो इसका भी परिचय मिलने लगा और इनमें से कई एक प्रयाग के 'बेलवेडियर प्रेस' आदि से प्रकाशित होकर, क्रमशः सर्व साधारण का भी ध्यान आकृष्ट करने लगीं।

डा० बड़थ्वाल ने जब ऐसे साहित्य का अध्ययन आरंभ किया उस

समय तक भी जैसा पहले कहा जा चुका है, ये पुस्तकें निरी नीरस बानियों का संग्रहमात्र समझी जाती थीं और इनके भीतर किसी सुसंगत विचारधारा के विद्यमान रहने तक की कल्पना करना कठिन था। डा० बड़थ्वाल ने 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की खोज-रिपोर्टों तथा कुछ जानकारों के कथन के आधार पर, ऐसे ग्रंथों को एकत्रित कर उन्हें आद्योपांत पढ़ डालने का प्रयत्न किया, प्रत्येक संत की उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत उसके विचारस्रोतों का पता लगाया और उनकी पारस्परिक तुलना के सहारे उन्हें एक वर्ग-विशेष में परिगणित करने की चेष्टा की। पूरी संत-परंपरा के अंतर्गत आनेवाले उसके अंग-स्वरूप भिन्न-भिन्न पंथों व संप्रदायों का भी उन्होंने यथासंभव पता लगाया और उनकी विशेषताओं पर विचार किया। फिर भी संतों की बानियों का वास्तविक रहस्य समझ लेना कुछ सरल काम न था और इसके लिए उन्हें कई विशेषज्ञों से भी सहायता लेनी पड़ी। ऐसी गूढ़ बातों के जानकार सांप्रदायिक व्यक्ति इन्हें परम गुप्त माना करते हैं और इन्हें अपने अनुयायियों के अतिरिक्त किसी अन्य पर प्रकट कर देना अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाना मानते हैं। अतएव, डा० बड़थ्वाल को, इन्हें समझने के लिए, अधिक परिश्रम, उपलब्ध ग्रंथों के अध्ययन व अनुशीलन में ही करना पड़ा और उनके ज्ञान का एक बहुत बड़ा अंश ऐसे ही परिशीलन व मनन का परिणाम कहा जा सकता है। डा० बड़थ्वाल ने इस प्रकार न केवल एक नवीन व अज्ञात क्षेत्र में काम किया, अपितु, उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए घोर प्रयास भी करना पड़ा।

डा० बड़थ्वाल के निबंध के प्रकाश में आ जाने के समय से संत-साहित्य की खोज तथा उसके प्रकाशन, प्रचार व अध्ययन की प्रगति में एक प्रकार की शक्ति सी आ गई है। खोजी व्यक्तियों व संस्थाओं ने इधर ऐसे अनेक ग्रंथों का पता लगा लिया है जिनके केवल नाममात्र से ही हम लोग परिचित थे। हस्तलिखित ग्रंथों को देख लेने पर अब

यह भी क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है कि अमुक रचना को सहसा
अमुक संत की ही कृति मान लेना ठीक नहीं। पंथ व सम्प्रदाय के
पिछले अनुयायी, उनके मूल प्रवर्त्तक के नाम से, बहुत सी पुस्तकें बहुधा
स्वयं ही लिख दिया करते थे और इस प्रकार किसी प्रमुख संत के
विचारों के भी सबंध में भ्रम उत्पन्न हो जाता रहा। ऐसी रचनाएँ कभी-
कभी उन गोष्ठियों के रूप में भी पाई जाती हैं जिनमें गोरख, दत्त
गणेश, महादेव आदि तक के साथ वार्तालाप कराया गई रहती है और
जिनके द्वारा अनेक प्रश्नों के विषय में वाद-विवाद करा कर ऐसे संतों
की जीत एवं पूर्वकालीन व्यक्तियों की हार प्रदर्शित की गई रहती है।
ऐसी पुस्तकों के रचयिता अथवा रचनाकाल का तो ठीक पता नहीं हो
पाता, किंतु पंथ के सांप्रदायिक दृष्टिकोण पर इनसे बहुत कुछ प्रकाश
पड़ जाता है और मूल प्रवर्त्तक के विचारों के क्रमिक विकास के
अध्ययन में भी कभी-कभी सहायता मिल जाती है। कबीर-पंथी साहित्य
के अंतर्गत इस प्रकार की रचनाएँ बहुत बड़ी संख्या में पायी जाती हैं
और उनमें से कई एक का इधर प्रकाशन भी हो गया है।

मूल ग्रंथों के प्रकाशन के साथ-साथ भिन्न-भिन्न संतों तथा उनके
नामों पर प्रचलित सम्प्रदायों के सम्बन्ध में लिखी गई पुस्तकों की
संख्या में वृद्धि होती जा रही है। कबीर, नानक एवं दादू के जीवन-
वृत्त और सिद्धांतों का अध्ययन इधर विशेष रूप से हुआ है। कबीर-
पंथ, सिखधर्म, दादूपंथ, राधास्वामी सत्संग, रामसनेही सम्प्रदाय आदि
के अनुयायी तथा रैदासी भी इधर ग्रंथरचना में विशेष तत्परता दिखला
चुके हैं और कुछ असांप्रदायिक विद्वानों ने भी इनके तथा इनके मूल-
प्रवर्त्तकों के विषय में बहुत कुछ आलोचनात्मक ढंग से लिखने का
प्रयास किया है। उक्त पंथों वा सम्प्रदायों की विविध संस्थाओं ने
अपने आदि संतों के नाम पर कभी-कभी मेलों और उत्सवों का भी
आयोजन किया है जिनमें, निबन्धों के पठन व व्याख्यानों के अतिरिक्त

साम्प्रदायिक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों का प्रदर्शन भी किया गया है। इसके सिवाय मूल ग्रन्थों का प्रकाशन पहले बम्बई, लाहौर, लखनऊ, काशी, प्रयाग आदि के कुछ प्रमुख यंत्रालयों-द्वारा ही हुआ करता था जिनमें से कई एक अब इस ओर वैसी रुचि दिखलाते हुए नही जान पड़ते और न अपने पिछल प्रकाशनों के ही नवीन संस्करण निकाल रहे हैं। परन्तु इस कार्य का भार अब स्वयं कई सांप्रदायिक संस्थाओं ने ही अपने ऊपर ले लिया है और वे, मूलग्रन्थ, फुटकर पद संग्रह, जीवनी आदि को निरन्तर प्रकाशित करती जा रही है। ऐसी संस्थाओं में से कुछ का ध्यान पत्र-पत्रिकाओं के निकालने तथा शिक्षालयों के खोलने की ओर भी आकृष्ट हुआ दीख पड़ता है।

संत साहित्य के विविध रूपों में उक्त प्रकार से प्रकाशित होते रहने तथा इस विषय के साथ बहुधा सम्पर्क में आते रहने से इसके प्रति हमारी रुचि में कुछ न कुछ अभिवृद्धि का होना भी स्वभाविक है। फलतः कई स्वतन्त्र विद्वानों, विद्यालयों तथा यूनिवर्सिटियों एवं शोध-संस्थाओं ने भी इसके अध्ययन को अपना विषय बनाना आरम्भ किया है। भिन्न-भिन्न संतों, उनके सम्प्रदायों, ग्रंथों तथा सिद्धांतों के सम्बन्ध में इधर कई एक अच्छे-अच्छे निबन्ध लिखे गये है और कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। उदाहरण के लिए डॉ० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक कबीर—हिज बायोग्राफी (Kabir—His Biography) स० १९९७ में प्रकाशित की और डबल्यू० एल्० एलिसन ने अपनी पुस्तक 'दि साध्स' (The Sadhs) सं० १९९२ में निकाली। इसी प्रकार आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी एक रचना 'दादू' नाम से सं० १९९३ में बंगला भाषा में लिखकर छपायी। हिंदी में इन सबसे पहले डा० रामकुमार वर्मा ने एक पुस्तक 'कबीर का रहस्यवाद' नाम से सं० १९८८ में प्रकाशित की थी और फिर कई वर्षो के अनन्तर उन्होंने, 'संत कबीर' नाम की एक अन्य पुस्तक-द्वारा, कबीर के 'आदि-

ग्रन्थ' में संगृहीत पदों वा साखियों का सं० २००० में सम्पादन किया। इसी प्रकार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी एक अच्छी पुस्तक 'कबीर' नाम से सं० १९९९ में प्रकाशित की और डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने संत दरियादास की विविध रचनाओं की खोजकर अपनी थीसिस में उनपर बहुत कुछ प्रकाश डाला। इधर लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने मलूकदास की जीवनी और रचनाओं का अध्ययन किया है जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। अब तो कबीर की मूल प्रामाणिक रचनाओं तथा 'बीजक' के शुद्ध पाठ एवं दादू, शिवनारायण, धरणीदास, आदि के ग्रंथों व पदों का भी अध्ययन आरम्भ हो गया है और चरणदासी, शिवनारायणी तथा रामसनेही सम्प्रदायों के मत व शिष्य-परम्परा के सम्बन्ध में भी खोजपूर्ण पुस्तकें लिखी जा रही हैं। जयपुर के 'दादू महाविद्यालय' तथा स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा के पुस्तकालयों में अभी सैकड़ों महत्वपूर्ण हस्तलेख प्रकाशन की प्रतीक्षा में पड़े हुए हैं। स्व० पुरोहित जी ने सुन्दरदास (छोटे) की रचनाओं का एक संग्रह सं० १९९३ में बड़े परिश्रम के साथ संपादित कर प्रकाशित किया था और उक्त 'दादू महाविद्यालय' के संचालक स्वामी मंगलदास जी सं० १९९३-९५ में अपनी 'संत साहित्य माला' के तीन 'सुमन' प्रकाश में लाये हैं। संतों के मूलग्रंथों वा फुटकर रचनाओं के पाठों का पूरी सावधानी के साथ अध्ययन कर, उन्हें संगृहीत व संपादित कर निकालना पहला व सबसे महत्वपूर्ण कार्य है जिस ओर इस साहित्य के प्रेमियों का ध्यान अधिकाधिक खिंचता जा रहा है।

संतों की विचारधारा के मूल स्रोतों पर विचार करते समय डा० बड़थ्वाल का ध्यान गुरु गोरखनाथ प्रभृति नाथ-पंथियों की रचनाओं की ओर, विशेष रूप से गया था और उन्होंने उनकी योग-भावना का सम्बन्ध परंपरागत योगप्रवाह के साथ जोड़ने का भी

प्रयत्न किया था। तब से इधर सरहपा आदि बौद्ध सिद्धों की चर्या-गीतियों तथा दोहा-कोषों पर भी ध्यान दिया जाने लगा है और महा-पंडित राहुलसांकृत्यायन एवं अन्य विद्वानों को भी इस प्रकार का निश्चय होता जा रहा है कि उनकी अपभ्रंश-बहुल रचनाएँ न केवल हिंदी काव्य के सर्वप्रथम उदाहरण कहलाने योग्य हैं, अपितु, उनके विषय तथा रचनाशैली में हमें संत-साहित्य का आदि रूप भी लक्षित होता है। जान पड़ता है कि नाथों ने पहल पहल उक्त सिद्धों से ही प्रेरणा प्राप्त की होगी और उन पर पड़े हुए अनेक प्रभावों ने, क्रमशः आगे चलकर, इन संतों को प्रभावित किया होगा। इधर नाथ एवं नाथ-साहित्य से संबन्ध रखनेवाले कई ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। डा० बड़थ्वाल-द्वारा संपादित 'गोरखबानी' सं० १९९९ में प्रकाशित हुई थी और उसकी 'भूमिका' से पता पता चलता है कि इस प्रकार का प्रका-शन वे अभी और करने जा रहे थे। उस समय तक इस विषय पर डा० मोहनसिंह की पुस्तक "गोरखनाथ एन्ड दी मिडीवल हिंदू मिस्टिसिज़म" (Gorakhnath & Medieval Hindu Mysticism) सं० १९९४ में निकल चुकी थी और डा० जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स की पुस्तक 'गोरखनाथ ऐण्ड दि कनफटा योगीज' (Gorakhnath and The Kanphata Yogis) भी स० १९९५ में प्रकाशित हो चुकी थी। अब इस विषय पर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डा० कल्याणी देवी की भी पुस्तकें शीघ्र निकलने जा रही हैं। सिद्धसाहित्य को लेकर भी इस समय खोज का काम अलग से चल रहा है। डा० पी० सी० बागची तथा डा० सुकुमार सेन ने उनकी रचनाओं के शुद्ध पाठ निकालने की चेष्टा की है और आशा है कि, हिंदी में भी इस पर एक पुस्तक शीघ्र निकल जाय। इस प्रकार बौद्ध सिद्धों से लेकर नाथों व संतों तक की क्रमागत विचारधारा पर इधर बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है और डा० शशिभूषण दासगुप्त की पुस्तक 'आब्सक्योर रिलिजस कल्ट्स'

(Obscure Religeous Cults etc.) द्वारा अब यह भी प्रतिपादित किया जाने लगा है कि जो 'विचारधारा' सिद्धो व नाथों की रचनाओ में प्रवाहित होती हुई हिंदी के संत कवियों की बानियों में दीख पड़ती है वही बंगला भाषा के वैष्णव सहजिया तथा बाउलों की रचनाओ में भी काम करती हुई जान पड़ती है। डा० बड़थ्वाल के समय तक इस प्रकार के विचार नहीं प्रगट किये जा सके थे।

वर्त्तमान खोजों तथा अध्ययनो के आधार पर यह धारणा क्रमशः निश्चित होती जा रही है कि संत साहित्य का एक अविकसित रूप हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक युग में भी वर्त्तमान था। विक्रम की आठवीं-नवीं शताब्दी के अनीश्वरवादी बौद्ध सिद्धों ने जिस सहज साधना को अपनाया था वह क्रमशः ईश्वरवादी नाथ-पंथियों की योगसाधना से अनेक बातो में, अभिन्न रही और उन दोनो पद्धतियों का हो 'विकसित रूप' हमें इन संतो में आ कर दृष्टिगोचर हुआ। इतना ही नहीं, उक्त बौद्ध सिद्धों का विचार-स्वातंत्र्य उनकी खरी आलोचना व विचित्र कथन-शैली भी, क्रमशः उसी प्रकार इन तक विकसित होती आई है। सिद्धों तथा नाथो के बीच की कोई अन्य कड़ी लक्षित नहीं होती, किंतु नाथो एवं संतो के मध्यवर्ती काल में विभिन्न वैष्णव संप्रदाय, सूफी संप्रदाय तथा कश्मीर के शैव संप्रदाय जैसे कुछ अन्य वर्ग भी आते है जिनसे उक्त प्रकार की बातो के विकास में निरंतर सहायता मिलती जाती है। अंत में महाराष्ट्रीय नारकरी संप्रदाय के ज्ञानदेव, नामदेव, आदि के समय तक उनमें प्रवाहित भावधारा बहुत कुछ निखर जाती है और स्वा० रामानंद तक आते-आते उसकी रूपरेखा प्रायः निश्चित भी हो जाती है। उस समय से कबीर उसे अपने ढंग से अपना कर व्यक्त करना आरंभ करते हैं और उनके आदर्श पर चलने-वाले संतों की एक परंपरा चल निकलती है जो किसी न किसी रूप में अभी आज तक वर्तमान रहती आई है। कबीर के अनंतर आने-

वाले प्रायः सभी प्रमुख संतों ने उनका पथ-प्रदर्शन स्वीकार किया है और न्यूनाधिक उनकी ही विचारधारा के आदर्शों पर चल कर उन्होंने अपनी रचनाएं भी की हैं। कबीर ने कदाचित कोई भी नवीन पंथ चलाना नहीं चाहा था। परंतु गुरु नानकदेव के समय से भिन्न-भिन्न पंथों व संप्रदायों का भी निर्माण होने लगा और विक्रम की बीसवी शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते इन संतो के नामों पर प्रचलित उक्त संस्थाओं ने अपने मूलस्रोतों की ओर समुचित ध्यान देना छोड़ दिया। इस कारण तुलसी साहब जैसे कुछ सुधारवादी सतों को इस बात की निंदा तक करनी पड़ी और तब से इस प्रकार के वर्ग भी, कुछ सजग व सावधान होते हुए से दीख पड़ते है।

संतों की इस परंपरा का महत्त्व अभी तक केवल सांप्रदायिक व साहित्यिक क्षेत्रों तक में ही ढूँढा जाता रहा और डा० बड़थ्वाल ने भी इसी कारण; अपने विषय को केवल उतने में ही सीमित रख कर 'निर्गुण संप्रदाय' पर विचार किया था। परंतु संतों की क्रमशः अधिकाधिक संख्या में उपलब्ध होती जानेवाली कृतियों तथा जीवनियों पर कुछ विशेष ध्यान देने से, अब यह भी प्रतीत होने लगा है कि उनके विविध सिद्धांतों एवं साधनाओं पर, यदि हम चाहे तो, कुछ और व्यापक रूप से भी विचार कर सकते हैं। कबीर इन सभी संतों के प्रतिनिधि समझे जाते हैं और, कम से कम उनकी रचनाओ में व्यक्त होनेवाली शुद्धहृदयता, स्वानुभूति, निर्भयता, विचार-स्वातंत्र्य तथा सबसे बढ़ कर सच्चे सात्त्विक जीवन को अपनाने की प्रबल प्रवृत्ति हमें इन महापुरुषों पर अन्य दृष्टियों से भी विचार करने के लिए प्रेरित करती है तथा हमारे लिए इस बात का सुझाव भी प्रस्तुत करती है कि हम इन्हे आदर्श मानव जीवन के निर्माताओं के रूप में भी स्वीकार करें। वैदिक युग से लेकर हिंदी साहित्य के उपर्युक्त प्रारंभिक काल तक की विभिन्न साधनाओं का इतिहास हमें स्पष्ट बतलाता है कि उनकी मूल प्रेरणाओं

के इतिहास में सन्तसाहित्य का स्थान भी कम ऊँचा नहीं समझा जा सकता। डा० बड़थ्वाल ने निर्गुण एवं सगुण उपासना की पद्धतियों के बीच कल्पित की जानेवाली चौड़ी खाई को बहुत अंशों में कम कर दिखाने का भी काम किया है और अपने निबन्धों-द्वारा उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया है कि इन दोनों का पारस्परिक भेद अधिकतर संकुचित सांप्रदायिक विचारों पर ही निर्भर है तथा प्रेमाभक्ति एवं अध्यात्मविद्या वस्तुतः एक ही साधना के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस सम्बन्ध में स्वा० रामानन्द के विषय में की गई उनकी खोज तथा संतो की साम्प्रदायिक साधना को, पूर्व परम्परागत योगधारा के साथ जोड़ देने का प्रयास भी उनकी दो अन्य देनें हैं जिनके लिए हम उनके चिर-कृतज्ञ रहेंगे।

बलिया
वैशाख बदी १
सं० २००७

—परशुराम चतुर्वेदी

सम्पादकीय

डा० बड़थ्वाल की थीसिस 'दि निर्गुण स्कूल आफ् हिन्दी पोएट्री' के हिन्दी रूपान्तर की आवश्यकता, हिंदी के माध्यम से सन्तकाव्य का विशेष अध्ययन करनेवालों को बहुत दिनों से अनुभूत हो रही थी और इस सम्बन्ध में मैंने स्वयं ही डा० बड़थ्वाल जी से बातें की थीं। यदि वे हमारे बीच कुछ दिनों और रह पाते, तो समस्त पुस्तक उन्हीं के द्वारा हिंदी में रूपान्तरित होकर कभी की हमारे बीच आ गई होती, किन्तु ऐसा नहीं होना था। उनके निधन के उपरान्त उसकी आवश्यकता और भी बढ़ती गई; क्योंकि उसका अंग्रेजी रूप भी समाप्तप्राय हो गया और उसके पुनर्मुद्रण के सम्बन्ध में भी अनिश्चियता ही प्रतीत होने लगी। लखनऊ विश्वविद्यालय की 'रजत जयन्ती' के अवसर पर आयोजित हस्तलिखित ग्रंथ-प्रदर्शिनी में एक दिन बड़थ्वाल जी के सम्बन्धी श्री दौलतराम जुयाल जी से चर्चा हुई और मैंने मन में यह निश्चय कर लिया कि मैं यह कार्य आरम्भ करूँ। इधर जुयाल जी से 'अवध पब्लिशिंग हाउस' के अध्यक्ष श्री भृगुराज जी भार्गव से बातें हुई और उन्होंने उनके समस्त ग्रंथों के प्रकाशन एवं उनके परिवार की आर्थिक सहायता का भार इस शर्त पर ले लेना स्वीकार किया कि मैं उनका सम्पादन कर दूँ। अतः मुझे समस्त कार्य छोड़कर इसे अंगीकार करना पड़ा, जिसे मैं अपना पावन कर्तव्य तथा गौरव समझता हूँ। अनुवाद का कार्य सबसे पहला था। किन्तु जुयाल जी से पूछताछ करने

पर ज्ञात हुआ कि इस कार्य को श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने पहले ही से ले रखा था। अतः यह बड़ी प्रसन्नता की बात हुई कि जो कार्य मैं इतनी शीघ्रता से न कर पाता, वह शीघ्र ही सम्पन्न हो सका।

डा० बड़थ्वाल ने अपनी मूल अंग्रेजी पुस्तक के प्रथम, द्वितीय और षष्ठ अध्यायों का अनुवाद स्वयं ही कर लिया था और वे 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के पन्द्रहवें भाग में निकल भी चुके थे। ये अध्याय प्रस्तुत पुस्तक के क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय अध्यायों के रूप में आये हैं। अतः रह जानेवाले अध्याय तृतीय, चतुर्थ और पंचम थे, जिनका अनुवाद श्री परशुराम जी चतुर्वेदी ने किया है और जो इस पुस्तक के चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्यायों के रूप में संयोजित हुए हैं। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक के अध्यायक्रम में भी तो अन्तर है ही साथ ही साथ प्रथम तीन अध्यायों की सामग्री में बड़ा अन्तर है, क्योंकि डा० बड़थ्वाल ने उसके उपरान्त प्राप्त सूचना और अर्जित ज्ञान के आधार पर उनमें यथावश्यक परिवर्तन, संशोधन एवं विस्तार कर दिया था अतः यह तीन अध्याय अनुवादमात्र ही नहीं कहे जा सकते। यदि शेष तीन अध्याय और इस प्रकार समस्त पुस्तक उनके द्वारा हिन्दी में हमारे सामने आ जाती, तो उसका मूल्य बहुत अधिक होता। पर ऐसा न हो सका, फिर भी यह हर्ष की ही बात है कि इसके शेष अनुवाद का कार्य सन्त-साहित्य के मर्मी और विशेषज्ञ श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने किया है। और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने इसकी एक विस्तृत भूमिका भी लिख दी है जिसमें सन्तसाहित्य के अध्ययन का विकास, तथा डा० बड़थ्वाल के ग्रंथ की परिचयात्मक आलोचना भी है।

आलोचना में दृष्टिकोण का अन्तर सदा ही रहा करता है। अतः कहीं-कहीं उनके विचार से डा० बड़थ्वाल का मत समीचीन नहीं ठहरता। मैं इस सम्बन्ध में प्रत्यालोचना के झमेले में न पड़कर इतना

ही कहना चाहता हूँ कि चतुर्वेदी जी आज जिस दृष्टि से लिख रहे हैं और अब तक जो सामग्री सामने आ चुकी है उसके आधार पर, यह बहुत सम्भव है कि डा० बड़थ्वाल भी इसी प्रकार के निष्कर्षों पर पहुँचते जिन पर चतुर्वेदी जी आज पहुँच रहे हैं। जब उन्होंने 'थीसिस' लिखी थी, तब इस सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें उपलब्ध नहीं थीं और मेरा विश्वास है कि यदि समस्त पुस्तक डा० बड़थ्वाल-द्वारा अनुवादित होकर आती, तो उस समय तक के अध्ययन-सम्बन्धी विकास का समावेश उसमें अवश्य रहता। पुस्तक के नाम के सम्बन्ध में भी जो मतभेद है वह भी दूर हो जाता है जब हम डा० बड़थ्वाल-द्वारा संशोधित एक प्रति में (जो पुस्तक छपने के बाद मुझे देखने को मिल सकी) 'हिंदी काव्य की निर्गुण धारा' ही नाम पाते हैं। अतः यह आलोचना भी डा० बड़थ्वाल के द्वारा की गई भूलों का निर्देशन करने की दृष्टि से उतनी नहीं, जितनी कि ग्रंथ में आई सूचनाओं को पूर्ण प्रारम्भिक एवं उपयोगी बनाने की दृष्टि से है।

ग्रंथ के सम्पादक के रूप में मुझे यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि डा० बड़थ्वाल और चतुर्वेदी जी दोनों की शैली में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य है जिसका अनुभव सम्भवतः विज्ञ पाठकों को होगा। ऐसा नहीं जान पड़ता कि समस्त पुस्तक एक ही प्रवाह में लिखी गई है। इसका एक कारण यह भी है कि डा० बड़थ्वालजी की यह अपनी कृति है। जितनी स्वच्छन्दता वे, अपने अंग्रेजी में प्रकाशित भावों को हिंदी रूपान्तर देने में ले सकते थे उतनी अन्य कोई ले ही कैसे सकता है ? और फिर अपनी शैली की विशेषता भी रहती ही है। चतुर्वेदी जी की अनुमति प्राप्त कर मैंने दोनों ही शैलियों में यथासम्भव साम्य लाने का प्रयत्न किया है और इसके लिए मैं चतुर्वेदी जी का आभारी हूँ। यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि ये सब सुविधाएँ प्राप्त करते हुए भी मैं इसके सम्पादन के लिए जितने श्रम और समय की अपेक्षा थी

उतना नहीं दे पाया जिसका कारण मेरी व्यक्तिगत परिस्थितियाँ रही हैं। इसके लिए मैं विज्ञ पाठकों का क्षमाप्रार्थी हूँ।

इस दिशा में हिन्दी में आया हुआ डा० बड़थ्वाल का यह ग्रंथ आज भी अभी तक निकले हिन्दी के ग्रंथों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है, यह कहने में मुझे कुछ भी संकोच नहीं। 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय" नामक ग्रंथ में जिस दृष्टिकोण का प्रकाशन हुआ है वह संतसाहित्य के अध्ययन के लिए आवश्यक है और सबसे बड़ी विशेषता इसमें यह है कि संतों की पंक्तियों में विचार-सम्बन्धी जो एक विशृङ्खलता दीखती है वह इन पुस्तक का आधार ग्रहण कर चलने से नहीं रह जाती। इस साहित्य का एक निश्चित अर्थ, निश्चित उद्देश्य एवं निश्चित प्रभाव प्राप्त करने के लिए इस पुस्तक का अध्ययन बड़ा ही उपयोगी है। डा० बड़थ्वाल जी से कुछ सीखने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था और उन्हीं के निर्देशन में मैंने निरंजनी कवि संत तुरसीदास पर एक पुस्तक भी लिखी थी। इसके आधार पर मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि संतों की अटपटी वाणी को सुलझा कर ग्रहण करने का मार्ग, प्रशस्त करने का बहुत बड़ा श्रेय उनको प्राप्त है।

डा० बड़थ्वाल ने अपने जीवनकाल में हिन्दी संसार को बहुमूल्य रचनाएँ भेंट की थीं। उनके अनेक निबन्ध, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकले थे तथा उनकी अनेक पुस्तकों की संपादकीय भूमिकाएँ और टिप्पणियाँ, उनके द्वारा प्रस्तुत हिन्दी साहित्य के गंभीर अध्ययन एवं विवेचन को प्रकट करती हैं। उन सभी का स्थायी पुस्तकाकार रूप में आना परम आवश्यकीय है। डा० बड़थ्वाल परम विद्यानुरागी एवं गंभीर साहित्यिक साधक थे। हिन्दी साहित्य की सेवा उनके लिए एक पुण्य व्रत था। अपने समग्र जीवन-काल में वे उसके प्रति बड़ी निष्ठा के साथ दत्तचित्त रहे और उसके लिए एक तपस्वी का जीवन व्यतीत किया। उन्होंने साहित्य की आलोचना के विभिन्न अंगों की पूर्ति के लिए

घोर परिश्रम किया, और इतनी साधना के बाद जब आज हमें उनके जैसे कर्मठ एवं ठोस साहित्यकारों की आवश्यकता थी तब वे हमारे बीच से उठ गये। उनके निधन से हिन्दी साहित्य को एक ऐसी भारी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति सरलता से नहीं हो सकती।

श्री जुयाल जी और श्री भृगुराज जी के प्रयत्न से यह कृति हिंदी में आ रही है और मेरा विश्वास है कि यह उनके द्वारा लिखे गये समस्त साहित्य को संसार के सामने लाने के प्रयत्न का श्री गणेश है। इस पुण्यकार्य में किसी भी रूप में सहयोग देने के लिए मैं सदा ही तत्पर हूँ और अपने को गौरवान्वित समझता हूँ।

हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
अनंत चतुर्दशी, २००७ वि०

भगीरथ मिश्र

विषय-सूची

पहला अध्याय

परिस्थितियों का प्रसाद (१-३१)

१. आमुख—(१-२), २ मुस्लिम आक्रमण (२-६), ३ वर्ण-व्यवस्था की विषमता (६-८), ४. भगवच्छरणागति (८-१४), ५. सम्मिलन का आयोजन (१४-१७), ६. हिन्दी विचारधारा और सूफी धर्म (१७-२१), ७ शूद्रोद्धार (२२-२६), ८. निर्गुणसंप्रदाय (२६-३१)।

दूसरा अध्याय

निर्गुण संत संप्रदाय के प्रसारक

१. परवर्ती संत (३२-३३), २. जयदेव (३३), ३. नामदेव (३४-३५), ४. त्रिलोचन (३६), ५. रामानन्द (३६-३९), ६. रामानन्द के शिष्य (३९-४१), ७. रामानन्द का समय (४१-४३), ८. कबीर (४३-६२), ९. नानक (६२-७१), १०. दादू (७१-७४), ११. प्राणनाथ (७४-७६), १२. बाबालाल (७६-७७), १३. मलूकदास (७७-८०), १४. दीनदरवेश (८१), १५. यारीसाहब और उनकी परम्परा (८२), १६. जगजीवनदास द्वितीय (८२-८३); १७. पलटूदास (८३-८४), १८. धरनीदास (८४), १९. दरियाद्वय (८५), २०. बुल्लेशाह (८६), २१. चरनदास (८६-८८), २२. शिवनारायण (८८), २३. गरीबदास (८८), २४. तुलसीसाहब (८९-९१), २५. शिवदयाल (९१-९२)।

तीसरा अध्याय

निर्गुण संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त

१. एकेश्वर (९३-१०१), २. पूर्णब्रह्म (१०१-१०८), ३. परात्पर (१०८-११४), ४. परमात्मा, आत्मा और जड़ पदार्थ (११४-

१२०), ५. सद्गुरु-सम्बन्ध (१२०-१२६), ६ जीवात्मा और जड़-जगत् (१२६-१४७), ७. सहजज्ञान (१४७-१५६), ८. उपनिषद्, मूलस्रोत (१५६-१६०), ६. निरञ्जन (१६१-१६४), १०. अवतार-वाद (१६५-१७४) ।

चतुर्थ अध्याय

निर्गुण पंथ

१. प्रत्यावर्तन की यात्रा (१७४-१८६), २. मध्यममार्ग (१८६-१६६), ३. आध्यात्मिक वातावरण (१६६-२०६), ४. पथप्रदर्शक गुरु (२०७-२१६), ५. नामसुमिरन, प्रार्थना (२१७-२२८), ६. शब्दयोग (२२६-२५४), ७. अन्तर्दृष्टि (२५५-२६६), ८. परचा, अंतिम अनुभूति (२६७-२७८), ६. समाज की उन्नति (२७८-३०१) ।

पंचम अध्याय

पंथ का स्वरूप

१. क्या निर्गुणपंथ कोई मिश्रित सम्प्रदाय है ? (३०२-३१६) ।

२. क्या निर्गुणपंथ साम्प्रदायिक है ? (३१६-३३४) ।

षष्ठ अध्याय

अनुभूति की अभिव्यक्ति

१. सत्य का साधन (३३५-३४५), २. निर्गुण बानियों का काव्यत्व (३४५-३५३), ३. प्रेम का रूपक (३५३-३७०), ४. उल्टवाँसियाँ (३७०-३७६) ।

परिशिष्ट

१. पारिभाषिक शब्दावली (३७७-३८०) ।

२. निर्गुण सम्प्रदाय-सम्बन्धी पुस्तकें (३८१-४०४) ।

३. विशेष बातें (४०५-४४२) ।

हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय

पहला अध्याय

परिस्थितियों का प्रसाद

१. आमुख

इस क्षणिक जीवन के परवर्ती अनंत अमर जीवन के लिए आकुलता भारत की अन्तरात्मा का सार है। परलोक की साधना में ही वह इहलोक की सार्थकता मानती है। आत्मा और परमात्मा की ऐक्य-साधना का निर्देश करनेवाली मधुर वाणी का भारतीयों की भावना, रुचि और आकांक्षा के ऊपर सर्वदा से वर्णनातीत अधिकार रहा है। भारतीय जीवन में संचार करनेवाली आध्यात्मिक प्रवृत्ति की इस धारा के उद्गम अत्यन्त प्राचीनता के कुहरे में छिपे हुए हैं। युग-युगांतर को पार करती हुई यह धारा अबाध रूप से बहती चली आ रही है। प्रवाह-भूमि के अनुरूप कभी सिमटती, कभी फैलती, कभी बालुका में विलीन होती और फिर प्रकट होती हुई वह अनेक रूप अवश्य धारण करती आई है परंतु उसका प्रवाह कभी बंद नहीं हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी में इस धारा ने जो रूप धारण किया, वह किसी उपयुक्त नाम के अभाव में 'निर्गुण संत संप्रदाय' कहलाता है। इसी संप्रदाय के स्वरूप का उद्घाटन इस निबंध का विषय है। इस संप्रदाय के प्रवर्तकों ने अपने सर्वजनोपयोगी

उपदेशों के लिए जनभाषा हिंदी को ही अपनाया था। इसलिये इसका प्रतिरूप हिंदी के काव्य-साहित्य में मुख्यतः है। सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक और अन्य कारणों ने मिलकर इस आंदोलन को रूप की जो नवीनता और भाव की जो गहनता प्रदान की वही इसकी विशेषता है। मुसलमानों का भारत विजय के बाद भारत की राजनीतिक अवस्था ने, जिसमें दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों का व्यापक संघर्ष आरंभ हुआ, इस आंदोलन के प्रसार के लिये उपयुक्त भूमि प्रस्तुत की। संत-संप्रदाय की विचार-धारा को अच्छी तरह समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले उन विशेष परिस्थितियों से परिचित हो जाएँ, जिनमें इसका जन्म हुआ। अतएव पहले उन्हीं परिस्थितियों का उल्लेख किया जाता है।

२. मुस्लिम-आक्रमण

यद्यपि कुरान ऐलान करती है कि "धर्म में बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए। विश्वास लाने के लिये कोई मजबूर नहीं किया जा सकता। विश्वास केवल परमात्मा की प्रेरणा से ही सकता है।"*, फिर भी इस्लाम के प्रचार में तलवार ही का अधिक हाथ रहा है। अरबों ने, और उनके बाद इस्लाम धर्म में प्रवेश करानेवाली अन्य जातियों ने, देश-देशांतरों में विनाश का प्रचंड तांडव उपस्थित कर दिया। चीन से स्पेन तक की भूमि पर उन्होंने जुल्म का कहर ढा दिया। जहाँ-जहाँ वे गए, देश वीरान, घर उजाड़ और जन-समुदाय काल के कवल हो गए। भारत की शस्य-श्यामला भूमि, चिरविश्रुत लक्ष्मी और जनाकीर्ण देश ने बहुत शीघ्र मुसलमानों को आकृष्ट कर लिया। यहाँ उन्हें धर्म-प्रसार और राज्य-विस्तार दोनों की संभावना दिखाई दी। निरपेक्षता, तत्त्वज्ञान और विभव की इस भूमि को भी धर्मांध-विश्वासियों के लोभ-

---

* सेल, "अल कुरान", पृ. ५०२।

प्रेरित विनाशकारी हाथों ने वही दशा करने का आयोजन किया जो उनसे आक्रांत और देशों की हुई थी। नर-नारी, बाल-वृद्ध, विद्या-भवन-पुस्तकालय, देवालय और कलाकृतियाँ कोई भी इतनी पवित्र न समझी गई कि नाश के गह्वर में जाने से बच सकतीं। यद्यपि हिंदुओं ने आसानी से पराजय स्वीकार न की और वे अंत तक पद-पद पर दृढ़ता से विरोध करते रहे, तथापि उनकी निश्छल निर्भयता, धर्मयुद्ध की भावना, पराजित शत्रु के प्रति क्षमाशील उदारता तथा अनेक अंधविश्वासों ने मिलकर उनकी पराजय का कारण उपस्थित कर दिया और उन्हें काल की विपरीतता के आगे सिर झुकाना पड़ा।

महमूद ग़जनवी के बारह और मुहम्मद गोरी के दो-तीन आक्रमण प्रसिद्ध ही हैं। ग़जनवी के साथ अल-बेरूनी नामक एक प्रसिद्ध इतिहासकार आया था। उसने अपने आश्रयदाता के संबंध में लिखा है कि उसने देश के वैभव को पूरी तरह से मटियामेट कर दिया और अचरज के वे कारनामे किए, जिनसे हिंदू धूल के चारों ओर फैले हुए कण मात्र, अथवा लोगों के मुँह पर की पुराने जमाने की एक कहानी मात्र रह गए [*]।

वास्तविक युद्ध में तो असंख्य वीरों की मृत्यु होती ही थी, उनके अतिरिक्त भी प्रायः प्रत्येक नृशंस विजेता हजारों लाखों व्यक्तियों की हत्या कर डालता था और हजारों को गुलाम बना लेता था। उनकी लूट-पाट का तो अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। सरस्वती और संस्कृति के केन्द्र भी अछूते न छोड़े गए। जब वि० सं० १२५४ (सन् ११९७) में मुहम्मद-बिन-बख़्त्यार ने बिहार की राजधानी पर अधिकार किया तब उसने वहाँ के बृहद् बौद्ध-विहार को ध्वंस कर दिया, वहाँ के जिस निवासी को पकड़ पाया, तलवार के घाट उतार दिया और

---

[*] ईश्वरीप्रसाद की 'मेडीवल इंडिया', पृ० ९२ मे दिया हुआ अवतरण।

हिंदुओं से वसूल किए जानेवाले कर कम न थे। अलाउद्दीन के राजत्वकाल में उन्हें अपने पसीने की कमाई का आधा राज-कोष में दे देना पड़ता था। ऐसी स्थिति में उनके पास इतना भी न बच रहता था कि वे किसी तरह अपने कष्टमय जीवन के दिन काट सकते। बरनी के अनुसार, हिंदुओं में से जो धनाढ्य समझे जाते थे, वे भी घोड़े पर सवारी न कर सकते थे, हथियार न रख सकते थे, सुन्दर वस्त्र न पहन सकते थे, यहाँ तक कि पान भी न खा सकते थे। उनकी पत्नियों को भी मुसलमानों के यहाँ मज़दूरी करनी पड़ती थी*।

हिंदुओं के लिए धार्मिक स्वतंत्रता का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। उनके धर्म के लिए प्रत्यक्ष रूप से घृणा प्रदर्शित की जाती थी। देवालयों को गिराना, देवमूर्तियों को तोड़ना और उनको अनुचित स्थानों में चुनवाना प्रायः प्रत्येक मुस्लिम विजेता और शासक के लिये शौक का काम होता था। फ़ीरोज़शाह ने (रा०—१३५७, मृ०—१३८८) इस लिये एक ब्राह्मण को जीता जला दिया था कि उसने खुले आम हिंदू विधि के अनुसार पूजा की थी×। फिरिश्ता ने कैथन के रहनेवाले बुद्धन नाम के एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है जिसकी सिकंदर लोदी के सामने इसलिए हत्या कर डाली गई थी कि उसने जन-समुदाय में इस बात की घोषणा की थी कि हिन्दू धर्म भी उतना ही महान् है जितना पैगंबर मुहम्मद का धर्म। कहते हैं कि यह दंड उसे उलमाओं की एक समिति के निर्णय के अनुसार मिला था। उलमाओं ने उसे मृत्यु और इस्लाम इन दोनों में से एक को चुनने को कहा था। बुद्धन ने आत्मा के हनन

---

* "तारीखे फ़ीरोज़शाही", पृ० २८८; ई० प्र०—"मेडीवल इंडिया", पृष्ठ १८२-८३; "बिब्लोथिका इंडिका", ४७५।

× स्मिथ "स्टूडेंट्स हिस्ट्री आफ़ इण्डिया" पृष्ठ १२६।

की अपेक्षा शरीर के टुकड़े करा डालना श्रेयस्कर समझा, और वह मरकर इतिहास के पृष्ठों में अमर हो गया।+

इस प्रकार पठानी सल्तनत के समय तक आदरास्पद राष्ट्रजन (सिटिज़न) के समस्त अधिकारों से हिंदू जनता सर्वथा वंचित थी। उसका निराशामय जीवन विपत्ति की एक लंबी गाथा मात्र रह गया था। कोई ऐसी पार्थिव वस्तु उनके पास न रह गई थी, जो उनके अनुभव की कटुता में विश्राम का जरा भी सन्निवेश कर सकती। उसके लिये भविष्य सर्वथा अंधकारमय हो गया था। अंधकार की उस प्रगाढ़ता में प्रकाश की क्षीण से क्षीण रेखा भी न दिखलाई पड़ती थी।

किंतु हिंदू धर्म को केवल मुसलमानों से ही नहीं, स्वयं हिंदुओं के अत्याचार से भी बचाना आवश्यक था। अपने ऊपर अपना ही यह अत्याचार हिंदू-मुस्लिम-संघर्ष से प्रकाश में आया।

३. वर्ण-व्यवस्था की विषमता

हिंदुत्व ने इस बात का प्रयत्न किया है कि सामाजिक हो अथवा राजनीतिक, कोई भी धर्म व्यक्तिगत धींगाझपटी का विषय होकर सामाजिक शांति में बाधक न बने। इस दृष्टि से उसमें मनुष्य-मनुष्य के कार्यों की मर्यादा पहले ही से प्रतिष्ठित कर दी गई है। यही वर्ण-व्यवस्था है, जिसमें गुणानुसार कर्मों का विभाग किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य के गुण बहुधा परिस्थितियों के ही परिणाम होते हैं। अतएव धीरे-धीरे वर्ण का जन्म से ही माना जाना स्वाभाविक था, क्योंकि परिस्थितियाँ जन्म से ही प्रभाव डालना आरंभ कर देती हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जन्म से पड़नेवाला प्रभाव माता-पिता के गुणों का ही होगा अथवा यह कि जन्म से पड़नेवाले प्रभाव अन्य प्रबलतर प्रभावों के आगे मिट नहीं सकते। परंतु धीरे-धीरे भारतीय इस बात को भूल गए कि कभी-

---

+ ईश्वरीप्रसाद—"मेडीवल इंडिया", पृष्ठ ४८-१८२।

कभी नियमों का ठीक-ठीक पालन उनको तोड़कर ही किया जा सकता है। नियमों के भी अपवाद होते हैं, यह उनके ध्यान में न रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदुत्व के धार्मिक नियमों का वास्तविक अभिप्राय दृष्टि से ओझल हो गया और समस्त हिंदू जाति केवल शब्दों की अनुगामिनी बन गई। जो नियम समाज में शांति, मर्यादा और व्यवस्था रखने के लिये बनाए गये थे, वे इस प्रकार समाज में वैषम्य और क्रूरता के विधायक बन गये। जीवन के कार्य-क्रम के चुनाव में व्यक्तिगत प्रवृत्ति का प्रश्न ही न रहा। जिस वर्ण में व्यक्ति-विशेष ने जन्म पा लिया, उस वर्ण के निश्चित कार्य-क्रम को छोड़कर और सब मार्ग उसके लिये सर्वदा के लिये बंद हो गए। उद्यम का विभाजन तथा कार्य-व्यापार में कौशल-प्राप्ति का उपाय न रहकर वर्ण-विभाग सामाजिक विभेद हो गया। जिसमें कोई उच्च और कोई नीच समझा जाने लगा। शूद्र, जो नीचतम वर्ण में थे, सभ्य-समाज के सब अधिकारों से वंचित रह गए। वेद और धर्मशास्त्रों के अध्ययन का उन्हें अधिकार न था। उनमें से भी अंत्यजों के लिये तो देव-दर्शन के लिये मंदिर-प्रवेश भी निषिद्ध था। उनका स्पर्श तक अपवित्र समझा जाता था।

शताब्दियों तक इस दशा में रहने के कारण शूद्रों के लिये यह सामान्य और स्वाभाविक सी बात हो गई थी। इसका अनौचित्य उन्हें एकाएक खटकता न था। परंतु मुसलमानों के संसर्ग ने उन्हें जागरित कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति की वास्तविकता का परिज्ञान हो गया। मुसलमान-मुसलमान में कोई भेद-भाव न था। उनमें न कोई नीच था, न ऊँच। मुसलमान होने पर छोटे से छोटा व्यक्ति अपने आपको सामाजिक दृष्टि में किसी भी दूसरे मुसलमान के बराबर समझ सकता था। अहले-इस्लाम होने के कारण वे सब बराबर थे। पर हिंदू धर्म में यह संभव न था।

इस प्रकार के घृणाव्यंजक विभेदों को हिंदू समाज में रहने देना

उनके हृदय में अपनी सुरक्षता की दृढ़ भावना भी बद्धमूल कर दी थी। कृष्ण के प्रेम में जनता ने अर्जुन के समान ही अपने आपको सुरक्षित समझा। ईसा के चार सौ वर्ष पहले चंद्रगुप्त मौर्य की सभा में रहनेवाले यवन राजदूत मेगास्थनीज़ ने जिस 'हिरंक्लीज' (हरि=कृष्ण) को 'उन शौरसेनियों का उपास्य देव बतलाया जिनके देश में मथुरा नगरी अवस्थित है और यमुना प्रवाहित होती है', वह कृष्ण ही था। पांचरात्रों के द्वारा गृहीत होने के कारण यह ऐकांतिक धर्म पांचरात्र और सात्वतों के कारण सात्त्वत धर्म कहलाया। नारायण के साथ एकरूप होकर, कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे इसलिए वह वैष्णव धर्म कहलाया। इनके भगवान् या भगवत् कहलाने से इस धर्म की भागवत संज्ञा भी हुई। ईसा से १४० वर्ष पूर्व तक्षशिला के यवन राजा एंटि-आल्काइडस का राजदूत, डिग्रोस का पुत्र हेलिओडोरस जो विदिशा के राजा काशिपुत्र भागभद्र की सभा में रहता था, भागवत था। उसने 'देवदेव वासुदेव का' गरुड़ध्वज-स्तंभ बनावाया था जिस पर उसने अपने आपको स्पष्टतया भागवत लिखा था*। गुप्त-राजकुल, जिसका समय चौथी से आठवीं शताब्दी तक है, वैष्णव था। गुप्त राजा अपने आपको परम-भागवत कहा करते थे। उनके सिक्के तथा बिहार, मथुरा और भिटारी के उनके शिलालेख इस बात के साक्षी हैं+।

चोल मंडल (कारोमंडल) तट पर वेंगी के पल्लवों के शिलालेखों

---

* देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं
कारिते इअ हेलिओदोरेण भागवतेन
दियसपुत्रेण तखसिलाकेन योनदूतेन
आगतेन महाराजस अंतलितस उपंता सकासं
रजो कासिपुत्रस भागभद्रस त्रातारस।

\+ कनिंघम—'आर्केलाजिकल सर्वे', भाग १, प्लेट १७ और ३०।

से पता चलता है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी के गुप्त राजाओं में भी भागवत धर्म का सम्मान था।* गुजरात के वलभियों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उनके इसी शताब्दी के शिलालेख से यह बात स्पष्ट है। सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में पांचरात्र और भागवत दोनों का उल्लेख किया है।

शङ्कर-दिग्विजय के अनुसार शंकर को पांचरात्र और भागवत दोनों से शास्त्रार्थ करना पड़ा था। शंकर का समय कोई सातवीं शताब्दी मानते हैं और कोई नवीं।

दक्षिण भारत में यह नारायणीय भागवत धर्म कब प्रचारित हुआ, इसका कोई स्पष्ट अनुमान नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही वह वहाँ पहुँच गया था; और दसवीं शताब्दी में यद्यपि शैव धर्म के प्रमुख स्थान को वह नहीं छीन सका था, फिर भी बद्धमूल तो अवश्य हो गया था। तामिलभूमि के आलवार संतों को हम इस शताब्दी से पहले ही पूर्ण वैष्णव पाते हैं। वैष्णव धर्म का अनुगमन वे केवल शब्दों द्वारा ही नहीं करते थे, प्रत्युत वह उनके समस्त जीवन में व्याप्त था। इन आलवार संतों ने सीधी-सादी तामिल भाषा की कविताओं में अपने हृदय के स्वाभाविक उद्गारों को प्रकट किया है। अंतिम प्रसिद्ध आलवार शठकोप अथवा नम्मालवार था जिसके शिष्य नाथमुनि ने आलवारों की चार हजार कविताओं का एक बृहत् संग्रह प्रस्तुत किया था। इस संग्रह का तामिल में वेदतुल्य आदर है।

नाथमुनि से आलवारों की शाखा समाप्त हो जाती है और प्रसिद्ध आचार्यों की शाखा आरम्भ होती है। आलवार प्रायः नीची जातियों के होते थे परन्तु ये वैष्णव आचार्यगण उच्च ब्राह्मण कुल के थे। नाथमुनि

---

* 'इण्डियन एंटिक्वेरी', भाग ५, पृ० ५१ और १७६।

(वि० सं० १०४२-१०८७; सन् ६८५-१०३० ई०) परम कृष्णभक्त थे। कृष्ण के जन्म-सम्बन्धी समस्त स्थानों के उन्होंने दर्शन किए थे। मथुरा-वृन्दावन, द्वारका आदि स्थानों की यात्रा करके जब वे लौटे तो अपने नवजात पौत्र का उन्होंने यमुना-तट-विहारी की यादगार में यामुन नाम रखा। यामुनाचार्य अपने पितामह से भी बड़ा पंडित हुआ। वह चोलराज का पुरोहित था। राजा ने एक बार सांप्रदायिक शास्त्रार्थ में अपना राज्य ही दाँव पर रख दिया था। उस अवसर पर विजय प्राप्त कर यामुन ने अपने स्वामी की आन रखी थी। पितामह के मरने पर यामुन संन्यासी हो गया और बड़े उत्साह से वैष्णव धर्म का प्रचार करने लगा। परन्तु वैष्णव धर्म को व्यवस्थित करने में इन दोनों से अधिक सफलता रामानुज को हुई जो बाद को नामानुसार लक्ष्मण और शेषनाग के अवतार माने जाने लगे। रामानुज भी दूसरी शाखा से नाथमुनि के प्रपौत्र थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा शांकर अद्वैत के आचार्य यादवप्रकाश के यहाँ हुई थी। अद्वैतवाद उनके मनोनुकूल न था, इसलिये यादवप्रकाश से उनकी निभी नहीं। यामुनाचार्य ने उन्हें अपने पास बुलाया, परन्तु उन्हें श्री संप्रदाय में दीक्षित करने के लिये वे जीवित न रह सके। रामानुज को केवल उनके शव का दर्शन हुआ।

श्री वैष्णव संप्रदाय की आधारशिला विशिष्टाद्वैत को, जिसे नाथमुनि ने तैयार किया था, रामानुज ने दृढ़ रूप से आरोपित कर दिया। वेदांत सूत्र पर उनका श्रीभाष्य बहुत प्रसिद्ध हुआ। गीता और उपनिषदों के भी उन्होंने विशिष्टाद्वैती भाष्य किए। इन भाष्यों में उन्होंने शंकर के मायावाद का खंडन किया और माया को ब्रह्म में निहित मानकर उसमें गुणों का आरोप कर लिया जिससे तत्त्व रूप से भी भक्ति के लिये दृढ़ आधार निकल आया। यदि ब्रह्म में ही गुणों का अभाव है, वह तत्त्वतः कल्याणकल्याणालय नहीं है, तो ईश्वर ही में गुणों का आरोप कहाँ से हो सकता है? भक्त का उद्धार ही कैसे हो सकता

है ? शंकर के रूखे अद्वैतवाद से ऊबे हुए लोगों को यह विचारधारा अत्यंत आकर्षक प्रतीत हुई। बड़े-बड़े प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में रामानुज के आगे सिर झुकाना पड़ा। नृपतिगण इनके शिष्य होने लगे। इन्होंने सैकड़ों मंदिर बनवाए और शीघ्र ही इनके भक्तिमूलक सिद्धांतों का जन समाज में प्रचलन हो गया।

यादवाचल पर नारायण की मूर्ति की स्थापना के साथ रामानुज ने भक्ति की जिस धारा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया वह समय पाकर देश को एक छोर से दूसरे छोर तक प्लावित करती हुई बहने लगी। उन्नतमनाओं का एक समूह, जिनके हृदय में परमात्मा की दिव्य-ज्योति अपनी पूर्ण आभा से जगमगा रही थी, इस प्लावन के विशेष कारण हुए।

रामानुज का समय बारहवीं शताब्दी माना जाता है। रामानुज ही के समय में निंबार्क ने अपने में भेदाभेद के सिद्धान्त को लेकर वैष्णवमत की पुष्टि की। निंबार्क भागवत-कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने राधाकृष्ण की उपासना को प्राधान्य दिया और वृन्दावन में आकर प्राचीन स्मृतियों के बीच अपने राधाकृष्णमय जीवन को सार्थक समझा।

कर्णाटक और गुजरात में आनंदतीर्थ (मध्व) ने वि० सं० १२५७ से १३३२ (सन् १२०० से १२७५ ई०) के बीच अपने द्वैतवाद के द्वारा उपास्य और उपासक के लिए पूर्ण स्थूल आधार निकालकर वैष्णव भक्ति का प्रचार किया।

महाराष्ट्र में पंढरपुर का विठोबा का मन्दिर वैष्णव धर्म के प्रचार का केन्द्र हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी में मुकुंदराज ने अद्वैतमूलक सिद्धांतों को लेकर वैष्णव धर्म का समर्थन किया। नामदेव, ज्ञानदेव आदि पर स्पष्ट ही उसका प्रभाव पड़ा था।

बंगाल में चैतन्यदेव (सं० १५४२-१५९०) और उनकी शिष्य-

मंडली ने भक्ति की उन्मादकारिणी विह्वलता में जन-समाज को भी पागल बना दिया।

उत्तर में राघवानंद और रामानंद तथा वल्लभाचार्य के प्रयत्न से वैष्णव भक्ति का प्रवाह सर्वप्रिय हो गया। राघवानंद रामानुजी श्रीवैष्णव थे और रामानंद उनके शिष्य, जिनका अलग ही एक संप्रदाय चला। गोसाईं तुलसीदास उन्हीं के संप्रदाय में हुए। रामानंद ने सीताराम की भक्ति का प्रतिपादन किया और वल्लभ ने शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग को लेकर राधा-कृष्ण की भक्ति चलाई।

ठीक इसी समय उत्तर भारत के हिंदुओं को मुस्लिम-विजय के कारण समस्त विरक्तिमय धर्मों के उस मूल सिद्धांत का अपने ही जीवन में अनुभव हो रहा था, जिसके अनुसार संसार केवल दुःख का आगार मात्र है। उस समय वे ऐसी परिस्थिति में थे जिसमें संसार की अनित्यता का, उसके सुख और वैभव की विनश्वरता का स्वाभाविक रूप से ही अनुभव हो जाता है। अतएव अत्याचार के नीचे पिसकर विपत्ति में पड़े हुए हिंदुओं ने सांसारिक सुख और विभव से अपनी दृष्टि मोड़ ली, और उस एकमात्र आनंद को प्राप्त करने के लिए जिससे उन्हें वंचित रख सकना किसी की सामर्थ्य में नहीं था, वे वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रचारित इस भक्ति की धारा में उत्सुकता के साथ डुबकी लगाने लगे।

इस आनंद का उद्रेक देश के विभिन्न भागों से कवियों की मधुर वाणी में छलक-छलककर बहने लगा। बंगाल में उमापति (१०५० वि० सं०) और जयदेव (१२२० वि० सं०) अपने हृदय के मृदुल उद्गारों को दिव्य गीतों में पहले ही प्रकट कर चुके थे। जयदेव के जगत्प्रसिद्ध गीतगोविंद के राधामाधव के क्रीड़ा-कलापों की प्रतिध्वनि मैथिल कोकिल विद्यापति (१४५० वि० सं०) की कोमल-कांत 'पदावली' में सुनाई दी। गुजरात में नरसी मेहता ने, मारवाड़ में मीराबाई ने, मध्यदेश में

सूरदास ने और महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, नामदेव और तुकाराम ने इस भक्तिमूलक आनंद की अजस्त्र वर्षा कर दी।

इससे हिंदुओं को प्रतिरोध की एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति प्राप्त हुई, जिसने उन्हें भय की उपेक्षा, अत्याचारों का सहन और प्राणांतक कष्टों को सहते हुए भी जीवन धारण करना सिखाया। इस प्रकार जो जाति नैराश्य के गर्त में पड़कर जीवन की आशा छोड़ चुकी थी, उसने वह सत्त्व संचय कर लिया जिसने क्षीण होने का नाम न लिया।

भगवान् के दिव्य सौंदर्य से उदय होनेवाला आनंदातिरेक निष्क्रिय शक्ति का ही रूप धारण करके नहीं रह गया। उसने दैत्य-विनाशिनी क्रियमाण शक्ति का रूप भी देखा। तुलसीदास ने पुरानी कहानी में इसी अनंत शक्ति से संयुक्त राम को अपने अमोघ बाण का संधान किए हुए अन्यायी रावण के विरुद्ध खड़ा दिखाया। भक्त-शिरोमणि समर्थ रामदास ने तो आगे चलकर शिवाजी में वह शक्ति भर दी, जिसने शिवाजी को भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान दिला दिया।

परंतु वैष्णव आंदोलन से भी परिस्थिति की सब आवश्यकताओं की पूर्ति न हुई। घटनाओं के प्रवाह ने जिन दो जातियों को भारत में ला इकट्ठा किया, उनके बीच सार्वत्रिक विरोध था। विजेता और विजित में स्थिति का कुछ अंतर तो होता ही है, परंतु इन दोनों जातियों के बीच ऐसे धार्मिक विरोध भी थे जो विजेताओं को अधिकाधिक दुर्व्यवहार और अत्याचार करने की प्रेरणा करते थे।

५. सम्मिलन का आयोजन

मुस्लिम विजय केवल मुस्लिम राजा की विजय न थी, बल्कि मुहम्मद की विजय भी थी। इस्लाम की सेना केवल अपने राजा के राज्य-विस्तार के उद्देश्य से नहीं लड़ रही थी, बल्कि 'दीन' के प्रसार के लिये भी। अतएव यह दो जातियों का ही युद्ध न था, दो धर्मों का युद्ध भी था। हिंदू मूर्तिपूजक था, मुसलमान मूर्ति-भंजक। हिंदू बहुदेववादी था पर-

मुसलमान के लिये एक अल्लाह को छोड़कर, मुहम्मद जिसका रसूल है, किसी दूसरे के सामने सिर झुकाना कुफ़्र था, और कुफ़्र के अपराधी काफ़िर की हत्या करना धार्मिक दृष्टि से अभिनंदनीय समझा जाता था, यहाँ तक कि हत्यारे को ग़ाज़ी की उपाधि दी जाती थी। इस सम्मान के लिए प्रत्येक अहले-इस्लाम लालायित रहता रहा होगा। अतएव कोई आश्चर्य नहीं कि हिंदुओं पर मुसलमानों का अत्याचार उतार पर न था और न मुसलमानों के प्रति हिंदुओं की ही वह "घोर घृणा" कम हो रही थी, जिसके अल-बेरूनी को दर्शन हुए थे*। इस प्रकार इन दो जातियों के बीच द्वेष का विस्तीर्ण समुद्र था जिसे पार करना अभी शेष था।

सौभाग्य से दोनों जातियों में ऐसे भी महामना थे, जिनको यह अवस्था शोचनीय प्रतीत हुई। वे इस बात का अनुभव करते थे कि न तो मुसलमान इस देश से बाहर खदेड़े जा सकते हैं और न धर्म-परिवर्तन अथवा हत्या से हिंदुओं की इतिश्री ही की जा सकती है। उस समय की यही स्पष्ट आवश्यकता थी कि हिंदू और मुसलमान अड़ोसी-पड़ोसी की भाँति प्रेम और शांति से रहें और इन उदारचेताओं को भी इस आवश्यकता का स्पष्ट अनुभव हुआ। दोनों जातियों के दूरदर्शी विरक्त महात्माओं को, जिन्हें जातीय पक्षपात छू नहीं गया था, जिनकी दृष्टि तत्काल के हानि-लाभ सुख-दुख और हर्ष-विषाद के परे जा सकती थी, इस आवश्यकता का सबसे तीव्र अनुभव हुआ। प्रसिद्ध योगिराज गुरु गोरखनाथ× ने—जिनका समय दसवीं शताब्दी के लगभग ठहरता है—क़ुरान में प्रतिपादित बलात्कार का निषेध करनेवाले उस दिव्य सिद्धांत को मुसलमानों के हृदय पर अंकित करने का प्रयत्न किया है, जिसका

---

* ई० प्र०—"मेडीवल इंडिया", पृ० ६२।

× गोरखनाथ संबंधी अपने अनुसंधान का मैं एक अलग निबंध में समावेश कर रहा हूँ।

पीछे उल्लेख किया जा चुका है। एक काज़ी को संबोधित करके उन्होंने कहा था कि "हे काज़ी! तुम व्यर्थ मुहम्मद मुहम्मद न कहा करो। मुहम्मद को समझ सकना बहुत कठिन है. मुहम्मद के हाथ में जो छुरी थी वह लोहे अथवा इस्पात की बनी नहीं थी *।" अर्थात् वे प्रेम अथवा आध्यात्मिक आकर्षण से लोगों को वश में करते थे। हिमालय में प्रचलित ग्रंथों में इस बात का उल्लेख है कि महात्मा गोरखनाथ ने हिंदू मुसलमान दोनों को अपना चेला बनाया था×। बाबा रतन हाजी उनका मुसलमान चेला मालूम पड़ता है, जिसने मुहम्मद नामक किसी मुसलमान बादशाह को प्रबोधित करते हुए 'काफिर बोध' नामक पद्य-ग्रन्थ लिखा था, जो आजकल कहीं गोरखनाथ और कहीं कबीर का माना जाता है। 'काफिर-बोध' में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि हिंदू और मुसलमान में भेद-भाव नहीं रखना चाहिए, क्योंकि जिस बिंदु से हिंदू-मुसलमान पैदा होते हैं, वह न हिंदू है, न मुसलमान। हिंदू-मुसलमान दोनों एक ही परमात्मा के सेवक हैं, अतएव हम जोगी किसी से पक्षपात नहीं रखते+।

---

* मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी मुहम्मद का विषम विचारं।
मुहम्मद हाथि करद जे होती लोहे गढ़ी न सारं॥
—"जोगेश्वरी साखी", ८, पौड़ी हस्तलेख।

× हिंदू मुसलमान बाल गुदाई। दोऊ महूरथ लिये लगाई॥
—"रखवाली"।

\+ जिस पाणी में कुल आलम उतपानां।
ते हिन्दू बोलिए कि मुसलमाना॥ २०॥
हिन्दू मुसलमान खुदाइ के बंदे।
हम जोगी ना रखें किस ही के छंदे॥ ६॥
—"पौड़ी हस्तलेख", पृ० २४३।

लगभग दो शताब्दी के बाद वैष्णव साधु रामानन्द ने कबीर नाम के एक मुसलमान युवक को अपना चेला बनाया, जिसके भाग्य में एक बड़े भारी ऐक्य-आन्दोलन का प्रवर्तक होना लिखा था।

स्वयं मुसलमानों में ऐसे लोगों का अभाव न था जो हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष के अनौचित्य को देख सकते। उनमें प्रमुख सूफी फकीर थे जिनकी विचार-धारा हिन्दुओं के अधिक मेल में थी।

६. हिंदू विचार-धारा और सूफी धर्म

सूफी मत का उदय अरब में हुआ था। अरब और भारत का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। इतना तो पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं कि अरब और भारत का व्यापार-सम्बन्ध ईसा के १०८६ वर्ष पूर्व से है*। बौद्ध धर्म ने अशोक के राजत्व-काल में भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को पार कर लिया था। महायान धर्म, जिसमें बुद्ध धर्म ने भक्तियोग, दर्शनशास्त्र को बहुत कुछ अपना लिया था, ईसा की पाँचवीं शताब्दी में पश्चिमोत्तर भारत से बाहर कदम रख चुका था। फाहियान को खुटान में उसके दर्शन हुए थे। डाक्टर स्टीन की खोजों से फाहियान का समर्थन होता है। ई० सन् ७१२ में अरबों ने सिन्ध-विजय की। अरब विजेता भारत से केवल लूट-पाट का माल ही नहीं ले गए, प्रत्युत भारतीय संस्कृति में उन्हें जो कुछ सुन्दर और कल्याणकर मिला, उससे भी उन्होंने लाभ उठाया। भारतीय संस्कृति, भारतीय विज्ञान,

---

* लंदन की रायल सोसाइटि ऑव आर्ट के भारतीय विभाग के सामने कप्तान पी० जॉन्स्टन सेट का दिया हुआ **ऐन आउट-लाइन ऑव दि हिस्टरी ऑव मेडिसिन इन इंडिया** (भारतीय औषध-विज्ञान के इतिहास की रूप-रेखा) शीर्षक सर जार्ज बर्डउड-स्मारक व्याख्यान, जिससे कुछ अवतरण हिन्दू युनिवर्सिटी मैगेजीन-भाग २९, नं० ३, पृ० २३० मे और उसके आगे के पृष्ठों में छपे थे।

भारतीय दर्शन सबका उन्होंने समादर किया और अरब को ले गए। इसी शताब्दी में, अरब में, सूफी मत का उदय हुआ। सूफी शब्द का पहला उल्लेख सीरिया के जाहिद अबूहाशिम की रचनाओं में मिलता है, जिसकी मृत्यु ई० सन् ७८० में हुई। सन् ७५४ से ८०६ तक बगदाद के अब्बासी सिंहासन पर मंसूर और हारूँ रशीद सदृश उदार खलीफा बैठे, जिन्होंने विद्या और संस्कृति को अपने यहाँ उदारता-पूर्ण प्रश्रय दिया। अपने बरामका मंत्रियों की सलाह से उन्हें इस सम्बन्ध में बड़ी सहायता मिलती थी। बरामका लोग पहले बौद्ध थे, पीछे से उन्होंने इस्लाम धर्म को ग्रहण कर लिया×। उनका भारतीय संस्कृति से आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। सन् ७६० से ८१० तक याहिया बरामकी मन्त्री रहा। उसने एक योग्य व्यक्ति को भारतीय धर्मों और भारतीय चिकित्साशास्त्र का अध्ययन और अन्वेषण करने के लिये भारत भेजा। इस व्यक्ति ने अध्ययन और अन्वेषण से जो कुछ पता लगाया, उसका लंबा-चौड़ा विवरण लिखा। यद्यपि यह विवरण अब लभ्य नहीं है, तो भी उसका संक्षेप इब्न नदीम की किताबुल फेहरिस्त में सुरक्षित है। इब्न नदीम ने विवरण के लिखे जाने के ७०-८० वर्ष बाद अपना संक्षेप तैयार किया था=। इस संक्षेप से पता चलता है कि इस विवरण के लेखक ने हिंदू धर्म के सिद्धांतों के दार्शनिक मूल तत्त्व को अच्छी तरह से समझ लिया था। अरबों को हिंदू-धर्म का साधारण ज्ञान तो पहले ही से रहा होगा, अन्यथा वे उसके अगाध परिचय के लिये लालायित न होते। कहना न होगा कि भारत में धर्म और दर्शन का अन्योन्याश्रय-संबन्ध है। सूफी धर्म पर शंकर के कट्टर अद्वैत वेदांत का असर नहीं दिखाई

---

* अवारिफुल मआरिफ (अंगरेजी अनुवाद), पृ० १।

× नदवी—अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ६४।

= नदवी—अरब और भारत के संबंध, पृ० १६७।

देता है, इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि सूफी विचारधारा के निर्माण में हिंदू विचारधारा का कोई हाथ नहीं है। भारत में भी वेदांत के अंतर्गत शांकर मत का विकास बहुत पीछे हुआ। संभव है, नौस्टिसिज्म और नियो-प्लेटौनिज्म ने भी सूफी मत के ऊपर प्रभाव डाला हो। परंतु मिस्टर पोकौक ने अपनी पुस्तक इंडिया इन ग्रीस (यूनान में भारत) में दिखलाया है कि यूनान भारतीय प्रभाव से ओत-प्रोत है। क़ुरान ने विरक्ति का निषेध किया है। इसके विरोध में जिन कुछ लोगों ने मिलकर सन् ६२३ में तपोमय जीवन बिताने का निश्चय किया, उन्हें सूफी मानना भी ठीक नहीं। सूफी मत की विशेषता केवल तपोमय जीवन न होकर परमात्मा के प्रति अनन्य प्रेम-भावना है, जिससे समस्त संसार उन्हें परमात्मा-मय मालूम होता है। जिसके आगे अंध-विश्वास और अंध-परंपरा कुछ भी नहीं ठहरने पाते और जिसका आधार अद्वैतमूलक सर्वात्मवाद है।

जो हो, इस बात को सब विद्वान् मानते हैं कि सूफी मत का दूसरा उत्थान, जिसका विकास फारस में हुआ, अधिकांश में हिंदू प्रभावों का परिणाम है। यहाँ पर हमारा उसी से अधिक संबंध है।

इस प्रकार सूफी मत का उदय अरब में और विकास फारस में बहुत कुछ भारतीय संस्कृति के प्रभाव से हुआ। उनका अद्वैतमूलक सर्वात्मवाद भारतीय दर्शन का दान है। नियोप्लेटौनिक सिद्धांतों ने उनकी दार्शनिक तृषा को उभाड़ा अवश्य होगा, परंतु उनके सिद्धांतों के अध्ययन से जान पड़ता है कि उसकी शांति भारतीय सिद्धांतों से ही हुई। जन्मांतरवाद, विरक्त जीवन, फरिश्तों के प्रति पूज्य भाव (बहु देव-वाद) ये सब इस्लाम के विरुद्ध हैं और सूफी संप्रदाय को बाहरी संसर्ग से प्राप्त हुए हैं। इनमें से विरक्त जीवन तथा फरिश्ता-पूजन में ईसाई प्रभाव मानना ठीक है परन्तु जन्मांतरवाद स्पष्ट ही भारतीय है। उनका 'फना' भी बौद्ध 'निर्वाण' का प्रतिरूप है। तु बौद्ध निर्वाण

की तरह स्वयं साध्य न होकर यह 'ननमारफ' के द्वारा द्वैतभावना का नाशकर 'फ़ना' अथवा 'अपरोक्षानुभूति' का साधन है। प्रसिद्ध सूफी फकीर बायजीद ने 'फ़ना' का सिद्धांत अबू अली से सिंध में सीखा था। अबू अली को प्राणायाम की विधि भी मालूम थी, जिसे वे पास-ए-अन-फ़ास कहते थे। सूफियों पर भारतीय संस्कृति का इतना प्रभाव पड़ा था कि उनके दिल की मूर्ति के लिये भी विरोध न रह गया था और वे 'बुत' के परदे में भी खुदा को देख सकते थे। प्रभाव चाहे जहाँ से आया हो, इतना स्पष्ट है कि हिंदू विचार-परंपरा और सूफी विचार-परंपरा में अत्यंत अधिक समानता थी।

विचार-परंपरा की इस समानता ने स्वभावतः उन्हें हिंदुओं की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने हिंदुओं से खूब मेल-जोल बढ़ाया। हिंदू साधुओं का उन्हें सत्संग प्राप्त हुआ, हिंदू घरों से भी उन्होंने भिक्षा प्राप्त की। हिंदुओं के जीवन को उन्होंने विजेता की ऊँचाई से नहीं, बल्कि सहृदयता की निकटता से देखा। उनकी विपत्ति के लिए उनके हृदय में सहानुभूति का स्रोत उमड़ पड़ा। अपने सधर्मियों की उठी हुई तलवार के प्रहार को उन्होंने अपने ही ढंग पर रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने उनकी तर्क-बुद्धि पर असर डालने का प्रयत्न नहीं किया, उनके हृदय की भावुकता को उद्दीप्त कर यह काम करना चाहा। हिंदू-हृदय की सरल सुषमा को उन्होंने उनके समक्ष उद्घाटित कर मुस्लिम हृदय के सौंदर्य को प्रस्फुटित करना चाहा। अतएव उन्होंने मौलाना रूमी की मसनवी के ढंग पर हिंदू जीवन की मर्मस्पर्शिणी कहानियाँ लिखकर भारतीयों की बद्धमूल संस्कृति की मनोहारिणी व्याख्या की। हिंदी की ये पद्य-कहानियाँ अँगरेजी साहित्य के रोमांटिक आंदोलन की समकक्ष हैं। इन कहानियों का लिखा जाना कब और किसके द्वारा आरंभ हुआ, इसका अभी ठीक-ठीक पता नहीं। सबसे पुराना ज्ञात प्रेमाख्यानक कवि मुल्ला दाऊद मालूम होता है, जो अलाउद्दीन के राजत्वकाल में वि० सं० १४६७ के आस-पास विद्य-

मान था। परंतु मुल्ला दाऊद भी आदि प्रेमाख्यानक कवि था या नहीं, नहीं कह सकते। उसकी नूरक और चंदा की कहानी का हमें नाम ही नाम मालूम है। कुतवन की मृगावती पहली प्रेम-कहानी है जिसके बारे में हम कुछ जानते हैं। यह पुस्तक सिकंदर लोदी के राजत्वकाल में संवत् १५५७ के लगभग लिखी गई थी। जब कि परस्पर-विरोधी संस्कृतियों का समझना सबसे अधिक आवश्यक जान पड़ता था। परंतु मृगावती में इस प्रकार की कहानी लिखने की कला इतनी कुछ विकसित है कि उसे भी हम इस प्रकार की पहली कहानी नहीं मान सकते। कुतबन के बाद मंझन ने मधु-मालती, मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत और उसमान ने चित्रावली लिखी। इन प्रेम-कहानियों की धारा बराबर बीसवीं शताब्दी तक बहती चली आई है। ये कहानियाँ एक प्रकार से अन्योक्तियाँ हैं, जिनमें लौकिक प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है। इनको पढ़ने से मालूम होता है, जैसे इनके मुसलमान लेखक हिंदुओं के जीवन-सिद्धांतों का उपदेश कर रहे हों। आदि मुस्लिम-काल की इन कहानियों में भी हिंदू जीवन की बारीक से बारीक बातें बड़े ठिकाने से चित्रित हैं। जिससे पता चलता है कि इनके सूफी लेखक हिंदू समाज तथा हिंदू साधुओं से घनिष्ट मेलजोल रखते थे। इससे यह भी पता चलता है कि उनके हृदय में हिंदुओं के प्रति कितनी सहानुभूति थी। इससे स्वभावतः हिंदुओं में भी उनके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव उदित हुआ होगा। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान् पं० रामचंद्र शुक्ल का अनुभव है कि जिन-जिन परिवारों में पद्मावत की पोथी पाई गई, वे हिंदुओं के अविरोधी, सहिष्णु और उदार पाए गए। इस प्रकार दोनों जातियों के साधुओं के कर्तृत्व से एक ऐसी भूमि का निर्माण हो रहा था जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों प्रेमपूर्वक मिल सकते।

आपत्काल में भगवान् की शरण में जाकर हिंदू किस प्रकार हार्दिक शांति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे, यह हम देख चुके हैं। शूद्र को

७. शूद्रोद्धार

भगवान् की शरण में जाने का द्विगुण कारण विद्यमान था। उस पर दुगुना अत्याचार होता था। हिंदू होने के कारण मुसलमान उसके ऊपर अत्याचार करता था और शूद्र होने के कारण उसी का सधर्मी उच्च जाति का हिंदू। अतएव परमात्मा की शरण में जाने के लिए उसकी व्याकुलता का पारावार न रहा।

मध्यकालीन भारत के धार्मिक इतिहास के पन्ने शूद्र भक्तों के नामों से भरे हैं, जिनका आज भी ऊँच-नीच सब बड़े आदर के साथ स्मरण करते हैं। शठगोप (नम्मालवार), नामदेव, रैदास, सेन आदि नीच जाति के भक्तों का नाम सुनते ही हृदय में श्रद्धा उमड़ पड़ती है। हमारी श्रद्धा की इस पात्रता की सच्ची परख हमारी क्रूरता हुई। बाधाओं को कुचलकर शूद्र आध्यात्मिक जगत् में ऊपर उठे। समाज की ओर से तो उनके लिए यह मार्ग भी बंद था।

शूद्रों की तपस्या ने धीरे-धीरे परिस्थिति को बदलना आरम्भ कर दिया। तामिल भूमि में तो मुसलमानों के आने के पहले ही शैव संत कवियों तथा वैष्णव आलवारों को 'यो नः पिता जनिता विधाता' के वैदिक आदर्श की सत्यता की अनुभूति हो गई थी। जब सबका पिता एक परमात्मा है जो न्यायकर्ता है, तब ऊँच-नीच के लिए जगह ही कहाँ हो सकती है। उनकी धर्मनिष्ठाजन्य साम्यभावना के कारण यह बात उनकी समझ में न आती थी। एक पिता के पुत्रों में प्रेम और समानता का व्यवहार होना चाहिए, न कि घृणा और असमानता का। अतएव वे सामाजिक भावना में वह परिवर्तन देखने के लिए उत्सुक हो उठे, जिससे परस्पर न्याय करने की अभिरुचि हो, सौहार्द्र बढ़े और ऊँच-नीच का भेद-भाव मिट जाय। तिरु मुलर (१० वीं शताब्दी) ने घोषणा की कि समस्त मानव-समाज में एक के सिवा दूसरा वर्ण नहीं और

एक के सिवा दूसरा परमात्मा भी नहीं꧁। नम्मालवार ने कहा, वर्ण किसी को ऊँचा अथवा नीचा नहीं बना सकता। जिसे परमात्मा का ज्ञान है, वही उच्च है और जिसे नहीं, वही नीच×। शैव भक्त पट्टाकिरियर की यही आंतरिक कामना थी कि अपने ही भाइयों को यहाँ के लोग नीच समझने से कब बाज आवेंगे। वह यही मनाता रहा कि कब वह दिन आवेगा जब हमारी जाति एक ऐसे बृहद् भ्रातृमंडल में परिणत हो जायगी, जिसे वर्ण-भेद का अत्याचार भी अव्यवस्थित न कर सके—वर्ण-भेद का वह अत्याचार जिसका विरोध कर कपिल ने प्राचीन काल में शुद्ध मनुष्य मात्र होना सिखाया था+। भक्त तिरुप्पना-लवार को नीच जाति का होने के कारण जब लोगों ने एक बार श्रीरंग के मंदिर में प्रवेश करने से रोक दिया, तो उच्च जाति का एक भक्त उसे अपने कंधे पर चढ़ाकर मंदिर में ले गया=।

परंतु वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान जिन कट्टर परिस्थितियों में हुआ, उन्होंने इस न्याय-कामना के अंकुर को पनपने न दिया। आलवारों के बाद वैष्णव धर्म की बागडोर जिन महानाचार्यों के हाथ में गई, वे बहुत कट्टर कुलों के थे और परंपरागत शास्त्रों की सब मर्यादाओं की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे। शूद्रों के लिए भक्ति का अधिकार स्वीकार करना भी उन्हें खला। जिस अज्ञान की दशा में शूद्र युगों से पड़े हुए थे, उससे उनको उठने देना उन्हें अभीष्ट न था। रामानुजाचार्य ने उनके लिए केवल उस प्रपत्ति मार्ग की व्यवस्था की जिसमें संपूर्ण रूप से भगवान्

꧁ 'सिद्धांतदीपिका' ११, १० (अप्रैल १९११) पृ० ४३३, कार्पेंटर—'थीज्म इन मेडीवल इंडिया', पृष्ठ ३६९।

× "तामिल स्टडीज", पृ० ३२७, कार्पेंटर-थीज्म, पृ० ३८२।

+ "तामिल स्टडीज", पृ० १५९, ३६९।

= कार्पेंटर—'थीज्म', पृ० ३७९।

की शरण में आना होता था, भक्ति मार्ग की नहीं। भक्ति से उनका अभिप्राय अनन्य चिंतन के द्वारा परमात्मा की ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न था। जिसकी केवल ऊँचे वर्णवालों के लिये व्यवस्था की गई थी। शूद्र इसके लिये अयोग्य समझा गया।

किंतु उत्तर भारत में परिस्थितियाँ दूसरे प्रकार की थीं। वहाँ ये बातें चल न सकती थीं। मुसलमानी समाज-व्यवस्था की तुलना में हिंदू वर्ण-व्यवस्था में शूद्रों की असंतोषजनक स्थिति सहसा खटक जाती थी। अतएव इन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित वैष्णव धर्म की लहर जब उत्तर-भारत में आई तो उस पर भी परिस्थितियों ने अपना प्रभाव डालना आरंभ कर दिया। परिस्थितियों का यह प्रभाव बहुत पहले गोरखनाथ ही में दृष्टिगत होने लगता है। जिन्होंने मुसलमान बाबा रतन हाजी को अपना शिष्य बनाया था, किंतु दक्षिण से आनेवाली वैष्णव धर्म की इस नवीन लहर में इसका पहले पहल दर्शन हमें रामानंद में होता है। रामानंद ने काशी में शांकर अद्वैत की शिक्षा प्राप्त की थी, किंतु दीक्षा दी थी उन्हें विशिष्टाद्वैती स्वामी राघवानंद ने जो रामानुज की शिष्य-परंपरा में थे। कहते हैं कि राघवानंद ने अपनी योग-शक्ति से रामानंद की आसन्न मृत्यु से रक्षा की थी।

रामानन्द ने उत्तरी भारत की परिस्थितियों को बहुत अच्छी तरह से समझा। उन्हें इस बात का अनुभव हुआ कि नीच वर्ण के लोगों के हृदय में सच्ची लगन पैदा हो गई है। उसे दबा देना उन्होंने अनुचित समझा। अतएव उन्होंने परमात्मा की भक्ति का दरवाजा सबके लिये खोल दिया। उन्होंने जिस बैरागी संप्रदाय का प्रवर्तन किया था, उसमें जो चाहता प्रवेश कर सकता था। भगवद्भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने यह भावना उत्पन्न कर दी, जिसके अनुसार 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥' भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने वर्ण विभेद को ही नहीं, धार्मिक विद्वेष को भी स्थान न दिया और ऊँच-नीच, हिन्दू-

मुसलमान सबको शिष्य बनाया। एक ओर तो उनके अनन्तानन्द, भवानन्द आदि ब्राह्मण शिष्य थे, जिन्होंने रामभक्ति को लेकर चलनेवाली वैष्णवधारा को कट्टरता की सीमा के अन्दर रखा; तो दूसरी ओर उनके शिष्यों में नीच वर्ण के लोग भी थे जिन्होंने कट्टरता के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। इनमें धन्ना जाट था, सैन नाई, रैदास चमार और कबीर मुसलमान जुलाहा। भविष्य पुराण से तो पता चलता है कि भक्ति के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि सामाजिक क्षेत्र में भी रामानन्द ने कुछ उदारता का प्रवेश किया था। कहते हैं कि फैजाबाद के सूबेदार ने कुछ हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया था। रामानन्दजी ने इन्हें फिर से हिन्दू बना लिया। ये लोग संयोगी कहलाते थे और अयोध्या में रहते थे। कहा जाता है कि अब भी ये अयोध्या के आस-पास रहते हैं। भविष्य पुराण के अनुसार स्वामी रामानन्दजी ने इस अवसर पर ऐसा चमत्कार दिखलाया जिससे इन लोगों के गले में तुलसी की माला, जिह्वा पर रामनाम और माथे पर श्वेत और रक्त-तिलक अपने आप प्रकट हो गए*। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इन्होंने खान-पान के नियमों को भी कुछ शिथिल कर दिया। कहा जाता है कि मूल श्रीसंप्रदायवालों को स्वामी रामानन्द जी की यह उदार प्रवृत्ति अच्छी न लगी और उन्होंने उनके साथ खाना अस्वीकार कर दिया। इससे रामानन्द को अपना ही संप्रदाय अलग चलाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। जिसे चलाने के लिये उन्हें अपने गुरु राघवानन्द जी

---

* म्लेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन् रामानन्दप्रभावतः। संयोगिनश्च तेज्ञया अयोध्यायां बभूविरे॥ कण्ठे च तुलसीमाला जिह्वा राममयी कृता। भाले त्रिशूलचिह्नं च श्वेतरक्त तदाभवत्।

—भविष्य पुराण (वेंकटेश्वर प्रेस, १८६६) अध्याय २१, पृ० ३६७, प्रपाठक ३.

की भी अनुमति मिल गई। पर रामानन्दजी ने भी परम्परागत कट्टर परिस्थितियों में शिक्षा-दीक्षा पाई थी। इसलिए यह आशा नहीं की जा सकती थी कि उन्मेष-प्राप्त शूद्रों की आकांक्षाओं को वे पूर्ण कर सकते। उनके शिष्यों में अनन्तानन्द आदि कट्टर मर्यादावादी लोग भी थे। शास्त्रोक्त लोक-मर्यादा के परम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास भी रामानन्द की ही शिष्य-परम्परा में थे। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने भक्त्युपदेशों और तत्वज्ञान को बे-हिचक अपनी वाणी के द्वारा ऊँच-नीच सबमें वितरित किया था, तथापि वे बहुत दूर न जा सकते थे। इतना भी उनके लिये बहुत था। वेदांतसूत्र पर आनंद-भाष्य नामक एक भाष्य उनके नाम से प्रचलित हुआ है। उसके शूद्राधिकार में शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं माना गया है। अभी इस भाष्य पर कोई मत निश्चित करना ठीक नहीं है।

सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में हिंदू को मुसलमान से तथा द्विज को शूद्र से, जो संकोच होता है उसका निराकरण स्वामी रामानंद स्वतः कर सकते, यह आशा नहीं की जा सकती थी। यह उनके शिष्य कबीर के बाँटे में पड़ा, जिसके द्वारा नवीन विचार-धारा को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली।

इस प्रकार मध्यकालीन भारत को एक ऐसे आंदोलन की आवश्यकता थी, जिसका उद्देश्य होता उस अज्ञान और अंधपरंपरा का निराकरण

८. निर्गुण संप्रदाय

जिसने एक ओर तो मुसलमानी धर्मांधता को जन्म दिया और दूसरी ओर शूद्रों के ऊपर सामाजिक अत्या-चार को। यही दो बातें सांप्रदायिक ऐक्य और सामाजिक न्याय-भावना में बाधक थीं।

दोनों धर्मों के विरक्त महात्मा किस प्रकार आपस में तथा दूसरे धर्मों के साधारणजन-समाज में स्वच्छंदतापूर्वक समागम के द्वारा सौहार्द, सहिष्णुता और उदारता के भावों को उत्पन्न करने का उद्योग कर रहे

थे, यह हम देख चुके हैं। इस समागम में एक ऐसे आध्यात्मिक आंदोलन के बीज अंतर्हित थे, जिसमें समय की सब समस्याएँ हल हो सकतीं; क्योंकि इसी समागम में दोनों धर्मवाले अपने-अपने सधर्मियों की भूलें समझना सीख सकते थे, और यहीं दोनों धर्म एक दूसरे के ऊपर शांत रूप से प्रभाव डाल सकते थे। जब समय पाकर धीरे-धीरे विकसित होकर यह आध्यात्मिक आंदोलन निर्गुण संप्रदाय के रूप में प्रकट हुआ तो मालूम हुआ कि केवल एक से सुख-दुख, हर्ष-विषाद और आशा-आकांक्षाओं के कारण ही हिंदू-मुसलमान एक नहीं हैं; बल्कि उनके धार्मिक सिद्धांतों में भी, जो इस समय दोनों जातियों को एक दूसरे से बिलकुल विलग किए हुये थे, कुछ समानता थी। अनुभव से यह देखा गया कि समानता की बातें मूल तत्व से संबंध रखती थीं और असमानताएँ, जो बढ़ा-बढ़ा कर बताई जाती थीं और जिन पर अब तक जोर दिया जा रहा था, केवल बाह्य थीं। दोनों धर्मों के संघर्ष से जो विचार-धारा उत्पन्न हुई, उसी ने उस संघर्ष की कटुता को दूर करने का काम भी अपने ऊपर लिया। सम्मिलन की भूमिका का मूल आधार हिंदुओं के वेदांत और मुसलमानों के सूफी मत ने प्रस्तुत किया। सूफी मत भी वेदांत ही का रूप है, जिसमें उसने गहरे रंग का भावुक बाना पहन लिया था और इस्लाम की भावना पर इस प्रकार व्याप्त हो गया था कि उसमें अजनबीपन जरा भी न रहा और उसे वहाँ भी मूल तत्त्व का रूप प्राप्त हो गया। इस नवीन दृष्टि-कोण की पूरी अभिव्यक्ति कबीर में मिली, जो मुसलमान मा-बाप से पैदा होने पर भी हिंदू साधुओं की संगति में बहुत रहा था। स्वामी रामानंद के चरणों में बैठकर उसने ऐकांतिक प्रेम-पुष्ट वेदांत का ज्ञान प्राप्त किया था और शेख तकी के संसर्ग में सूफी मत का। सूफी मत और उपासना-परक वेदांत दोनों ने मिलकर कबीर के मुख से घोषित किया कि परमात्मा एक और अमूर्त है। वह बाहरी कर्मकांड के द्वारा अप्राप्य है, उसकी

केवल प्रेमानुभूति हो सकती है, कर्मकांड तो वस्तुतः परमात्मा को हमारी आँखों से छिपाने का काम करता है। सर्वत्र उसकी सत्ता व्याप रही है। मनुष्य का हृदय भी उसका मंदिर है, अतएव बाहर न भटककर उसे वहीं ढूँढ़ना चाहिए। तात्त्विक दृष्टि से तो यह भावना रामानन्द में ही पूर्ण हो गई थी, कबीर ने उसको प्रतीक का वह आवरण दिया जिसमें "मजनूं को अल्लाह भी लैला नजर आता है।" प्रारम्भिक बाधाओं की कटुता को जाने दीजिए, इनका सामना तो प्रत्येक नवीन विचारशैली को करना पड़ता है, परन्तु वैसे इस नवीन विचारशैली में कोई ऐसी बात न थी जिससे कोई भी समझदार हिन्दू अथवा मुसलमान भड़क उठता। मूर्ति परमात्मा नहीं है, यह हिंदुओं के लिये कोई नवीन बात नहीं थी। उनके उच्चातिउच्च वेदांती दार्शनिक सिद्धान्त इस बात की सदियों से घोषणा करते चले आ रहे थे और मूर्तिभंजक मुसलमानों को तो यह बात विशेष रूप से रुची होगी। यद्यपि हिन्दू अद्वैतवाद, जिसे कबीर ने स्वीकार किया था, मुसलमानी एकेश्वरवाद से बहुत सूक्ष्म था, तथापि दोनों में ऐसा कोई स्थूल-विरोध दृष्टिगत न होता था जिससे वह मुसलमान को अरुचिकर लगता। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य और परमात्मा की एकता की भावना मुसलमानों की अल्लाह-भावना के बिलकुल विपरीत है, जो समय-समय पर मुस्लिम धार्मिक इतिहास में कुफ्र करार दी गई है और प्राणहानि के दंड के योग्य मानी गई है। फिर भी सूफी मत ने, जिसे कुरान का वेदांती भाष्य समझना चाहिए, मुसलमानों को इसका घनिष्ठ परिचय दे दिया था। मंसूर हल्लाज ने 'अनलहक़' (मैं परमात्मा हूँ) कहकर सूली पर अपने प्राण दिए। इस कोटि के सच्ची लगनवाले सूफियों ने धर्मांध शाहों और सुलतानों के अत्याचारों की परवा न कर भली भाँति सिद्ध कर दिया कि उनका मत और विश्वास ऐसी वास्तविक सत्ता है जिसके लिये प्रसन्नता के साथ प्राणों का बलिदान कर दिया जा सकता है। अतएव जब इस नवीन

विचारधारा ने उपनिषदों के स्वर में स्वर मिलाते हुए 'सोऽहं' की घोषणा की तो वह मुसलमानों को भड़कानेवाली बात न रह गई थी। समानुभूति की इस भूमिका में काबा काशी हो गया और राम रहीम।* इस विचारधारा ने आँधी की तरह आकर मनुष्य और मनुष्य के बीच के भेद उड़ा दिए। उस जगत्पिता परमात्मा की सृष्टि में सब बराबर हैं, चाहे वह हिन्दू हों, चाहे मुसलमान, चाहे कोई अन्य धर्मावलंबी। इस प्रकार अनस्तित्व भेद-भावों के कारण मनुष्य के पवित्र रक्त से भूमि को व्यर्थ रँगने की मूर्खता स्पष्ट हो गई।

जब जाति तथा धर्म के विभेद, जिनके साथ की कटु स्मृतियाँ अभी ताजी थीं, इस प्रकार दूर कर दिए जा सकते थे तो कोई कारण न था कि वर्ण-भेद को भी क्यों न इसी तरह मिटा दिया जाय। आत्मा और परमात्मा की एकता को अनुभव करनेवाले वेदांती के लिये तो वर्ण-भेद मिथ्या पर आश्रित था। भगवद्गीता के अनुसार तो वास्तविक पण्डित विद्या-विनय-संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और श्वपाक (चांडाल) में कोई भेद नहीं समझता × किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि परंपरागत व्यवस्था में वेदान्ती कोई परिवर्तन उपस्थित करना चाहता था। भेद को न रहने पर भेद न समझने में कोई अर्थ नहीं। वेदान्त की विशेषता इसमें है कि व्यावहारिक जगत् में इन सब भेदों के रहते भी वह पारमार्थिक जगत् में उनमें कोई भेद नहीं मानता। अगर गीता कहती कि पंडित-पंडित में कोई भेद नहीं है तो उससे कोई क्या समझता। वेदांत ब्राह्मण और शूद्र के बीच के भेद को उसी

---

* काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम।—क० ग्रं०, पृ० ५५, १०।

× विद्या-विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥—५, १८

प्रकार व्यावहारिक तथ्य के रूप में ग्रहण करता है जिस प्रकार गाय, हाथी और कुत्ते के बीच के अंतर को। कौन कह सकता है कि इन पिछले जीवों में व्यावहारिक रूप में भी कोई भेद नहीं। परमात्मा के सामने मनुष्य मात्र की समता के इस पोषक स्वामी रामानंद को भी सामाजिक समता का उतना विचार न आया। उन्होंने सामाजिक व्यवहार में भी कुछ सुधार किया सही, किंतु कथानकों का यह सुधार इतना भर था—दक्षिणी आचार्य खान-पान में छूआछूत का ही विचार नहीं रखते थे प्रत्युत परदे का भी; या यों कहना चाहिये कि खान-पान में उनके स्पर्शास्पर्श का विचार शरीर-स्पर्श में ही समाप्त न हो जाता था, वे दृष्टि-स्पर्श को भी हेय समझते थे। शूद्र के स्पर्श से ही नहीं, उसकी दृष्टि पड़ने से भी भोजन अपवित्र हो जाता है। स्वामी रामानंद जी ने दृष्टि-स्पर्श से भोजन को अखाद्य नहीं माना। उन्होंने केवल स्वयंपाक के नियम को स्वीकार किया, परदे के नियम को नहीं। कहते हैं कि स्वामीजी को तीर्थयात्रा, प्रचारकार्य इत्यादि के लिये इतना भ्रमण करना पड़ता था कि भोजन में परदे के नियम का पालन करना उनके लिए दुःसाध्य था। कुछ लोगों का कहना है कि श्रीसंप्रदाय से अलग होकर एक नवीन संप्रदाय के प्रवर्तन का यही एकमात्र कारण था। कहते हैं कि एक बार के भ्रमण से लौटने पर उनके स-सांप्रदायिकों ने बिना प्रायश्चित्त किये उनके साथ भोजन करना अस्वीकार कर दिया था। स्वामी रामानंद जी प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार न थे, अतएव नवीन पंथ-प्रवर्तन के सिवा समस्या को हल करने का कोई गौरवपूर्ण उपाय न सूझा, जिसके लिए उनके गुरु स्वामी राघवानंद की भी सहमति प्राप्त हो सकती। सामाजिक सुधार-पथ में वे इससे आगे बढ़ ही नहीं सकते थे। खान-पान तथा अन्य सामाजिक व्यवहारों में ब्राह्मण-ब्राह्मणों में भी भेद-भाव था, तब कैसे आशा की जा सकती थी कि स्वामी रामानंद शूद्रों और मुसलमानों के संबंध में भी उसे मिटा देते।

परंतु जब कबीर में वर्ण-भेद के विरुद्ध मुसलमानी अरुचि के साथ उच्च वेदांती-भावों का समन्वय हुआ तो परंपरागत समाज-व्यवस्था का एक ऐसा कट्टर शत्रु उठ खड़ा हुआ, जिसने उसके भेद-भाव को पूर्ण-तया ध्वस्त कर देने का उपक्रम कर दिया।

इस प्रकार कबीर के नायकत्व में इस नवीन निर्गुणवाद में समय की सब आवश्यकताओं की पूर्ति का आयोजन हुआ। इतना ही नहीं इसमें भारतीय संस्कृति का बड़े सौम्य रूप में सारा निचोड़ आ गया। कबीर के रंगभूमि में अवतरित होने के पहले ही इस आंदोलन ने अपनी सारग्राहिता के कारण भारत की समस्त आध्यात्मिक प्रणालियों के सारभाग को खींचकर ग्रहण कर लिया था। भारत में समय-समय पर उत्थित होनेवाले प्रत्येक नवीन आध्यात्मिक आंदोलन ने आत्म-संस्कार के मार्ग में जो-जो सारयुक्त नवीन तथ्य निकाले वे सब इसमें समन्वित होते गये। योगमार्ग, बौद्धमत, तंत्र आदि सबके कुछ न कुछ चिह्न इसमें दिखाई देते हैं जिनका यथास्थान वर्णन किया जायगा। कबीर के हाथ में इसने सूफी मत से भी कुछ ग्रहण किया।

सामाजिक व्यवहार तथा पारमार्थिक साधना दोनों के क्षेत्र में पूर्ण ऐक्य तथा समानता के प्रचार करनेवाली समस्त आध्यात्मिक प्रणालियों के सार स्वरूप इस आंदोलन का नायकत्व कबीर के बाद सैकड़ों उदार-चेता संतों ने समय-समय पर ग्रहण किया और जी जान से उसके प्रसार का प्रयत्न किया। निर्गुण संप्रदाय के सिद्धांतों का विस्तृत विवे-चन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उनका कुछ परिचय प्राप्त कर लें। अतएव आगे के अध्याय में उन्हीं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

दूसरा अध्याय

निर्गुण-संत संप्रदाय के प्रसारक

निर्गुण-संत-विचारधारा को कबीर के द्वारा पूर्णता प्राप्त हुई, परन्तु साकार तो यह पहले ही में ग्रहण करने लग गई थी। सूफी मत के दांपत्य प्रतीक को छोड़कर ऐसी कोई बात न थी

१. परवर्ती संत जिसने पहले ही कुछ न कुछ आकार न ग्रहण कर लिया हो। दार्शनिक सिद्धांतों तथा साधना-मार्ग के संबंध में जिस प्रकार की बातें कबीर ने कही हैं, प्रायः उसी प्रकार की बातें कबीर के कतिपय गुरु-भाइयों ने भी कही हैं। स्वयं उनके गुरु रामानंद की जो कविता मिलती है उसमें भी उसका काफी रूप दिखाई देता है। चौथे सिक्ख-गुरु अर्जुनदेव ने सं० १६६१ में जिस आदि ग्रंथ का संग्रह कराया, उसमें स्वामी रामानंद और उनके इन सब शिष्यों की कविताएँ भी संगृहीत हैं, जिससे स्पष्ट है कि निर्गुण-सन्त संप्रदाय में भी ये लोग बाहरी नहीं समझे जाते थे। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य संतों की कविता का भी आदि ग्रंथ में संग्रह किया गया है जो उपर्युक्त संतों के समकालीन अथवा परवर्ती थे। ये हैं त्रिलोचन, नामदेव और जयदेव जिनमें से अंतिम दो का नाम कबीर ने बार-बार लिया है—

> जागे सुक उधव अक्रूर, हणवंत जागे लै लंगूर।
> संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामां जैदेव* ॥

आदि ग्रंथ में भी कबीर साहब ने जयदेव और नामा को भक्तों की श्रेणी में सुदामा के समकक्ष माना है—

> जयदेव नामा, विप्र सुदामा तिनको कृपा अपार भई है × ।

---

* क० ग्रं०, पृ० २१६, ३८७।

× वही, पृ० २९७, ११२।

जयदेव और नामदेव के संबंध में कबीर की यह भावना मालूम पड़ती थी कि वे भक्त तो अच्छे थे पर अभी ज्ञानी की श्रेणी में नहीं पहुँच पाये थे—

सनक सनंदन जैदेव नामा, भगति करी मन उनहुँ न जाना।*

अतएव निर्गुण संप्रदाय के प्रसारकों का परिचय देने के पहले इन लोगों का भी परिचय दे देना आवश्यक जान पड़ता है।

इन सबमें समय की दृष्टि से जयदेव सबसे प्राचीन जान पड़ते हैं; क्योंकि गीतगोविंद-कार को छोड़कर और दूसरा कोई संत ऐसा नहीं जान पड़ता है जिसके संबंध में कबीर के जयदेव-संबंधी उल्लेख ठीक बैठ सकें। ये राजा लक्ष्मणसेन की सभा के पंच-रत्नों में से एक थे, जिनका राजत्व-काल सन् ११७० से आरम्भ होता है। कहा जाता है कि जयदेव पहले रमते साधु थे; माया-ममता के भय से किसी पेड़ के तले भी एक दिन से अधिक वास न करते थे। किंतु, पीछे भगवान् की प्रेरणा से पद्मावती नाम की एक ब्राह्मण-कुमारी से इनका विवाह हो गया। इनके जीवन में कई चमत्कारों का उल्लेख किया जाता है जिनके लिए यहाँ पर स्थान नहीं है। इन्होंने रसना-राघव, गीत-गोविंद और चंद्रालोक ये तीन ग्रंथ लिखे। गीतगोविंद की तो सारा संसार मुक्त-कंठ से प्रशंसा करता है। इसमें भी निर्गुण पंथियों के अनुसार जयदेव ने अन्योक्ति के रूप में ज्ञान कहा है। गोपियाँ पंचेंद्रियाँ हैं और राधा दिव्य ज्ञान। गोपियों को छोड़ कर, कृष्ण का राधा से प्रेम करना यही जीव की मुक्ति है। परंतु इस तरह इसका अर्थ बैठाना जयदेव का उद्देश्य था या नहीं, नहीं कहा जा सकता।

२. जयदेव

नामदेव का जन्म सतारा जिले के नरसी बमनी गाँव में एक शैव

---

* क० ग्रं०, पृ० ९९, ३३।

३. नामदेव

परिवार में हुआ था। महाराष्ट्री परंपरा के अनुसार उसका पिता दामा शेट दर्जी था। आदि ग्रंथ में नामदेव की जो कविताएँ सुरक्षित हैं उनमें वे अपने को छीपी कहते हैं। सम्भव है, कि उनके परिवार में दोनों पेशे चलते हों। मराठी में उनके एक अभंग से पता चलता है कि उनका जन्म संवत् १३२७ (सन् १२७०) में हुआ था। लोग उनके मराठी अभंगों की नवीनता की दृष्टि से उनका आविर्भावकाल लगभग सौ वर्ष बाद मानते हैं, परन्तु आधुनिक भाषाएँ इतनी नवीन नहीं हैं जितनी बहुधा समझी जाती हैं। ज्ञानदेव नामदेव के समकालीन थे, परंतु उनकी भाषा की प्राचीनता का यह कारण नहीं है कि उस समय तक आधुनिक मराठी का आविर्भाव नहीं हुआ था, बल्कि यह, कि विद्वान् होने के कारण परंपरागत साहित्यिक भाषा पर उनका अधिकार था जिसे लिखने में, अपढ़ होने के कारण, नामदेव असमर्थ थे। स्वयं ज्ञानदेव ने सीधी-सादी मराठी में अभंगों की रचना की थी। प्रो० रानडे का मत है कि ज्ञानदेव के अभंगों की सादगी तथा कारक-चिह्नों की विभिन्नता का कारण है शताब्दियों से उनका स्मृति से रक्षित होते आना है। समझ में नहीं आता कि जिस ज्ञानदेव के गीता-भाष्य और अमृतानुभव लेखबद्ध हो गये थे, उसके अभंग ही क्यों लेखबद्ध नहीं हुए? जो हो, प्रो० रानडे भी इस बात से सहमत हैं कि उनका जन्म सं० १३२७ में हुआ था और मृत्यु सं० १४०७ (सन् १३५०) में। कहा जाता है कि जवानी में नामदेव डाकू बन बैठा था और लूटमार कर आजीविका चलाता था। एक दिन उसके दल ने ८४ आदमियों के समूह को मार डाला। शहर में लौटकर आने पर उसने एक स्त्री को अत्यन्त करुण क्रंदन करते हुए पाया। पूछने पर मालूम हुआ कि उसके पति को डाकुओं ने मार डाला है। उसे अपने कृत्य पर उत्कट घृणा हो आई और वह घोर पश्चात्ताप करने लगा। विशोबा खेचर को

गुरु बनाकर वह भक्ति-पथ में अग्रसर हुआ और विठोबा की भक्ति में अपने जीवन को उत्सर्ग करके एक उच्च कोटि का संत हो गया। अपने जीवन का अधिक समय उसने पंढरपुर में विठोबा (विष्णु) के मंदिर में ही बिताया। परन्तु, अंत में वह तीर्थाटन के लिए निकला और समस्त उत्तर का भ्रमण करते हुए पंजाब पहुँचा। वहाँ लोग बड़ी संख्या में उसके चेले हुए। गुरदासपुर जिले में गुमान नामक स्थान पर अब तक नामदेव का मन्दिर है। इस मन्दिर के लेखों से पता चलता है कि नामदेव का निधन यहीं हुआ था। मालूम होता है कि उनके भक्त उनके फूल पंढरपुर ले गये जहाँ वे विठोबा के मन्दिर के आगे गाड़ दिये गये। नामदेव की कुछ हिंदी कविताएँ आदि ग्रंथ में संगृहीत हैं, जिनमें उनके कई चमत्कारों का उल्लेख है, जैसे उनके हठ करने पर मूर्ति का दूध पीना※, मरी हुई गाय का उनके स्पर्श से जीवित हो उठना×, परमात्मा का स्वयं आकर उनकी चूती छत की मरम्मत कर जाना+ और नीच जाति का होने के कारण मन्दिर से उनके बाहर निकाले जाने पर मूर्ति का पंडित की ओर पीठ कर उसी दिशा में मुड़ जाना जिधर वे मन्दिर के बाहर बैठे थे÷। अंतिम चमत्कार का उल्लेख कबीर ने भी किया है=।

त्रिलोचन नामदेव का समकालीन था। उसकी भी कुछ कविता

※ दूध कटोरे...—'ग्रंथ', पृ० ६२९.

× सुलतान पूछे सुन वे नामा...—'ग्रंथ'।

+ घर...—'ग्रंथ', पृ० ६६२।

÷ हँसत खेलत...—'ग्रंथ', पृ० ६२९।

= पंडित दिसि पछिवारा कीना, मुख कीना जित नामा।

—क० ग्रं०, पृ० १२७, १२२।

आदि ग्रन्थ में संगृहीत है। ग्रन्थ में कबीर के दो दोहे हैं ⊛। जिनमें नामदेव और त्रिलोचन का संवाद दिया हुआ है।

४. त्रिलोचन

इस संवाद से मालूम होता है कि कबीर त्रिलोचन से अधिक पहुँच के साधक थे। त्रिलोचन ने कहा, मित्र नामदेव, तुम्हारा माया-मोह अभी नहीं छूटा? अभी तक फर्द छापा ही करते हो? नामदेव ने जवाब दिया कि हाथ से तो सब काम करना चाहिए; परन्तु हृदय में राम और मुख में उसका नाम रहना चाहिए। ओदछेवाले हरिरामजी 'व्यास' ने कहा है कि नामदेव और त्रिलोचन रामानन्द से पहले दिवंगत हो गये थे। मेकॉलिफ़ ने अयोध्या के जानकीवरशरण के साक्ष्य पर त्रिलोचन का जन्म सं० १३२४ (१२६७ ई०) माना है जो, जैसा हम रामानंदजी के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में देखेंगे, 'व्यास' जी के कथन के विरुद्ध नहीं जाता।

५. रामानन्द

अगस्त्य-संहिता के अनुसार स्वामी रामानन्द का जन्म संवत् १३५६ में, प्रयाग में, हुआ। इनकी माता का नाम सुशीला और पिता का पुण्यसदन था। भक्तमाल पर प्रियादास की टीका भी इससे सहमत है। भांडारकर और ग्रियर्सन दोनों ने भी इसे माना है। परंतु मेकॉलिफ़ ने इनका जन्म मैसूर के मैलकोट स्थान में माना है। फ़र्कुहर ने भी उनको दक्षिण से लाने का प्रयत्न किया है। परन्तु परंपरा से चले आते हुए

⊛ नामा माया मोहिया, कहै तिलोचन मीतु।
काहे छापे छाइलै, राम न लावहि चीतु॥
कहै कबीर त्रिलोचना, मुख ते राम सँभालि।
हाथ पाउँ कर काम सभु, चीत निरंजन नालि॥
—'ग्रन्थ' पृ० ७४०, २१२-२१३

सांप्रदायिक मत का खण्डन करने के लिए जैसे दृढ़ प्रमाणों की आवश्यकता होती है, वैसे प्रमाण दोनों में किसी ने नहीं दिये। अतएव उनका जन्मस्थान प्रयाग ही में मानना उचित है।

कहते हैं कि पहले पहल इन्होंने किसी वेदान्ती के पास काशी में शांकर अद्वैत की शिक्षा पाई। परंतु इनके अल्पायु योग थे। स्वामी राघवानन्द भी, जो रामानुज की शिष्यपरंपरा में थे (रामानुज—देवाचार्य—राघवानन्द) और बड़े योगी थे, काशी में रहते थे। उन्होंने रामानन्द को योग-साधन सिखाकर उन्हें आसन्न मृत्यु से बचाया। जिस समय मृत्यु का योग था उस समय रामानन्द को उन्होंने समाधिस्थ कर दिया और वे मृत्यु-मुख से बच गये। अतएव अद्वैती गुरु ने कृतज्ञता-वश अपने चेले को उन्हीं को सौंप दिया।

रामानन्दजी बड़े प्रसिद्ध हुए। आबू और जूनागढ़ की पहाड़ियों पर उनके चरण-चिह्न मिलते हैं और पिछले स्थान पर उनकी एक गुफा। उन्होंने स्वयं अपना अलग पन्थ चलाया जिसके एक सम्भव कारण का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है, किन्तु उनकी अद्वैती शिक्षा का भी इसमें कुछ भाग जरूर रहा होगा। उनके वास्तविक सिद्धान्त क्या थे, इसका पता लगाना बहुत कुछ कठिन काम हो गया है। मालूम होता है कि उन्होंने भक्ति, योग और अद्वैत वेदान्त की अनुपम संसृष्टि की।

डाकोर से सिद्धान्त पटल नामक एक छोटी सी पुस्तिका निकली है, जो स्वामी रामानन्दजी की कही जाती है। इनमें सत्यनिरंजन तारक, विभूति पलटन, लँगोटी आड़बन्द, तुलसी, रामबीज आदि कई विषयों के मन्त्र हैं। केवल यज्ञोपवीत का मन्त्र संस्कृत में है, अन्य सब सधुक्कड़ी हिंदी में। इस ग्रन्थ में नाथपन्थ और वैष्णव मत की पूर्ण संसृष्टि दिखाई देती है। विभूति, धूनी, झोली आदि के साथ-साथ इसमें सालिग्राम तुलसी आदि का भी आदर किया गया है। यहाँ पर केवल एक मन्त्र देना उचित होगा जिससे इस बात की पुष्टि होगी—

ॐ अवंनासा अतंद सागर, प्राण पुरुष आवे न जाया। मरे न पिंड पके न काय, सद्गुरु अगाप सहज समाय। शब्दसल्ली श्रीगुरु राघवानंद जी ने श्री रामानंद जी को सुनाया। मेरे भँवार काया यादे त्रिकुटी अस्थान जहाँ बसे श्री सालिग्राम। ॐकार हाहाकार सुनती सुनती संसे मिटे॥ इति अनतबीज मंत्र॥ १७॥

इसमें योग की त्रिकुटी में वैष्णव सालिग्राम विराजमान हैं। यह ग्रंथ चाहे स्वयं रामानंद जी का न हो, परंतु इससे इतना अवश्य प्रकट हो जाता है कि उन्होंने अपने शिष्यों को वैष्णव धर्म के सिद्धांतों के साथ-साथ योग की भी शिक्षा दी थी। इसीलिए शायद उनके कुछ शिष्य अवधूत कहे जाते थे। रामानंदी संप्रदाय में रामानंद जी महायोगी यथार्थ ही माने जाते हैं।

उनके ग्रंथों में से रामार्चन-पद्धति और वैष्णवमताब्ज-भास्कर देखने में आये हैं। ये ग्रंथ उपासना-परक हैं। प्रो० विल्सन ने वेद पर उनके एक संस्कृत भाष्य की बात लिखी है। 'आनंद भाष्य' नाम से वेदांतसूत्र का एक भाष्य संप्रदायवालों की ओर से प्रकाशित हुआ है परंतु अभी उसकी निष्पक्ष जाँच नहीं हो पाई है। उन्होंने हिंदी में भी कुछ रचना की है। उनकी एक कविता आदि ग्रंथ में संगृहीत है जो आगे चलकर मूर्तिपूजा के संबंध में उदाहृत की गई है। उसमें वे निराकारोपासना का उपदेश करते दीखते हैं। मंदिर में की पत्थर की मूर्ति और तीर्थ का जल उन्होंने अनावश्यक से माने हैं, परंतु वैरागी पंथ में उन्होंने शालिग्राम की पूजा का विधान किया। उनकी एक और कविता आचार्य श्यामसुन्दर दास ने अपने रामावत संप्रदाय वाले निबंध में छपवाई है, जिसमें हनुमान की स्तुति की गई है। रज्जबदास के संग्रह ग्रन्थ सर्वांगी में उनका एक और पद संगृहीत है जो यहाँ दिया जाता है—

हरि बिन जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई, धन मद अंध मति सोयो रे॥
अति उतंग तरु देखि सुहायो, सेंवल कुसुम सूचा सेयो रे।
सोई फल पुत्र-कलत्र विषै सुख, अंति सीस धुनि-धुनि रोयो रे॥
सुमिरन भजन साध की संगति, अंतरि मन मैल न धोयो रे॥
रामानंद रतन जम त्रासै, श्रीपति पद काहे न जोयो रे ॥॥
इसमें उन्होंने निवृत्ति मार्ग का पूर्ण उपदेश दिया है।

रामानंद जी की विचार-धारा बहुत उदार थी जिसके कारण उनके उपदेशामृत का पान करने के लिए ऊँच-नीच सब उनके पास घिर आते थे। उनके शिष्यों में से, जिनका निर्गुण विचारधारा से संबंध है, पीपा, सधना, धन्ना, सेन, रैदास, कबीर और शायद सुरसुरानंद हैं।

६. रामानंद के शिष्य

पीपा गँगरौनगढ़ के खीची चौहान राजा थे और अपनी छोटी रानी सीता के सहित रामानंद जी के चेले हो गये थे। जनरल कनिंघम के अनुसार पीपाजी जैतपाल से चौथी पीढ़ी में हुए थे। [(१) जैतपाल, (२) सावतसिंह, (३) राव कँरवा, (४) पीपाजी, (५) द्वारिकानाथ, (६) अचलदास।]

अबुलफ़ज़ल ने लिखा है कि मानिकदेव के वंशज जैतपाल ने मुसलमानों से मालवा छीन लिया था। यह घटना पृथ्वीराज की मृत्यु के १३१ वर्ष पीछे सं० १३८१ (सन् १३२४ ई०) की बताई जाती है। जैतराव मानिकदेव से पाँचवीं पीढ़ी में हुए थे और मानिकदेव पृथ्वीराज के समकालीन थे। फिरिश्ता अनुसार पीपाजी से दो पीढ़ी पीछे अचलदास से सुलतान होशंग गोरी ने हिजरी सन् ८३० अर्थात् वि० सं० १४८३ या सन् १४८६ ई० में गँगरौनगढ़ छीन लिया।

॥ 'पौड़ी हस्तलेख', पृ० ४५३ (अ)।

यह भी कहा जाता है कि सं० १५०५ (सन् १४४८ ई०) में अचल-दास मुसलमानों के साथ युद्ध में काम आये। इन सब बातों को ध्यान में रखकर जनरल कनिंघम ने पीपा का समय सं० १४१७ से १४४२ (ई० सन् १३६० से १३८५) तक माना है। सं० १२५० से १५०५ तक के २५५ वर्षों में पीपाजी के वंश में १० पीढ़ियाँ हुईं जिसमें प्रत्येक पीढ़ी के लिए लगभग २५ वर्ष आते हैं। इस हिसाब से १४२० से १४४५ तक उनका समय मानना भी अनुचित नहीं। यह सामान्य-तया उनका राज्य-काल है। उनका जीवन-काल लगभग सं० १४१० से १४६० तक मानना चाहिए।

सधना कसाई था। बेचने के लिये मांस तौलते समय बटखरे की जगह शालिग्राम की बटिया रखता था। एक वैष्णव को यह देखकर बुरा लगा और शालिग्राम की बटिया मांगकर ले गया। रात में उसे स्वप्न हुआ कि भाई, तुम मुझे बड़ा कष्ट दे रहे हो। सधने भक्त के यहाँ मैं (तराजू के) झूले पर झूला करता था, उस सुख से तुमने मुझे वंचित कर दिया है। भला चाहो तो मुझे वहीं दे आओ। और वह दे आया।

धन्ना जाट था और राजपूताने के टोंक इलाके में धुअन गाँव में रहता था। यह स्थान छावनी देवली से बीस मील की दूरी पर है।

सेन नाई था जो किसी राजा के यहाँ नौकर था। उसकी भक्ति की इतनी महिमा प्रसिद्ध है कि एक बार जब वह साधु-सेवा में लीन होने के कारण राजा की सेवा करने के लिए यथा-समय न जा सका, तब स्वयं भगवान् सेन का रूप धारण कर राजा की सेवा करने पहुँचे।

रैदास काशी के चमार थे। प्रियादासजी ने इनके सम्बन्ध में कई आश्चर्यजनक कहानियाँ लिखी हैं। चित्तौर की झाली रानी इनकी शिष्या

+ 'आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट', भाग २, पृष्ठ २९५-९७।

बतलाई जाती हैं। आदि ग्रन्थ में रविदास नाम से इनकी कविताओं का संग्रह किया गया है। ये स्वयं बहुत ऊँचे ज्ञानी भक्त थे जिन्हें मूर्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती परन्तु दूसरों के लिए वे मूर्ति की आवश्यकता समझते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने एक मन्दिर बनवाया था, जिसके वे स्वयं पुजारी रहे थे। इनका भी अलग पन्थ चला जिसमें अब केवल इन्हीं की जात के लोग हैं जो अपने को बहुधा चमार न कह कर 'रैदासी' कहते हैं।

परन्तु रामानन्द के सबसे प्रसिद्ध शिष्य कबीरदास थे जिन्होंने भक्ति के मार्ग को और भी प्रशस्त, विस्तृत और उदार बना दिया। उनका जीवन वृत्त स्वतन्त्र रूप से आगे दिया जायगा।

सुरसुरानन्द ब्राह्मण थे। उनके विषय में विशेष कुछ नहीं मालूम है। इतना अवश्य प्रकट होता है कि वे बहुत सच्चे सुधारक रहे होंगे। खान-पान के सम्बन्ध में शायद उन्होंने रामानन्द जी से अधिक सुधार की मात्रा दिखाई हो। भक्तमाल में लिखा है कि इनके मुँह में म्लेच्छ की दी हुई रोटी भी तुलसीदल हो जाती थी।

७. रामानन्द का समय

अगस्त्य-संहिता के अनुसार रामानन्द का जन्म संवत् १३५६ (१२९९ ई०) में और मृत्यु सं० १४६७ (१४१० ई०) में हुई। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करने से भी यह समय गलत नहीं मालूम होता। वे रामानुज की शिष्य-परंपरा की चौथी पीढ़ी में हुए हैं। रामानुज की कर्मण्यता का क्षेत्र तीन राजाओं का समय रहा है जिनका शासन-काल सं० ११२७ (१०७० ई०) से १२०३ (११४६ ई०) तक ठहरता है। अस्तु, यदि हम उनकी मृत्यु सं० १२१८ (प्रायः ११६० ई०) में भी मानें और एक-एक पीढ़ी के लिए तीस-तीस वर्ष भी दें तो भी रामानंद का जन्म सं० १२९९ में इतना पहले नहीं आ जाता है कि इस दृष्टि से अनुचित मालूम हो। ओरछे के हरिराम 'व्यास'

जी के एक पद से मालूम होता है कि नामदेव और त्रिलोचन, रामानंद जी से पहले स्वर्गगामी हो गये थे। त्रिलोचन का जन्म मेकालिफ़ ने सं० १३२४ (१२६७ ई०) में माना है। त्रिलोचन कितने ही दीर्घजीवी क्यों न हुए हों, सं० १४६७ (१४१० ई०) से पहले ही अवश्य दिवंगत हो गये होंगे। नामदेव भी त्रिलोचन के समकालीन थे, यद्यपि मालूम होता है कि आयु में उनसे कुछ छोटे थे। सं० १४६७ से पहले बहुत काफी आयु भोगकर उनका भी दिवंगत होना असंभव नहीं। जनरल कनिंघम ने रामानंद के शिष्य पीपा का जो समय स्थिर किया है, वह भी इस समय के विरुद्ध नहीं जाता। इससे रामानंद जी की आयु ११० वर्ष की ठहरती है, जो उनके लिए बहुत बड़ी नहीं। यह प्रसिद्ध है कि रामानंद जी दीर्घायु हुए थे। नाभा जी ने भी कहा है—

बहुत काल वपु धारि कै प्रनत जनन को पार दियो।
श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों, दुतिय सेतु जगतरन कियो॥

कबीर के परवर्ती इन संत कवियों को सगुण और निर्गुण संप्रदाय के बीच की कड़ी समझना चाहिए। उनमें सगुणवादी और निर्गुणवादी दोनों से कुछ अंतर है। न तो वे सगुणवादियों की तरह परमात्मा की निर्गुण सत्ता की अवहेलना कर उसकी प्रातिभासिक सगुण सत्ता को ही सब कुछ समझते हैं और न निर्गुणियों की तरह मूर्ति-पूजा और अवतारवाद को समूल नष्ट ही कर देना चाहते हैं। यद्यपि अंत में वे सब बाह्य कर्मकांड का त्याग आवश्यक बतलाते हैं, परंतु उनके व्यवहार से यह मालूम होता है कि वे आरंभिक अवस्था में उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते थे।

परंतु इतना होने पर भी वे सब विशेषताएँ, जिनके विकास से निर्गुण संत संप्रदाय का उदय हुआ, उनमें मूल रूप में पाई जाती हैं। जाति-पाँति के सब बंधनों को तोड़ देने की प्रवृत्ति, अद्वैतवाद, भगवदनुराग, विरक्त और शांत जीवन, बाह्य कर्मकांड से ऊपर उठने की इच्छा

सब उनमें विद्यमान थी। इस प्रकार इन संतों ने कबीर के लिए रास्ता खोला जिससे इन प्रवृत्तियों को चरमावस्था तक ले जा सकना उनके लिए आसान हो गया।

कबीर जुलाहा थे। अपने पदों में उन्होंने बार-बार अपने जुलाहा होने की घोषणा की है।❀ जुलाहे मुसलमान होते हैं। हिंदू जुलाहे कोरी कहलाते हैं। एक स्थान पर उन्होंने अपने को 'कोरी' भी कहा है।+ संभव है, 'जोलाहा' कहने से उनका अभिप्राय केवल पेशे से हो, उनके धर्म का उसमें कोई-संकेत न हो। जनश्रुति के अनुसार वे जन्म से तो हिंदू थे, किंतु पाले-पोसे गये थे मुसलमान के घर में। परंतु इस बात का प्रमाण मिलता है कि उनका जन्म वस्तुतः मुसलमान परिवार में हुआ था। एक पद में, जो आदिग्रंथ में रैदास के नाम से और रज्जबदास के सर्वांगी में पीपा के नाम से मिलता है, लिखा है कि जिसके कुल में ईद-बकरीद मनाई जाती है, गोवध होता है, शेख शहीद और पीरों की मनौती होती है, जिसके बाप ने ये सब काम किये उस पुत्र कबीर ने ऐसी धारणा धरी कि तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गया।× पदकर्ता का अभिप्राय यह है कि भक्ति के लिए कुल की उच्चता कदापि आवश्यक

८. कबीर

❀ तू ब्राह्मण, मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना।—क० ग्रं०, पृ० १७३, २५० और उदाहरणों के लिए देखिए क० ग्रं०, पृ० १२८, १२४; १३१, १३४; १८१, २७० और २७१।

+ हरि को नाँव अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी।

—क० ग्रं०, पृ० २०५, ३४६।

× जाके ईद बकरीद कुल गऊरे वध करहिं मानियहिं शेख शहीद पीरा।
जाके बापि ऐसी करी, पूत ऐसी धरी, तिहुरे लोक परसिध कबीरा॥
—'ग्रन्थ'; पृ० ६६८; 'सर्वांगी', पौड़ी हस्तलेख पृ० ३७३, २२।

नहीं। इससे प्रकट होता है कि कबीर मुसलमान कुल में केवल पाले-पोसे ही नहीं गये थे, पैदा भी हुए थे*। पीपा और रैदास दोनों कबीर के समकालीन और गुरुभाई थे। इसलिए कबीर के कुल के संबंध में जो कुछ उनमें से कोई कहे, उस पर विश्वास करना चाहिए।

जनश्रुति के अनुसार कबीर के पोष्य पिता का नाम नीरु अथवा नूरुद्दीन था और माता का नीमा जिन्हें उसके वास्तविक माता-पिता के ही नाम समझना चाहिए।

जनश्रुति ही के अनुसार कबीर का जन्म काशी में हुआ था और निधन मगहर में। इस बात में तो संदेह नहीं कि कबीर उस प्रांत के थे जहाँ पूरबी बोली जाती है, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरी बोली 'पूरबी' है, जिसे कोई नहीं समझ सकता; उसे वही समझ सकता है जो ठेठ पूरब का रहनेवाला हो।× पंजाब में संगृहीत ग्रंथ साहब में भी उनकी बाणी ठेठ पूरबी है।

किसी ज्ञान-गर्वित ब्राह्मण के यह कहने पर कि 'तुम जुलाहे हो, ज्ञान-ध्यान क्या जानो?' उन्होंने बड़े गर्व के साथ कहा था मेरा ज्ञान नहीं पहचानते? अगर तुम ब्राह्मण हो तो मैं भी तो 'काशी का जुलाहा' हूँ +। सचमुच काशी में किस जिज्ञासु को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती? आदि ग्रन्थ में के एक पद में उन्होंने कहा है कि सारा जीवन मैंने काशी ही में बिताया है।= अतएव इस बात में संदेह नहीं

---

* इन पदों में यह स्पष्ट नहीं कहा गया है कि उनके माता-पिता मुसलमान थे। सम्भव है, यहाँ माता-पिता से तात्पर्य पालने-पोसनेवाले माता-पिता से हो।—संपादक।

× मेरी बोली पूरबी ताहि लखै नहिं कोय।
मेरी बोली सो लखै धुर पूरब का होय॥—क० ग्रं०, पृ० ७६ पाद २।

+ देखो पृष्ठ ४८ की टिप्पणी (१)।

= सकल जनम सिवपुरी गँवाया—'ग्रन्थ', पृ० १७६, १५।

कि कबीर के जीवन का बड़ा भाग काशी में व्यतीत हुआ था। परन्तु क्या इससे यह भी मान लिया जाय कि पैदा भी वे काशी ही में हुए थे? यह असम्भव नहीं; हिन्दू भावों से ओत-प्रोत उनकी विचार-धारा भी इस बात की ओर संकेत करती है कि उनका बाल्यकाल काशी-सदृश किसी हिन्दू नगरी में हिन्दू वातावरण में व्यतीत हुआ था। आदि ग्रन्थ में के एक पद से मालूम होता है कि उनके विचार ही नहीं, आचार भी आरम्भ ही से हिन्दू साँचे में ढल गये थे। 'राम राम' की रट, नित्य नई कोरी गगरी में भोजन बनाना, चौका-पोतवाना, उनकी इन सब बातों से उनकी अम्मा तंग आ गई थीं *।

परन्तु आदि ग्रन्थ के एक पद में कबीर कहते हैं कि मगहर भी कोई मामूली जगह नहीं, यहीं तुमने मुझे दर्शन दिये थे। काशी में तो मैं बाद में जाकर बसा। इसी से फिर तुम्हारे भरोसे मगहर बस गया हूँ।= इससे जान पड़ता है कि काशी में बसने के पहले वह केवल मगहर में रहते ही नहीं थे, वहीं उन्हें पहले पहल परमात्मा का दर्शन भी प्राप्त हुआ था। अधिक संभव यह है कि कबीर का जन्म मगहर ही में हुआ हो, जो आज भी प्रधानतया जुलाहों की बस्ती है। गोरखनाथ जी का प्रधान स्थान गोरखपुर मगहर के बिलकुल नज़दीक है। जिस जमाने में रेल नहीं थी उसमें योगियों का गोरखपुर आते-जाते

---

* नित उठि कोरी गगरी आनै लीपत जीउ गयो।
ताना बाना कछू न सूझै हरि रसि लपटयो॥
हमरे कुल कउने रामु कह्यो।

—वही, पृ० ४६२. ४।

= तेरे भरोसे मगहर बसियो, मेरे तन की तपनि बुझाई।
पहले दरसन मगहर पायो, फुनि कासी बसे आई॥
—वही, पृ० ४२३; क० ग्रं० पृ० २६६, १०।

मगहर में ठहर जाना असंभव नहीं। यहीं से कबीर पर हिंदू भावों और योगमूलक विरक्ति का आरंभ हो जाता है। जान पड़ता है कि कबीर को योग की बातों का ज्ञान गोरखपंथी योगियों से ही हुआ था। योगाभ्यास के द्वारा उनको परमात्मा की झलक तो मिल गई थी परंतु वे किसी ऐसे पहुँचे योगी के पल्ले न पड़े जो उनको पूर्णानुभूति की दशा तक पहुँचा देता। उनके ग्रन्थों में हम गोरखनाथ की तो भूरि-भूरि प्रशंसा पाते हैं किंतु अधकचरे गोरखपंथियों की निंदा। माया के वास्तविक स्वरूप को गोरखनाथ अच्छी तरह जानते थे, इसी से वे उसको लक्ष्मण की भाँति त्याग सके थे*। नारी से विरक्त होकर वे अमर हो गये थे। कलिकाल में गोरखनाथ ऐसा भक्त हुआ कि माया में पड़े हुए अपने गुरु से उसने राज्य छुड़वा दिया।+ जिस आनंद का सुखदेव भी बहुत थोड़ा ही सा उपभोग कर सके थे, उसका पूर्णोपभोग गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द आदि योगियों ने किया था।= अधकचरे जोगियों को उन्होंने

मेकालिफ ने गलती से दूसरी पंक्ति का अर्थ किया है 'पहले मैंने काशी में दर्शन पाये और फिर मगहर में आकर बसा', जो प्रसंग के प्रतिकूल है और स्पष्ट ही गलत है।

* राम गुन वेलड़ी रे अवधू गोरपनाथि जाणी।

—क० ग्रं०, पृ० १४२, १६३।

निरगुण सगुण नारी संसारि पियारी, लखमणि त्यागी, गोरपि निवारी।

—वही, पृ० १६६, २३२।

\+ गोरपनाथ न मुद्रा पहरी मस्तक हू न मुंडाया।
ऐसा भगत भया कलि ऊपर गुरु पै राज छुड़ाया॥

—वही, पृ० १८६, २९८।

= ता मन का कोइ जानै भेव। रंचक लीन भया सुपदेव॥
गोरप भरथरि गोपीचन्दा। ता मन सौं मिलि करैं अनंदा॥

—क० ग्रं०, पृ० ९९, ३३।

कहा है कि वे जटा बाँध-बाँध कर मर गये पर उन्हें सिद्धि न प्राप्त हुई।× इन सब बातों को देखते हुए मेरी प्रवृति मगहर ही को उनका जन्म-स्थान मानने की होती है। मालूम होता है कि इसी लिए काशी छोड़ने पर मगहर को उन्होंने अपना निवासस्थान बनाया।

योगियों तथा साधुओं के सत्संग से जब कबीर के हृदय में विरक्ति का भाव उदय हुआ तब वे पूर्ण आध्यात्मिक जागर्ति के लिए व्याकुल हो उठे। घर में रहना उनके लिए दूभर हो गया। कामकाज सब छोड़ दिया। ताना-बाना पड़े रह गए।× संसार से उदासीन होकर जंगल छान डाले,= तीर्थाटन किए÷, पर उनके मन को शांति न हुई। परमात्मा के दर्शन करा देनेवाला कोई समर्थ साधु उन्हें मिला नहीं। हाँ, ऐसे बहुत मिले जिनमें भक्ति कम, अहंकार अधिक था।⊛ परंतु कबीर को ऐसे लोगों से क्या मतलब था? उनसे वे क्या सीखते? हाँ, उन्हें सिखा अवश्य सकते थे।

कामिनि अंग विरकत भया रक्त भया हरि नाईं।
साषी गोरषनाथ ज्यू, अमर भये कलि माईं॥
—वही, पृ० ५१, १२।

+ जटा बाँधि-बाँधि जोगी मूए, इनमें किनहु न पाई।
—वही, पृ० १९५, ३१७।

× तनना बुनना तन तज्या कबीर, राम नाम लिख लिया सरीर।
—वही, पृ० ६५, २१।

= जाति जुलाहा नाम कबीरा, बन-बन फिरौ उदासी।
—वही, पृ० १८१, २७०।

÷ बृंदावन ढूंढ्यो, ढूंढ्यों हो जमुना को तीर।
राम मिलन के कारने जन खोजत फिरै कबीर॥
—'पौड़ी हस्तलेख', पृ० १६४ (अ)

⊛ थोरी भगति बहुत अहँकारा। ऐसा भक्ता मिलें अपारा॥
—क० ग्रं०, पृ० १३२, १३७।

कबीर कुछ दिन मानिकपुर में भी रहे। शेख तकी की प्रशंसा सुनकर वे वहाँ से ऊँजी जौनपुर होते हुए झूँसी गए। झूँसी में भी वे कुछ दिन तक रहे। उन्हें शेख तकी को बतलाना पड़ा कि परमात्मा सर्वव्यापक है; अकर्दी सकर्दी को जताना पड़ा कि तुम क़ुर्बानी जिबह इत्यादि करके पाप कमा रहे हो, किसी जमाने में भी ये काम हलाल नहीं हो सकते। वे गुरु बनने नहीं आये थे पर क्या करते, उनसे रहा नहीं गया।× वे तो स्वयं ऐसे एकाध आदमी को ढूँढ रहे थे जो रामभजन में शूर हो।÷ उनको अनुभव हुआ कि परमात्मा के दर्शनों के लिए वन में ही कोई अनुकूल परिस्थिति नहीं होती।= अंत में उनकी भी खोज सफल हुई और जनाकीर्ण काशी में उनको एक आदमी मिला, जो जाति-पाँति के अहंकार से दूर था, परमात्मा के सम्मुख मनुष्य मनुष्य में किसी भेद-भाव को न मानता था, और जो अपने ज्ञान-बल से कबीर की महत्ता

× घट घट अविनासी अहै सुनहु तकी तुम सेख।

—'बीजक', रमैनी ६३.

मानिकपुरहिं कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी॥
ऊजी सुनी जवनपुर थाना। झूसी सुनि पीरन के नामा॥
एकइस पीर लिखे तेहि ठामा। खतमा पढ़ै पैगंबर नामा॥
सुनत बोल मोहि रहा न जाई। देखि मुकर्बा रहा भुलाई॥
नबी हबीबी के जो कामा। जहँ लौ अमल सबै हरामा॥
सेख अकर्दी सकर्दी तुम मानहु बचन हमार।
आदि अंत और जुग जुग देखहु दृष्टि पसार॥

—वही, रमैनी ४८।

÷ कहै कबीर राम भजबे को एक आध कोइ सूरा रे।

—क० ग्रं०, पृ० ११५, ८५।

= घर तजि वन कियो निवास। घर वन देखो दोउ निरास।

—वही, पृ० ११३, ७६।

आकांक्षा को पूर्ण कर सकता था, जिसके उपदेश से कबीर को मालूम हुआ कि जिसको ढूँढने के लिए हम बाहर भटकते फिरते हैं वह परमात्मा तो हमारे ही शरीर में निवास करता है॥। यह साधु स्वामी रामानंद थे।

कहते हैं कि रामानंद पहले मुसलमान को चेला बनाने में हिचके। इस पर कबीर ने एक युक्ति सोची। रामानंद जी पंचगंगा घाट पर रहते थे और सदैव ब्राह्म-मुहूर्त में गंगास्नान करने जाया करते थे। एक दिन जब कबीर ने देख लिया कि रामानंद स्नान करने के लिए चले गये तो सीढ़ी पर लेट कर वह उनके लौटने की बाट जोहने लगा। रामानंद लौटे तो उनका पाँव कबीर के सिर से टकरा गया। यह सोचकर कि हमसे बिना जाने किसी का अपकार हो गया है, रामानंद 'राम राम' कह उठे। कबीर ने हर्षोत्फुल्ल होकर कहा कि किसी तरह आपने मुझे दीक्षित कर अपने चरणों में स्थान तो दिया। उसके इस अनन्य भाव से रामानंद इतने प्रभावित हो गये कि उन्होंने उसे तत्काल अपना शिष्य बना लिया।

मुहसिनफनी काश्मीरवाले के लिखे फारसी इतिहास ग्रन्थ तवारीख दबिस्ताँ से भी यही बात प्रकट होती है। उसमें लिखा है कि कबीर जोलाहा और एकेश्वरवादी था। अध्यात्म-पथ में पथप्रदर्शक गुरु की खोज करते हुए वह हिंदू साधुओं और मुसलमान फकीरों के पास गया और कहा जाता है कि अंत में रामानंद का चेला हो गया×।

परंतु कुछ लोग रामानंद को न मानकर शेख तकी को कबीर का गुरु मानते हैं। इस मत का सबसे पहला उल्लेख खज़ीनतुल आसफ़िया में मिलता है, जिसे मौलवी गुलाम सरवर ने सन् १८६८ ई० में छपवाया

॥ जिस कारनि तटि तीरथ जाहीं। रतन पदारथ घटही माहीं।
—वही, १०२, ४२।

× 'कबीर ऐंड दि कबीर पंथ' में उद्धृत, पृ० ३७।

था। 'वेस्कट' साहब ने भी इस ग्रंथ के आधार पर अपने कबीर ऐण्ड दि कबीर पंथ में बड़े जोर-शोर से इस मत का समर्थन किया है। परंतु दबिस्ताँ का साक्ष्य उनकी सरगर्मी से कहीं अधिक मूल्यवान है। इतिहासकार मुहसनफनी अकबर के समय में हुआ था। रामानंद के समय को पहले से पहले ले जाने पर भी मुहम्मनफनी और उनके समय में सवा-डेढ़ सौ वर्ष का अंतर रहता है। अतएव उन्होंने जिन जनश्रुतियों के आधार पर यह लिखा है, वे आजकल की जनश्रुतियों से अधिक प्रामाणिक हैं। शेख तकी कबीर के गुरु थे, इस संबंध में किसी इतनी प्राचीन जनश्रुति का होना नहीं पाया जाता। इस बात की भी आशंका नहीं हो सकती कि मुहसनफनी ने पक्षपात के कारण ऐसा लिखा हो।

मुहम्मनफनी ही ने नहीं, और लोगों ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि कबीर रामानंद के चेले थे। नाभाजी ने सं० १६४२ के लगभग भक्तमाल की रचना की थी। उसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कबीर को रामानंद का चेला लिखा है। उनसे एक-दो पीढ़ी पहले ओड़छेवाले हरीराम शुक्ल हो गये थे, जो साहित्य-संसार तथा संत-समुदाय में 'व्यास' जी के नाम से प्रख्यात हैं। इनके संबंध में यह ख्याति चली आती है कि ४५ वर्ष की अवस्था में ये संवत् १६१८ में राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश जी के शिष्य हुए थे।* हितहरिवंश जी का जन्म-संवत् देर से देर में मानने से संवत् १५५६ ठहरता है, यद्यपि सांप्रदायिक मत के अनुसार उनका जन्म १५३० में हुआ था। अतएव व्यास जी का संसर्ग ऐसे लोगों के साथ था जिनके समय के आरंभ तथा कबीर के समय के अंत में आधी शताब्दी से अधिक का अंतर नहीं था। उनसे इस संबंध में व्यासजी

* 'शिवसिंहसरोज', पृ० ५०७।

ने जो कुछ सुना होगा, वह विश्वसनीय होना चाहिए। व्यासजी वैकुंठवासी संतों की मृत्यु पर शोक मनाते हुए कहते हैं—

> साँचे साधु जु रामानंद।
> जिन हरिजी सों हित करि जान्यो, और जानि दुख-दंद॥
> जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसुरानंद।
> तब रैदास उपासिक हरि को, सूर सु परमानंद॥
> उनते प्रथम तिलोचन नामा, दुख-मोचन सुख-कंद।
> खेम सनातन भक्ति-सिंधु रस रूप रघु रघुनंद॥
> अलि रघुवंशहि फव्यो राधिका-पद-पंकज-मकरंद।
> कृष्णदास हरिदास उपास्यो, वृंदावन को चंद॥
> जिन बिनु जीवत मृतक भये हम सहत बिपति के फंद।
> तिन बिन उर को सूल मिटै क्यों जिये 'व्यास' अति मंद॥*

इससे स्पष्ट है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे।

कबीर के शिष्य धर्मदास की वाणी से भी यही बात प्रकट होती है। कबीर के कट्टर भक्त गरीबदास भी यही कहते हैं, यद्यपि वे गुरु से चेले को अधिक महत्व देते हैं और उसे गुरु के उद्धार का कारण बताते हैं—

> गरीब रामानंद से लख गुरु तारे चेले भाइ।
> चेलों की गिनती नहीं,—पद में रहे समाइ× ॥

---

* बाबू राधाकृष्णदास ने इस पद को अपने सूरदास के जीवन-चरित्र में उद्धृत किया है। वे प्राचीन साहित्य के बड़े विद्वान् थे। खेद है कि मैं व्यास जी की बानी नहीं पा सका।—'राधाकृष्णदास-ग्रंथावली' प्रथम भाग, पृ० ४५४।

× 'हिरंबर-बोध', पारख अंग की साखी, ३२।

'हम काशी में प्रकट भये हैं, रामानन्द चेताये।' ® कबीर की मानी जानेवाली इस उक्ति का भी यह अर्थ नहीं कि रामानन्द ने कबीर को जगाया बल्कि यह कि कबीर ने रामानन्द को जगाया। परन्तु यह मान लेने पर भी, यह कोई नहीं कह सकता कि यह रामानन्द को कबीर का गुरु मानने में बाधक है। गोरखनाथ ने मछंदरनाथ को जगाया किन्तु यह कोई नहीं कहता कि गोरखनाथ मछंदर के चेले नहीं थे। असल में यह वचन यही बतलाने के लिए गढ़ा गया है कि रामानन्द के चेले होने पर भी कबीर उनसे बड़े थे। परंतु स्वतः कबीर ने अपने आपको अपने गुरु से बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया और रामानन्द की मृत्यु का उल्लेख करते हुए बीजक के एक पद में बड़े उत्साह से उन्होंने उनकी महिमा गाई है—

आपन अस× किये बहुतेरा। काहु न मरम पाव हरि केरा॥
इंद्री कहाँ करै बिसरामा। (सो) कहाँ गये जो कहत हुते+ रामा॥
सो कहाँ गये जो होत सयाना। होय मृतक वहि पदहि समाना॥
रामानंद रामरस माते। कहहि कबीर हम कहि कहि थाके÷॥

कबीर कहते हैं कि उन हरि का भेद कोई नहीं जानता, जिन्होंने बहुतों को अपने समान कर दिया है। [लोग समझते हैं कि रामानंद वैसे ही मर गये जैसे और मनुष्य मर जाते हैं, इसी से पूछा करते हैं—] उनकी इंद्रियाँ कहाँ विश्राम कर रही हैं? उनका 'राम' 'राम' कहनेवाला जीवात्मा कहाँ गया? [कबीर का उत्तर है कि] वह मरकर परम पद में समा गया है। [क्योंकि] रामानंद रामरूप मदिरा से मत्त

® क० श०, भाग २, पृ० ६१।
× कुछ प्रतियों में 'अपन आस किजे', पाठ भी मिलता है।
+ होते।
÷ 'बीजक', पद ७७।

थे। हम कहते-कहते थक गये [परंतु लोग यह भेद ही नहीं समझ पाते]।

क्या आश्चर्य है कि कबीर इस पद में रामानन्द को साक्षात् हरि बना रहे हों? गुरु तो उनके मतानुसार परमात्मा होता ही है। रामानंदी संप्रदाय में तो रामानन्द राम के अवतार माने ही जाते हैं, नाभाजी ने भी उनको कुछ ऐसा ही माना है—

श्रीरामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग-तरन कियो।

कबीर का 'आपन अस किये बहुतेरा' और नाभाजी का 'दुतिय सेतु जग-तरन कियौ' अगर एक साथ पढ़े जायँ तो मालूम होगा कि दोनों रामानंद के संबंध में एक ही बात कह रहे हैं।

कबीर-ग्रंथावली के एक पद में कबीर ने परमात्मा के सम्मुख परमतत्त्व-रूप, सुख के दाता, अपने साधु-गुरु की खूब प्रशंसा की है, जिसमें सच्चे गुरु के गुण पूरी मात्रा में विद्यमान थे, जिसने हरि-रूप रस को छिड़ककर कामाग्नि से उसे बचा लिया था और पाषंड के किवाड़ खोलकर उसे संसार-सागर से तार दिया था—

राम! मोंहि सतगूर मिले अनेक कलानिधि, परम-तत्त्व सुखदाई।
काम-अगिनि तन जरत रही है, हरि-रसि छिरकि बुझाई॥
दरस-परस तैं दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यो आई।
पाषंड-भरम-कपाट खोलिकै, अनभै कथा सुनाई॥
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि ल्यावै तीरा।
नाव जहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा* ॥

ये सब बातें रामानंद पर ठीक उतरती हैं। उस समय मध्यदेश में वही एक साधु था जिसने पाषंड के दरवाज़े खोल डाले।'

ग्रंथ साहब में कबीर का एक पद है जिसमें उन्होंने कहा है कि

---

* क० ग्रं०, पृ० १५२, १६०।

मैंने अपने घर के देवताओं और पितरों की बात को छोड़कर गुरु के शब्द को ग्रहण किया है।* इससे प्रकट होता है कि उन्होंने कोई ऐसा गुरु बनाया था जिसके लिए उन्हें अपने कुल की परंपरा छोड़नी पड़ी। अगर शेख़ तक़ी उनके गुरु होते तो वे यह बात क्यों कहते? अतएव यह बात असंदिग्ध है कि रामानंद कबीर के गुरु थे।

रामानन्द के अतिरिक्त कबीर के समकालीनों में से एक ही व्यक्ति ऐसा है जिसका नाम कबीर ने विशेष आदरपूर्वक लिया है।× इनका नाम कबीर ने पीर पीताम्बर बतलाया है जिनके पास जाना वे हज्ज अथवा तीर्थाटन समझते थे। कबीर ने उनका जो वर्णन किया है (उनका कल कीर्तन, उनके गले में की कंठी और जिह्वा पर का 'राम'), वह यही सूचित करता है कि कि वे वैष्णव थे जो रामानन्द की ही भाँति हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव नहीं मानते थे और इसी लिये शायद कबीर की श्रद्धा के भाजन हुए। उनके नाम के पहले आये हुए 'पीर' शब्द को केवल 'गुरु' का पर्याय समझना चाहिये। उनकी महिमा कबीर ने यहाँ तक गाई कि देवर्षि नारद, शारदा, ब्रह्मा और लक्ष्मी को भी उनकी सेवा करते हुए दिखाया है। पता नहीं कि ये पीर पीतांबर रहनेवाले कहाँ के थे। 'गोमती-तीर' जौनपुर की ओर संकेत करता है।

---

* घर के देव पितर की छोड़ी गुरु को सबद लयो।

—'ग्रन्थ', ४६२, ६४।

× हज्ज हमारी गोमती-तीर। जहाँ वसहि पीतम्वर पीर॥
वाहु वाहु क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है।
नारद सारद करहि खवासी। पास बैठी विधि कँवला दासी॥
कंठे माला जिह्वा राम। सहस नाम लै लै करौं सलाम॥
कहत कबीर राम-गुन गावौ। हिंदू तुरुक दोउ समझावौ॥

—क० ग्र०, पृ० ३३०, २१५।

कबीर का समय बड़े विवाद का विषय है। उनके जन्म के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

चौदह सौ पचपन साल गये, चंद्रवार एक ठाठ ठये।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी तिथि प्रगट भये॥

इसके आधार पर कबीर कसौटी में उनका जन्म सं० १४५५ के ज्येष्ठ की पूर्णिमा को सोमवार के दिन माना गया है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने 'साल गये' के आधार पर उसे १४५६ सं० माना है, जो गणित के अनुसार भी ठीक बैठता है। परंतु इस संवत् को मानने से रामानंद जी की मृत्यु (सं० १४६७) के समय कबीर की अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की ठहरती है, जिससे उसका रामानंद का शिष्य होना घटित नहीं होता। रामानंद जी के शिष्य होने के समय कबीर निरे बालक न रहे होंगे। बिना विशेष विरक्तावस्था के जागरित हुए न रामानंद ही किसी मुसलमान को चेला बना सकते थे और न कबीर हो किसी हिंदू के चेले बनने के लिए उत्सुक हो सकते थे। उस समय कम से कम उनकी अवस्था अठारह वर्ष की होनी चाहिये। एक-दो वर्ष कम से कम उसने रामानंद जी का सत्संग भी किया होगा। अतएव कबीर का जन्म सं० १४४७ से पहले हुआ होगा, पीछे नहीं।

कबीर के समय तक नामदेव करामाती कथाओं के केन्द्र हो गये थे जिससे मालूम होता है कि वे कबीर से पहले हुए थे। नामदेव की मृत्यु सं० १४०७ के लगभग हुई थी, अतएव कबीर का आविर्भाव सं० १४०७ और १४४७ के बीच किसी समय में मानना चाहिए। मेरी समझ में सं० १४२७ के आस-पास उनका जन्म मानना उचित है।

कबीर साहब पीपा के समकालीन थे। पीपा के जीते जी कबीर को बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी। पीपा का समय हम १४१० से १४६० तक मान आये हैं। कबीर पीपाजी से अवस्था में छोटे हो सकते हैं,

किंतु बहुत छोटे नहीं। इस दृष्टि से भी १४५७ के आस-पास उनका जन्म मानना उचित है।

मृत्यु के निकट पहुँचकर बहुत प्रसिद्ध हो गए होंगे। इसलिए उनकी जन्म-तिथि का लोगों को ज्ञान रहा हो, चाहे न रहा हो, उनकी पुण्यतिथि का ज्ञान अवश्य रहा होगा। उनकी निधन-तिथि के बारे में दो दोहे प्रचलित हैं, जो प्रायः एक ही के रूपांतर मालूम होते हैं*। एक के अनुसार उनकी मृत्यु सं० १५०५ और दूसरे के अनुसार १५७५ में हुई। इनमें से एक अवश्य सही होना चाहिए। पहला अधिक संगत मालूम पड़ता है। उसके अनुसार उनकी आयु लगभग ८० वर्ष की होती है। अनुमान यह होता है कि सिकंदर लोदी (राज्य सं० १५४६ से १५७२) के साथ कबीर का नाम जोड़ने के उद्देश्य से ही किसी ने 'औ पाँच सो' की जगह 'पछत्तरा' कर दिया है। कबीर पर किसी शासक की कोप-दृष्टि अवश्य हुई थी, पर वह शासक सिकंदर ही था, इसका कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। प्रियादास जी ने सिकंदर ही को अधिक जुल्मी सुना होगा, इसी से उसके द्वारा कबीर पर जुल्म होना लिख दिया होगा।

कबीर के जीवन की घटनाओं में शेख तक़ी का नाम भी लिया जाता है। रेवरेंड वेस्कट ने इस नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख किया है, एक मानिकपुर कड़ा के और दूसरे झूँसी के। मानिकपुरवाले शेख तक़ी चिश्तिया खानदान के थे। उनकी मृत्यु सं०१६०२ (ई० १५४५) में हुई। झूँसीवाले तक़ी सुहरवर्दी खानदान के थे और स्वामी रामानंद

---

* संवत पंद्रह सो औ पाँच सो, मगहर को कियो गमन।
अगहन सुदी एकादसी, मिले पवन में पवन ॥ १ ॥
संवत पंद्रह सो पछत्तरा, कियो मगहर को गमन।
माघ सुदी एकादसी, रलो पवन में पवन ॥ २ ॥

के समकालीन थे। इनकी मृत्यु सं० १४८६ (ई० १४२९) में हुई। परंपरा के अनुसार झूँसीवाले शेख तक़ी ही कबीर के समकालीन थे*। इनके समय की प्राचीनता के कारण विद्वानों को इसमें संदेह होता है। परन्तु सं० १५०५ (ई० १४४८) में कबीर की मृत्यु मानने से इस संदेह के लिए जगह नहीं रह जाती। उलमा लोग भी इसी संवत् को मानते हैं।

मॉनुमेंटल ऍंटिक्विटीज़ ऑव दि नार्थ वेस्टर्न प्रॉविंसेज़ के लेखक डाक्टर फ्यूरर के अनुसार संवत् १५०७ (१४५० ई०) में नवाब बिजलीखाँ पठान ने कबीर की कबर के ऊपर रौजा बनवाया था जिसका जीर्णोद्धार संवत् १६२४ (१५६७ ई०) में नवाब फिदाईखाँ ने करवाया। इससे भी इस मत की पुष्टि होती है। परन्तु खेद है कि डाक्टर फ्यूरर ने अपने प्रमाणों का उल्लेख नहीं किया।

जान पड़ता है कि कबीर विवाहित थे। उनकी कविता में स्थान-स्थान पर 'लोई' शब्द आया है जिससे अनुमान किया जाता है कि लोई उनकी स्त्री का नाम है जिसे संबोधित कर ये कविताएँ कही गई हैं। परन्तु अधिक स्थानों पर लोई 'लोग' के अर्थ में आया है और 'लोग' लोक का अपभ्रंश रूप है। हाँ आदिग्रंथ में दो स्थल+ ऐसे हैं, जिनमें 'लोई'

---

* कहते है कि कबीर कुछ दिन तक झूँसी मे शेख तक़ी के पास रहे थे। खाने-पीने के संबंध में सत्कार का अभाव देखकर जब कबीर कुड़बुड़ाये तब शेखजी ने उन्हें शाप दे दिया जिससे वे छः मास तक संग्रहणी से ग्रस्त रहे। अब तक झूँसी में एक कबीर नाला है। कहते है कि उन दिनों कबीर जिस नाले में जाया करते थे, वह यही था।

+ कहत कबीर सुनहु रे लोई। अब तुमरी परतीत न होई॥
—ग्रन्थ, पृ० २६२

सुनि अंधली लोई बे पीर। इन मुडियन भजि सरन कबीर॥
—क० ग्रं० २९६, १०९

स्त्री-वाचक हो सकता है। आदिग्रंथ में एक पद ऐसा भी है जिससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कबीर का विवाह धनिया नामक युवती से हुआ हो जिसका नाम बदलकर उसने रामजनिया कर दिया हो। इसी से कबीर की माता को क्षोभ होता है, क्योंकि 'रामजनी' तो वेश्या अथवा वेश्या-पुत्री को ही कह सकते हैं। परन्तु इससे कबीर का अभिप्राय दूसरा ही है। 'माता' माया है और 'धनिया' उसका प्रधान अस्त्र कामिनी और 'रामजनी' भक्ति, जिसमें कुल-मर्यादा का कोई ध्यान नहीं रखा जाता।

जनश्रुति के अनुसार कबीर के एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम कमाल, पुत्री का कमाली था। पंथवालों के अनुसार ये उनके सगे लड़के-लड़की नहीं थे, बल्कि करामात के द्वारा मुर्दे से जिंदे किये हुए बच्चे थे जो उन्हीं के साथ रहा करते थे। इस छोटे से परिवार के पालन के लिए कबीर को अपने करघे पर खूब परिश्रम करना पड़ता था। परन्तु शायद उससे भी पूरा न पड़ता था, इसी से कबीर ने दो वक्त के लिए दो सेर आटा, आध सेर दाल, पाव भर घी और नमक (चार आदमियों की खुराक) के लिए ⊕ परमात्मा से प्रार्थना की जिससे निश्चित होकर भजन में समय बिता सकें। साधु-सेवा की कामना से और अधिक अर्थ-संकट आ उपस्थित होता था। बाप की कमाई शायद इसमें खर्च हो चुकी थी। कबीर की स्त्री को यह बात खलती थी कि अपने बच्चे तो घर में भूखे और दुखी रहें और साधु लोगों की दावत होती रहे ×। मालूम होता है कि कमाल धन कमाकर संग्रह करके

⊕ दुइ सेर मांगों चूना। पाव घीउ संग लूना॥
आध सेर मांगों दाले। मोको दोनो वखत जिवाले॥...
—क० ग्रं०, पृ० ३१४, १५६।

× इन मुंड़िया सगलो द्रब खोई। आवत जात कसर ना होई॥...
लरिका लरिकन खैबो नाहिं। मुंड़िया अनदिन धाये जाहिं॥...
—वही २६६, १०६।

माता को प्रसन्न करता था। परन्तु इससे कबीर को दुःख होता था।⊛ पिता की मृत्यु पर उसने भी अपने पिता के मार्ग का अनुसरण किया और वह अहमदाबाद की तरफ उनके सिद्धांतों का प्रचार करता रहा।

कबीर ने सत्य के शोध में अपना जीवन व्यतीत किया था। अज्ञान के विरुद्ध उन्होंने घोर युद्ध किया था। हिंदू-मुसलमान दोनों पर उन्होंने व्यंग्यों की बाण-वर्षा की, जिससे दोनों तिलमिला उठे। सुलतान के दरबार में उनकी शिकायतें पहुँचीं। 'राजा राम' का सेवक भला पृथ्वी के किसी शासक की क्या परवा करता? उसने बेधड़क सुलतान का सामना किया। × काजी ने दंड सुनाया। पर, कहते हैं कि हाथ-पाँव बाँधकर गंगा में डुबाने, आग में जलाने, हाथी से कुचलवाने के सब प्रयत्न निष्फल हुए। संत-परंपरा में ये कथाएँ बहुत प्रचलित हैं कि प्रह्लाद के साथ कबीर की पूर्ण तुलना के लिये कथाएँ गढ़ी गई हैं। म्लेच्छ-कुल में पैदा होने पर भी कबीर वैष्णव हो गया था, इस दृष्टि से उसकी प्रह्लाद के साथ समानता थी ही। कबीर-ग्रंथावली में भी इनका वर्णन है। इसी से उसकी प्रामाणिकता को भी हम अभेद्य नहीं कह सकते। हाँ, अगर हम 'काजी' का अर्थ हिरण्यकश्यप का न्यायाध्यक्ष मानें

⊛ बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूता कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़ि के, ले आया घर माल॥
—वही १०१, ४१।

× अहो मेरे गोविंद तुम्हारा जोर। काजी बकिवा हस्तीतोर॥...
तीनि बार पतियारो लीना। मन कठोर अजहुँ न पतीना॥
—वही पृ० २१०, ३६५; ३१४, १५५।

गंग गोसाइनि गहिर गभीर, जंजीर बाँधिकर खरे हैं कबीर।...
गंग लहरि मेरी टूटी जंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर॥
—वही. पृ० २८०, ५०।

और इस पद को प्रह्लाद के सम्बन्ध का मानें तो कुछ खप सकता है। जो हो, इसमें तो संदेह नहीं कि बुढ़ापे में कबीर के लिए काशी में रहना लोगों ने कुछ दूभर कर दिया था। इससे तंग आकर ये मगहर चले गये। किसी के आदेश से ये मगहर नहीं आये थे, इसका पता आदि ग्रन्थ के एक पद से चलता है। कभी-कभी फिर काशी जाने के लिए उनका मन मचल उठता था।＊ लोग भी, खास करके उनके हिन्दू शिष्य, मोक्षदा पुरी का यश गाकर उन्हें काशीवास करने को कहते होंगे। परन्तु वे अन्धविश्वासों को कब माननेवाले थे, जन्म भर की लड़ाई को अन्तिम घड़ी ही में कैसे छोड़ देते? उन्होंने कहा—'हृदय का क्रूर यदि काशी में मरे तो भी उसे मुक्ति नहीं मिल सकती और यदि हरिभक्त मगहर में भी मरे तो भी यम के दूत उसके पास नहीं फटक सकते। + काशी में शरीर त्यागने से लोगों को भ्रम होगा कि काशी-वास से ही कबीर की मुक्ति हुई है। मैं नरक भले ही चला जाऊँ पर भगवान् के चरणों का यश काशी को न दूँगा।' × इसलिए राम का स्मरण करते करते-उन्होंने मगहर में शरीरत्याग किया। ÷ वहीं उनकी कब्र

＊ जिउ जल छोड़ि बाहिर भइ मीना...
तजिले बनारस मति भइ थोरी।
—ग्रंथ, १७६, १५।

+ हिरदे कठोर मरया बनारसी, नरक न वंच्या जाई।
हरि का दास मरे मगहर, सेना सकल तिराई॥
—क० ग्रं०, पृ० २२४, ३४५।

× जो काशी तन तजै कबीर, रामहि कहा निहोरा।
—वही, पृ० २३१, ४०२।

चरन बिरद कासीहि न देहूँ। कहै कबीर भल नरके जैहूँ।
—वही, पृ० १८५, २६०।

÷ मुआ रमत श्रीरामै। —ग्रन्थ, पृ० १७६, १५।

अब तक विद्यमान है। कहा जाता है कि राजा वीरसिंह की इच्छा कबर को खोदकर हिन्दू प्रथा के अनुसार उनके शव का दाह करने की थी, परन्तु उसमें वे सफल नहीं हुए। इस सम्बन्ध में और भी कई स्थान कहे जाते हैं।

कबीर का एक अलग पंथ चला। उनके शिष्यों में हिन्दू-मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। बड़े-बड़े राजा-नवाबों ने अपने आत्मा की रक्षा की आशा से उनकी शरण ली। बघेल राजा वीरसिंह और बिजली खाँ नवाब दोनों उनके चेले थे। उनके अन्य चेलों में धर्मदास, सुरत गोपाल, जागूदास और भगवानदास (भागूदास) प्रसिद्ध हैं। मृत्यु के बाद कबीरपंथ की दो प्रधान शाखाएँ हो गईं। काशीवाली शाखा की गद्दी पर सुरत गोपाल बैठे और बान्धव गढ़ की गद्दी पर धर्मदास। सुरत गोपाल ब्राह्मण थे, इसके अतिरिक्त उनके बारे में और कुछ नहीं मालूम है। धर्मदास बांधवगढ़ के वैश्य थे। कबीर से उनकी भेंट पहले-पहल वृन्दावन में हुई थी। वहाँ उनके ऊपर कबीर के उपदेशों का कुछ असर नहीं हुआ। परन्तु एकबार फिर कबीर ने स्वयं बान्धवगढ़ जाकर उनको उपदेश दिया और वे कबीर के बड़े भक्तों में से हो गये। धर्मदासियों का प्रधान स्थान धामखेड़ा (छत्तीसगढ़) है, किन्तु हाटकेश्वर में भी उनकी एक प्रशाखा है। मंड़ला, कवरधा (दोनों मध्यप्रान्त में), धनौटी तथा अन्य कई स्थानों में भी कबीरपंथ की छोटी-मोटी शाखाएँ हैं।

कबीर के मत का प्रचार बहुत दूर-दूर तक हुआ, लेकिन अधिकतर हिन्दुओं में ही, मुसलमानों में नहीं। मगहर में भी कबीर का एक स्थान है परन्तु वहाँ पर वे साधारण 'पीर' समझे जाते हैं, जब कि अन्य कबीरपंथी उन्हें साक्षात् परमात्मा मानते हैं। दिल्ली के आस-पास के जुलाहे अपने को कबीरवंशी कहते हैं किन्तु कबीरपंथी नहीं। देश के कोने-कोने में कबीरपंथी लोग पाये जाते हैं। बहुत कुछ लोग ऐसे

नी हैं जो कबीरपंथ से अपना संबंध भूल गये हैं। पहाड़ के डोम प्रायः निरंकारी हैं। उनकी पूजाओं में कबीर का नाम आता है। पहाड़ में प्रचलित झाड़-फूँक के मन्त्रों में कबीर की गिनती सिद्धों में की गई है।

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्होंने स्वयं कहा है 'विद्या न पढ़ौं, वाद नहिं जानौं'।* अतएव उनकी कविता साहित्यिक नहीं है। उसमें सत्यनिष्ठा का तेज, दृढ़ विश्वास का बल और सरलहृदयता का सौंदर्य है। बाबू श्यामसुन्दर दास-द्वारा संपादित कबीर-ग्रन्थावली में आई हुई साखी, पद और रमैनी में उनकी निर्गुण वाणी बहुत कुछ प्रमाणित है। संपूर्ण बीजक भी प्रमाणित नहीं जान पड़ता। उनकी कुछ कविताओं का संग्रह सिखों के आदिग्रंथ में भी हुआ है। इनके अतिरिक्त भी और कई ग्रंथ कबीर के नाम से प्रचलित हैं जो कबीर के नहीं हो सकते। उनके बहुत से ग्रंथ धर्मदासी शाखा के महंतों और साधुओं के बनाये हुए हैं। उनके ग्रन्थों की प्रमाणिकता का विषय निर्गुण साहित्य नामक अध्याय में लिया जायगा।

धर्मदासजी की कविता में यद्यपि वह ओज और तीक्ष्णता नहीं है जो कबीर की कविता में, फिर भी वह कबीर की कविता से अधिक मधुर और कोमल है। उन्होंने अधिकतर प्रेम की पीर की अभिव्यंजना की है। उनकी शब्दी का कबीरपंथ में बहुत मान होता है।

कबीर की मृत्यु के इक्कीस वर्ष बाद सं० १५२६ (१४६९ ई०) में लाहौर के समीप तलवंडी नामक एक छोटे से गाँव में एक बालक का जन्म हुआ जिसके भाग्य में कबीर के सत्य-प्रसारक आंदोलन के नेतृत्व का भार ग्रहण करना लिखा था। यह बालक नानक था। उसके पिता का नाम कल्लू और माता का तृप्ता था। बहुत छोटी अवस्था में उसका विवाह कर

२. नानक

---

* क० ग्रं०, पृ० ३२२, १८७।

दिया गया था। उसकी स्त्री का नाम सुलक्षणा था जिससे आगे चलकर उसके श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नामक दो पुत्र हुए। श्रीचंद ने सिखों की उदासी नामक एक शाखा का प्रवर्तन किया जो गुरु नानक को भी मानते हैं और अपने आप को हिंदू घेरे से अलग नहीं समझते। लक्ष्मीचंद के वंश के लोग आज भी पंजाब के भिन्न-भिन्न भागों में पाये जाते हैं।

नानक सांसारिक दृष्टि से बहुत थोड़ा समझा जाता था। चटसार (पाठशाला) में उसने कुछ नहीं सीखा। वह गृहस्थी के कुछ काम का न पाया गया। खेत रखाने भेजा जाता तो खेत चराकर आता; बीज बोने के बदले वह किसी भूखे को दे आता। उसके बाप ने चाहा कि वह दूकान करे परन्तु दूकान भी थोड़े ही दिनों में चौपट हो गई। अंत में उससे निराश होकर उसके बाप ने उसे उसकी बहिन ननकी के यहाँ भेज दिया। ननकी का पति जयराम सरकारी नौकरी पर था। उसके कहने-सुनने से नानक को नवाब ने भंडारी का पद दे दिया। अपनी बहिन का मन रखने के लिए नानक अपने नए काम को बड़ी लगन के साथ करने लगा। ऐसा मालूम होता था कि नानक अब दुनियाँ में किसी काम का हो जायगा। परंतु लिखा कुछ और ही था। साधु-संतों की सेवा उसने अब भी न छोड़ी थी। उनका सत्कार करने के लिए वह सदा मुट्ठी खोले रहता था। इससे लोगों को उस पर संदेह होने लगा। उस पर सरकारी रुपये हड़प जाने का अभियोग लगाया गया। जाँच होने पर उसका पाई-पाई का हिसाब ठीक निकला। उसके मान की तो रक्षा हो गई पर उसका उचटा हुआ मन फिर दुनियाँ के धंधों में लगा नहीं; क्योंकि उसके भीतर की आँख खुल गई थीं। उसने देखा कि संसार में मिथ्या का राज्य है। अतएव मिथ्या के विरुद्ध उसने लड़ाई छेड़ दी। किंवदंतियों के अनुसार वह दिग्विजय करते हुए मक्का से आसाम और काश्मीर से सिंहल तक कई स्थानों में

पहुँचा। उसका स्वामिभक्त सेवक मरदाना, जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ-वहाँ, छाया की तरह उसके साथ गया। उनका सबसे अधिक प्रभाव पंजाब प्रांत में रहा जो उस समय इस्लाम का गढ़ था। नानक को यह देखकर बड़ा दुःख होता था कि मिथ्या और पाषंड का जोर बढ़ रहा है। "शास्त्र और वेद कोई नहीं मानता। सब अपनी-अपनी पूजा करते हैं। तुरकों का मत उनके कानों और हृदय में समा रहा है। लोगों की जूठन तो खाते हैं और चौका देकर पवित्र होते हैं—देखो यह हिंदुओं की दशा है"।* एक हिंदू चुंगीवाले से उसने कहा था—गो-ब्राह्मण का तो तुम कर लेते हो। गोबर तुम्हें नहीं तार सकता। धोती टीका लगाये रहते हो, माला जपते हो, पर अन्न खाते हो म्लेच्छ का। भीतर तो पूजा-पाठ करते हो, किंतु तुरकों के सामने कुरान पढ़ते हो। अरे भाई! इस पाषंड को छोड़ दो और भगवान् का नाम लो जिससे तुम तर जाओगे।"+

यदि वस्तुतः देखा जाय तो नानक उन महात्माओं में से थे जिन्हें हम संकुचित अर्थ में किसी एक देश, जाति अथवा धर्म का नहीं बतला सकते। समस्त संसार का कल्याण उनका ध्येय था। इसीलिए उन्होंने

* सासतु वेद न मानै कोई। आपो आपै पूजा होई॥
तुरक मंत्र कनि रिदै समाई। लोकमुहावहि छाडी खाई॥
चौका देके सुच्चा होई। ऐसा हिंदू देखहु कोई॥
आदि ग्रंथ, पृ० १३८।

+ गऊ बिरामण का कर लावहु, गोबर तरण न जाई।
धोती टीका तै जपमाली, धानु मलेच्छाँ खाई॥
अंतरिपूजा, पड़हि कतेबा संजमि तुरकाँ भाई।
छोडिले पखंडा, नामि लइए जाहि तरंदा॥
—'ग्रंथ', पृ० २५५।

हिन्दू-मुसलमान दोनों की धार्मिक संकीर्णता का विरोध किया। परन्तु अपने समय के वास्तविक तथ्यों के लिए वे आँखें बन्द किये हुए न थे। मिस्टर मैक्स आर्थर मेकॉलिफ़ का यह कथन कि सिखधर्म हिंदू धर्म से बिलकुल भिन्न है, आज चाहे सही हो पर नानक का यह उद्देश्य न था कि ऐसा हो। नानक हिंदू धर्म के उद्धारक और सुधारक होकर अवतरित हुए थे, उसके शत्रु होकर नहीं। सुधार के वे ही प्रयत्न सफल हो सकते हैं जो भीतर से सुधार के लिए अग्रसर हों, नानक यह बात जानते थे। उन्होंने परंपरा से चले आते हुए धर्म में उतना ही परिवर्तन चाहा, जितना संकीर्णता को दूर करने तथा सत्य की रक्षा करने के लिए आवश्यक था। उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद और जाति-पाँति का खंडन किया परन्तु त्रिमूर्ति (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) के सिद्धांत को स्पष्ट में स्वीकार किया।* प्रणव ॐ को उन्होंने अपनी वाणी में आदर के साथ स्थान दिया। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति' से वेदों में ऋषियों ने जो दार्शनिक चिंतन का आरंभ किया था, उसी का पूर्ण विकास वेदांत में हुआ, और उसी का सार लेकर नानक ने ऊँ सति नामु करता पुरुष निरभौ निरवैर अकाल मूरति अजूनि सैभं की भक्ति का प्रसार किया और एकेश्वरवाद का जो आकर्षण इस्लाम में था, उसके स्वधर्म में ही लोगों को दर्शन कराये, क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि लोग एक प्रपंच से हटकर दूसरे प्रपंच में जा पड़ें। हिंदू धर्म में ही नहीं, इस्लाम में भी पाषंड और प्रपंच भरा हुआ था। आध्यात्मिक प्रेरणा के बिना प्रत्येक धर्म प्रपंच और पाषंड है। जो बातें हिन्दू धर्म को सार्वभौम धर्म के स्थान से गिरा रही थीं उन बातों को हटाकर नानक ने फिर से शुद्ध धर्म

---

* एका माई जुगत वियाई, तिन चेले परवान।
एक संसारी, एक भंडारी, लाये दीवान॥
—जपजी, 'ग्रंथ', पृ० २।

का प्रचार किया। वह सार्वभौम धर्म, नानक जिसके प्रतिनिधि हैं, किसी धर्म का विरोधी नहीं, क्योंकि शुद्ध रूप में सभी धर्मों को उसके अंतर्गत स्थान है, वह धर्म-धर्म के भेद को नहीं मानता। फिर भी परिणामतः उनको मध्ययुग का पंजाबी राममोहन राय समझना चाहिए। उन्होंने इस्लाम की बढ़ती हुई बाढ़ से हिन्दू धर्म की उसी प्रकार रक्षा की जिस प्रकार राममोहन राय ने ईसाइयत की बाढ़ से। डा० ट्रम्प चाहे अच्छे अनुवादक न हों परन्तु उन्होंने नानक के सम्बन्ध में अपना जो मत दिया है वह बहुत सयुक्तिक है। मिस्टर फ्रेडरिक पिंकट ने उसके निराकरण का व्यर्थ प्रयत्न किया है।❀ डा० ट्रम्प ने लिखा है—"नानक की विचारशैली अन्त तक पूर्ण रूप से हिंदू विचारशैली रही। मुसलमानों से भी उनका संसर्ग रहा और बहुत से मुसलमान उनके शिष्य भी हुए, परन्तु इसका कारण यह है कि ये सब मुसलमान सूफी मत के माननेवाले थे और सूफी मत सीधे हिंदू मत से निकले हुए सर्वात्मवाद को छोड़कर और कुछ नहीं, इस्लाम से उसका केवल बाहरी सम्बन्ध है।"❀❀ जो नानक को मुसलमान मानने में मिस्टर पिंकट का साथ देते हैं वे उसी तरह भूल करते हैं जैसे वे लोग जो राममोहन राय को ईसाई मानते हैं। हाँ, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि नानक की विचारशैली को ढालने में इस्लाम का भी प्रकारान्तर से हाथ रहा है।

नानक बहुत ऊँची लगन के भक्त थे। पाषंड से सदा अलग रहते थे। दिखलाने भर के पूजा-पाठ और नमाज-इबादत में उनका विश्वास न था। जब नौकरी ही में थे तभी उन्होंने नवाब और क़ाज़ी से कह दिया था कि ऐसी नमाज से फायदा ही क्या जिसमें नवाब घोड़ा

❀ डिक्शनरी ऑव इस्लाम में सिख सम्प्रदाय पर मिस्टर पिंकट का लेख।

❀❀ ट्रम्प-'आदि ग्रन्थ' का अँगरेजी अनुवाद, प्रस्तावना, पृ० १०१।

खरीदने के और क़ाज़ी घोड़े के बच्चे की रक्षा करने के ख़याल को दूर न कर सके। वे दया, न्याय और समता का प्रसार देखना चाहते थे। अन्याय की खीर-खाँड़ में उन्हें खून की और मेहनत की रूखी-सूखी रोटी में दूध की धार दिखलाई देती थी। साहूकार के घर ब्रह्मभोज का निमन्त्रण अस्वीकार कर उन्होंने लालू बढ़ई की ज्वार की रोटी बड़े प्रेम से खाई थी। सं० १५८३ (१५२६ ई०) में बाबर ने सय्यदपुर को तहस-नहस करके एक घोर हत्याकाण्ड उपस्थित कर दिया था, जिसे नानक ने खुद अपनी आँखों से देखा था। नानक भी उस समय बन्दी बनाये गये थे। उस समय बाबर को उन्होंने न्यायी होने, विजित शत्रु के साथ दया दिखलाने और सच्चे भाव से परमात्मा की भक्ति करने का उपदेश दिया था। शासकों के अत्याचार की उन्होंने घोर निन्दा की। उन्हें वे बूचड़ कहते थे। उनका अत्याचार देखकर शान्ति के उपासक नानक ने भी 'खून के सोहिले' गाये और भविष्यवाणी की कि चाहे काया रूपी वस्त्र टुकड़े-टुकड़े हो जायँ फिर भी समय आयगा जब और मर्दों के बच्चे पैदा होंगे और हिन्दुस्तान अपना बोल सँभालेगा।*

नानक का गुरु कौन था, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। संतबानी-संपादक के अनुसार नारद मुनि उनके गुरु थे। कबीर मंसूर में भाई बाला की जनमसाखी से कुछ अवतरण दिये हैं जिनमें नानक के गुरु का नाम "जिंदा बाबा" लिखा है। जिंदा का अर्थ मुक्त पुरुष होता है। परमार्थतः केवल परमात्मा ही जिंदा बाबा है। कबीर-ग्रंथावली में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—"कहै कबीर हमारे

---

* काया कपड़ टुक-टुक होसी हिदुस्तान सँभालसि बोला।
आनि अठत्तरै जानि सत्तानवै, होरि भी उठसि मरद का चेला।
सच की बाणी नानक आखै, सचु सुणाइसि सच की वेला॥
—'ग्रन्थ', पृ० ३८९।

गोव्यंद। चौथे पद में जन का ज्यंद।"* विहारी दरिया ने भी इससे यही अभिप्राय माना है—

अद्दे वृच्छ मांह पुरुष हहि जिंदा अजर अमान।÷
मुनिवर थाके पंडिता, बेद कहहिं अनुमान॥

किंतु ज्ञान प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक संत मुक्त पुरुष (जीवन्मुक्त) हो जाता है और जिंदा कहला सकता है। कई हिन्दू साधु भी अपने को जिंदा फकीर कहा करते थे। कबीरपंथ की छत्तीसगढ़ी शाखावाले कबीर को भी जिंदा फकीर कहते हैं।

बाबा जिंदा के संबंध में भाई बाला ने नानक से कहलाया है "जिन्दे तोड़ी पवन और जल है, सब उसदे वचन विच चलते हैं।"+ जिंदा बाबा के गुरुत्व के संबंध में व्याख्या करते हुए एक मुगल फकीर के प्रति भाईजी ने नानक से कहलाया है—"यक खुदाय पीर शुदी कुल आलम मुरीद शुदी"।= इन स्थलों से तो यही जान पड़ता है कि उनमें जिंद का अर्थ परमात्मा ही किया गया है। उनमें नानक अपने गुरु को परमात्मा नहीं बल्कि परमात्मा को अपना गुरु बतला रहे हैं। अर्थात् नानक स्वतः संत थे, उन्हें गुरु धारण करने की कोई आवश्यकता न थी।

कबीर मंसूर से यह भी जान पड़ता है कि भाई बाला के अनुसार नानक ने बाबर से कहा था कि मैं "कलंद कबीर" का चेला हूँ जिसमें तथा परमेश्वर में कोई भेद नहीं है।× यदि कबीर मंसूर में इस अवतरण

---

* क० ग्रं०, पृ० २१०।

÷ सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १२३।

+ जनमसाखी, पृ० ३३६।

= वही, पृ० ३४६।

× जनमसाखी, पृ० ३६६।

में कुछ फेरफार नहीं हुआ है तो यहाँ भाई वाला भी कबीर को नानक का गुरु मानते जान पड़ते हैं जिससे जिंदा बाबा से कबीर ही अभिप्राय ठहरता है। परंतु कबीर मंसूर में 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू' का, वेद में कबीर के दर्शन कराने के उद्देश्य से कबीर्मनीषी हो गया है। इससे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

कबीर पंथी लोग भी नानक को कबीर का चेला मानते हैं। बिशप वेस्कट ने २७ वर्ष की अवस्था में नानक का कबीर से मिलना माना है, किंतु कबीर का जो समय पीछे निश्चित किया जा चुका है, उसके अनुसार यह ठीक नहीं जँचता। अतएव यदि जिंदा बाबा परमात्मा का नाम न होकर किसी साधु का नाम है तो वह साधु कबीर न होकर कोई दूसरा होगा। यदि कबीर ही नानक के गुरु हों तो, उसी अर्थ में हो सकते हैं जिस अर्थ में वे सं० १७६५ के आस-पास गरीबदास के गुरु हुए थे। इसका इतना ही अर्थ निकलता है कि नानक कबीर के मतानुयायी थे और उनकी वाणी से उनको अध्यात्म-मार्ग में बहुत प्रोत्साहन मिला था। आदिग्रन्थ इस बात का साक्षी है कि यह बात सर्वथा सत्य है।

गुरु नानक ने सं० १५६५ (१५३८ ई०) में अपना चोला छोड़ा। उनका मत सिखमत अथवा शिष्यमत कहलाया। उनके बाद एक-एक करके नौ और गुरु उनकी गद्दी पर बैठे; गुरु अंगद सं० १५६३ में, गुरु अमरदास सं० १६१५ में, गुरु रामदास सं० १६३१ में, गुरु अर्जुनदेव सं० १६३८ में, हरगोविंद सं० १६६३ में, हरराय सं० १७०२ में, गुरु हरकिसन सं० १७१८ में, गुरु तेगबहादुर सं० १७२१ में और सं० १७३२ में गुरु गोविंदसिंह। ये सब गुरु नानक की ही आत्मा समझे जाते थे। एक की मृत्यु पर दूसरे के शरीर में उसका प्रवेश माना जाता था। अपनी कविताओं में सबने अपनी छाप नानक रखी है। अपने आदि गुरु के समान सभी गुरु कवि थे। सबने अपनी कविताओं में नानक के भावों और आदर्शों का पूर्ण अनुकरण किया है। पहले

पाँच गुरुओं की रचना आदि ग्रंथ में संगृहीत है जो गुरु अर्जुनदेव के समय में संवत् १६६१ (१६०४ ई०) में संपूर्ण हुआ। इस संग्रह में तब तक के सिख गुरुओं के अतिरिक्त अन्य भक्तजनों की वाणी का भी समावेश हुआ। नानक ने बड़े आकर्षक और रुचिर पदों में भगवान् के चरणों में आत्म-निवेदन किया है। उनकी कविता मर्मस्पर्शी, सीधी-सादी और साहित्यिक कलाबाजी से मुक्त है। उन्होंने ब्रजभाषा में लिखा है, जिसमें थोड़ा सा पंजाबीपन भी आ गया है।

नानक की आध्यात्मिक अनुभूति अत्यंत गहन थी इसलिए उन्होंने धन का तिरस्कार किया, किंतु श्रद्धालु भक्तों की भक्ति-भेंट के कारण उनके पीछे के गुरुओं का विभव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा, इसलिए उन्हें सांसारिक बातों की ओर भी ध्यान देना पड़ा। अकबर के समय तक तो गुरुओं का विभव शांतिपूर्वक बढ़ता रहा। स्वयं अकबर भी उसमें सहायक हुआ; उसी की दी हुई भूमि पर गुरु रामदास ने अमृतसर का प्रसिद्ध स्वर्णमंदिर बनवाया। परन्तु गुरु अर्जुन ने शाहजादा खुसरो से सहानुभूति दिखलाकर जहाँगीर से शत्रुता मोल ले ली और शाही कैद की यंत्रणा से पाँचवें दिन उनके प्राण छूट गये। प्रत्येक नवीन गुरु को आत्मरक्षा की अधिकाधिक आवश्यकता का अनुभव हुआ। नवम गुरु तेगबहादुर को औरंगजेब ने बड़ी क्रूरता के साथ मरवाया। वध-स्थान में गुरु तेगबहादुर ने, पश्चिम से आनेवाले विदेशियों के द्वारा, मुगलशासन के नाश की भविष्यवाणी की जो अँगरेजों पर ठीक उतरी। सिखों ने इन अत्याचारों का बदला लेने का पूरा यत्न किया। छठे गुरु हरगोविंद के हाथों शाही सेना को गहरी हार खानी पड़ी थी। दशम गुरुगोविंदसिंह ने और भी महान् फल के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। उन्होंने अपने सिखों में साहसी वीरों को चुन-चुनकर खालसा का संगठन किया, तमाखू और मदिरा का व्यवहार निषिद्ध कर दिया और केश, कंघा कटार, कछ और कड़े इन पाँच 'क'-कारों के व्यवहार का आदेश किया

और राक्षस-मर्दिनी भगवती रण-चंडी का आवाहन किया। उन्होंने गुरुओं की परंपरा का अन्त कर दिया और उनके स्थान पर ग्रंथ को पूज्य ठहराया, परन्तु साथ ही शस्त्रास्त्रों को भी वे पूज्य समझते थे। उनमें साधु और सैनिक दोनों का एक में समन्वय हुआ। ज्ञान को भी उन्होंने वीरता के उद्दीपनों में सम्मिलित किया—

धन्य जियो तेहि को जग मे मुख तें हरि, चित मे जुद्ध विचारे।
देह अनित्त न नित्त रहे, जस नाव चढ़े भवसागर तारे॥
धीरज धाम वनाय इहै तन. वुद्धि सुदीपक ज्यों उजियारे।
ज्ञानहि की वढ़नी मनो हाथ लै कादरता कतवार वुहारे॥

इस प्रकार सिख-संप्रदाय सैनिक धर्म में बदल गया और भावी सिख साम्राज्य की पक्की नींव पड़ी।

नानक की मृत्यु के छः वर्ष बाद अहमदाबाद में दादू का जन्म हुआ। ये निर्गुण संत मत के बड़े पुष्ट स्तंभों में से हुए। इन्होंने राजपूताना और पंजाब में उपदेश का कार्य किया। दादू का गुरु कौन था, इस विषय में बड़ा वाद-विवाद चला है। जनश्रुति तो यह है कि परमात्मा ने ही बुड्ढा के रूप में उन्हें दीक्षित किया था। दादू ने एक साखी में स्वयं ही यह बात कही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बूढ़ा रक्त-मांस का आदमी नहीं था। क्योंकि निर्गुण पन्थ में गुरु साक्षात् परमात्मा माना जाता है। म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी का मत है कि दादू का गुरु कबीर पुत्र कमाल था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक नहीं जान पड़ता। दादू ने स्थान-स्थान पर कबीर का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है जिससे प्रकट होता है कि वह उनको उपदेष्टा गुरु से भी बढ़कर समझते थे, यहाँ तक कि साक्षात् परमात्मा मानते थे। दादू की वाणी विचारशैली, साहित्यिक प्रणाली और विषय-विभाजन सबकी दृष्टि से कबीर की वाणी का अनुगमन करती है। यह इस बात का दृढ़ प्रमाण

४. दादू

है कि किसी ने उन्हें कबीर की वाणी की शिक्षा दी थी। बोधसागर के अनुसार कमाल ने अपने पिता के सिद्धान्तों का प्रचार अहमदाबाद आदि स्थानों में किया था।* अतएव अहमदाबाद का यह संत यदि कमाल का नहीं तो कमाल की शिष्य-परंपरा में किसी का शिष्य अवश्य था। डा० विल्सन के मत से कमाल की शिष्य-परंपरा में दादू से पहले जमाल, विमल और बुड्ढा हो गये थे। इसमें संदेह नहीं कि आज तक जितने बाह्य और आभ्यंतर प्रमाण उपलब्ध हुए हैं वे सब इस मत की पुष्टि करते हैं।

दादू जाति के धुनिया थे।+ उन्होंने अपना अधिक समय आमेर में बिताया। वहाँ से वे राजपूताना, पंजाब आदि स्थानों में भ्रमण के लिए चल पड़े, और अन्त में नराना में बस गये। वहीं संवत् १६६० में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी पोथी और कपड़े उस स्थान पर अब तक स्मारक-रूप में सुरक्षित हैं। दादू कई भाषाएँ जानते थे और सब पर उनका अधिकार था। सिंधी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, पारसी सबमें उनकी कविताएँ मिलती हैं परन्तु उन्होंने विशेषकर हिंदी में रचना की है जिसमें राजस्थानी की विशेष पुट है। दादू की रचना कोमल और मृदु है किंतु उसमें कबीर की सी शक्ति और तेज नहीं है। सबके प्रति उनका भाई के ऐसा व्यवहार रहता था, जिससे वे 'दादू' कहलाये और उनके द्रवणशील स्वभाव ने उन्हें 'दयाल' की उपाधि दिलाई। उनकी गहन आध्यात्मिक अनुभूति की कथा अकबर के कानों तक भी पहुँची। कहा जाता है कि बीरबल की प्रार्थना पर अकबर का निमंत्रण स्वीकार कर

---

* चले कमाल तब सीस नवाई। अहमदाबाद तब पहुँचे आई॥
—'बोधसागर', पृ० १५१५।

+ धूनी गभ उतपन्यो दादू योगेंद्रो महामुनी।
सर्वांगी' पौड़ी हस्तलेख, पृ० २७३।

वे एक बार शाही दरबार में गये थे, जहाँ उनके सिद्धांतों की सत्यता को सबने एकमत होकर स्वीकार किया। उनके शिष्य रज्जबदास ने एक साखी में इस घटना का उल्लेख किया है।*

दादू के कुल मिलाकर १०८ चेले थे जिनमें से सुन्दरदास सबसे प्रसिद्ध हुआ। सुन्दरदास नाम के उनके दो शिष्य थे। बड़ा सुन्दरदास, जिसने नागा साधुओं का संगठन किया, बीकानेर के राजघराने का था। प्रसिद्ध सुन्दरदास छोटा था। वह छः ही वर्ष की अवस्था में दादू की शरण में भेज दिया गया था किन्तु उनकी देखभाल में वह एक ही वर्ष रह सका, क्योंकि एक साल बीतते-बीतते दादूदयाल की मृत्यु हो गई। इसलिए सुन्दरदास का गुरुभाई जगजीवनदास उसे काशी ले आया, जहाँ उसने अठारह वर्ष तक व्याकरण, दर्शन और धर्मशास्त्र की शिक्षा पाई। निर्गुण-संतों में वही एक व्यक्ति है जिसे पोथी-पत्रों की शिक्षा मिली थी। उपर्युक्त जगजीवन दास नारनौल के उस सतनामी संप्रदाय का संस्थापक जान पड़ता है जिसके अनुयायियों ने औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया और जिन्हें उसकी सेना ने सं० १७२९ (१६७२ई०) में समूल नष्ट कर दिया। दादू का प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी उन्हीं का पुत्र गरीबदास था। उनके दूसरे पुत्र का नाम मिस्कीनदास था।

उनके प्रायः सब शिष्य कवि थे। छोटे सुन्दरदास ने ज्ञानसमुद्र, सुन्दर विलास; ये दो मुख्य ग्रन्थ लिखे। इनकी साखियों और पदों की भी संख्या काफी है। सुन्दरदास के उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त पौड़ी हस्तलेख में गरीबदास, रज्जबदास, हरदास, जनगोपाल, चित्रदास, बखना, बनवारी, जगजीवन, छीतम और विसनदास की रचनाएँ संगृहीत

---

* अकबरि साहि बुलाइया गुरु दादू को आप।
साँच झूठ व्योरो हुओ, तब रह्यो नाम परताप॥
—'सर्वांगी' पौड़ी हस्तलेख, पृ० ३९५ (अ)-३९६।

हैं। इनमें से रज्जबजी मुसलमान थे। उन्होंने सर्वंगी (सर्वांगी) नामक एक अत्यंत उपयोगी वृहत संग्रह बनाया जिसमें निर्गुण संत-मतानुकूल कविताएँ संगृहीत हैं, चाहे उनके रचयिता निर्गुणी हों या न हों। स्वयं रज्जबदास ने भी सवैये अच्छे कहे हैं।

दादूपंथी साधुओं की दो प्रधान शाखाएँ हैं। एक भेषधारी विरक्त और दूसरे नागा। भेषधारी साधु संन्यासियों की तरह भगवा धारण करते हैं और नागा श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा साधारण गृहस्थों की तरह रहते हैं। दोनों प्रकार के साधु ब्याह नहीं कर सकते, चेला बनाकर अपनी परंपरा चलाते हैं। नागा लोग जयपुर राज्य की सेना में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। नराना में इनका जो शिष्य-समुदाय है, वह 'खालसा' कहलाता है; क्योंकि वह दादू की मूल शिक्षाओं की रक्षा किये हुए है। उत्तराधी नाम की भी उनकी एक शाखा और होती है जिसके संस्थापक बनवारी थे।

दादूपंथी न तो मुर्दों को गाड़ते हैं, न जलाते; वे उन्हें यों ही जंगल में फेंक देते हैं जिससे वह पशु-पक्षियों के कुछ काम आवे।

५. प्राणनाथ

प्राणनाथ जाति के क्षत्रिय थे और रहनेवाले काठियावाड़ के। उनका जन्म सं० १६७५ में हुआ था। सिंध, गुजरात और महाराष्ट्र में भ्रमण करने के बाद वे पन्ना में बस गये जहाँ महाराज छत्रसाल ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। जान पड़ता है कि उन्हें मुसलमान-ईसाई सभी प्रकार के साधु-संतों का सत्संग लाभ हुआ था। उनकी रचनाओं से मालूम होता है उन्हें कुरान, इंजील, तौरेत आदि धर्म-पुस्तकों का ज्ञान था। फारसी लिपि में लिखा हुआ उनका एक ग्रंथ लखनऊ की आसफुद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी में है जिसका नाम कलजमेशरीफ है। कलजमेशरीफ का अर्थ है मुक्ति की पवित्र धारा। यह हिंदी में बिगड़कर कुलजमस्वरूप हो गया है। इस ग्रन्थ का कुछ अंश उनके मुख्य निवास-स्थान पन्ना में सुरक्षित

है। इंपीरियल ग़ज़ेटियर आव इंडिया * में उनके महातरियाल नाम के एक ग्रन्थ की सूचना प्रकाशित हुई थी, जो मालूम होता है कि, कलजमेशरीफ से भिन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने, प्रगटवानी, ब्रह्मवानी, बीस गिरोहों का वाच, बीस गिरोहों की हकीकत, कीर्तन, प्रेमपहेली, तारतम्य और राजविनोद, ये ग्रन्थ भी लिखे जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों + में इन ग्रन्थ से जो अवतरण दिये गये हैं, उन्हीं से हमे संतोष करना पड़ता है। प्राणनाथ विवाहित थे। उनकी स्त्री भी कविता करती थी। पदावली इस दंपति की संयुक्त रचना है।

प्राणनाथ बहु-भाषा-विज्ञ थे। जहाँ जाते वहीं की भाषा सीख लेते थे। उनके कलजमे शरीफ की सोलह किताबों में से कुछ गुजराती में हैं, कुछ उर्दू में, कुछ सिंधी में और अधिकांश हिंदी में। हाँ, उनकी भाषा प्रत्येक दशा में ऊबड़-खाबड़ और खिचड़ी है। अरबी, फारसी तथा संस्कृत का भी उन्हें ज्ञान मालूम पड़ता है।

प्राणनाथ बहुत पहुँचे हुए साधु समझे जाते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि उन्होंने महाराज छत्रसाल के लिए हीरे की एक खान का पता लगाया था। मैं तो समझता हूँ कि वह खान भगवद्भक्ति थी। उन्होंने एक नवीन पंथ का प्रवर्तन किया जो धामी पंथ कहलाता है। और भगवान् के धाम की प्राप्ति जिसका प्रधान उद्देश्य है। इस पंथ के द्वारा उन्होंने प्रेम-पंथ का प्रचार किया जिसमें केवल हिंदू और मुसलमान ही नहीं, ईसाई भी एक हो सकें। अपने को तो वे मेहदी, मसीहा और कल्कि अवतार तीनों एक साथ समझते थे। राधा और कृष्ण के

---

* भाग १६, पृ० ४०४।

+ १६२४ से १६ तक की रिपोर्ट और दिल्ली में खोज की अप्रकाशित रिपोर्ट।

पेम के रूप उन्होंने भगवान् और भक्त के प्रेम के गीत गाये। मुहम्मद उनके लिए परमात्मा का प्रेमी था। उनके अनुसार प्रेम परमात्मा का पूर्ण रूप था और विश्व उसका एक अंश मात्र। * उन्होंने मांस, मदिरा और जाति का पूर्ण रूप से निषेध कर दिया। काठियावाड़ और बुंदेलखंड में उनके भक्त पाये जाते हैं; किंतु वे नाम मात्र के लिए धामी हैं। हिंदू धर्म की सब प्रथाओं का वे पूरी तरह आचरण करते हैं।

प्राणनाथ की मृत्यु सं० १७५१ में हुई। पंचमसिंह और जीवन मस्ताने प्राणनाथ के अनन्य भक्तों में से थे। पंचमसिंह महाराज छत्रसाल का भतीजा था। उसने भक्ति प्रेम आदि विषयों पर सवैये लिखे और जीवन मस्ताने ने पंचक दोहे।

बाबालाल मालवा के क्षत्रिय थे। इनका जन्म जहाँगीर के राजत्व-काल में हुआ था। इनके गुरु चेतन स्वामी बड़े चमत्कारी योगी थे। उन्होंने इन्हें वेदांत की शिक्षा दी थी। स्वयं बाबालाल

६. बाबालाल के आश्चर्यजनक चमत्कारों की कथाएँ प्रचलित हैं।

कहते हैं, एक समय इन्हें भिक्षा में कच्चा अनाज और लकड़ी मिली। अपनी जाँघों के बीच लकड़ी जलाकर और जाँघ पर बर्तन रखकर इन्होंने भोजन को सिद्ध किया। शाहजादा दाराशिकोह बाबालाल के भक्तों में से था। बाबालाल की कोई हिंदी रचना नहीं मिलती, परन्तु उनके सिद्धांत नादिरुन्निकात नामक एक फारसी ग्रंथ में सुरक्षित हैं। सं० १७७५ में शाहजादा दाराशिकोह ने इस संत के उपदेश श्रवण करने के लिए सात बार इसका सत्संग किया था। इस सत्संग में जिज्ञासु दाराशिकोह के प्रश्नों के बाबालाल ने जो उत्तर दिये

---

* अब कहूं इसक बात, इसक सबदातीथ साख्यात...
ब्रह्मसृष्टि ब्रह्म एक अंग, ये सदा अनंद अति रंग॥
—ब्रह्मबानी, पृ० १।

वे सब नादिरुन्निकात में संगृहीत हैं। इन्होंने सूफियों की कविताओं का भी अध्ययन किया था। मौलाना रूम के वचनों को इन्होंने स्थान-स्थान पर अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है। सरहिंद के पास देहन-पुर में बाबालाल ने मठ और मन्दिर बनवाये थे, जो अब तक विद्यमान हैं। इनके अनुयायी बाबालाली कहलाते हैं। ⊛

बाबा मलूकदास सच्ची लगन के उन थोड़े से संतों में से थे जिन्होंने सत्य की खोज के लिए अपने ही हृदय को क्षेत्र माना किंतु जिनके सिद्धान्त किसी सीमा की परवा न कर नेपाल, जगन्नाथ, काबुल आदि दूर-दूर देशों में फैल गये वह भी उस जमाने में जब दूर-दूर की यात्रा इतनी आसान न थी, जितनी आज है।

८. मलूकदास

उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त उनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान और पटने में हैं। उनके भानजे और शिष्य मथुरादास ने पद्य में परिचयी नाम की उनकी एक जीवनी लिखी है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है—

मलूक को भगिनी-सुत जोई। मलूक को पुनि शिष्य है सोई॥
... ...। मथुरा नाम प्रगट जग होई॥
तिन हित-सहित परिचयी भाषी। बसै प्रयाग जगत सब साखी॥

इसके अनुसार बाबा मलूकदास के पिता का नाम सुन्दरदास था, पितामह का जठरमल और प्रपितामह का बेणीराम। इनके हरिश्चन्द्रदास, शृङ्गारचन्द्र, रायचन्द्र ये तीन भाई और थे। मलूकदास का प्यार का नाम मल्लू था। ये जाति के कक्कड़ थे। इनका जन्म वैशाख कृष्ण ५ सं० १६३१ में कड़ा में हुआ था और १०८ वर्ष की दिव्य और निष्कलंक आयु भोगकर वैशाख कृष्ण चतुर्दशी संवत् १७३९ में वहीं वे स्वर्गवासी भी हुए। मिस्टर ग्राउज़ ने अपनी मथुरा में इन्हें जहाँगीर

⊛ विल्सन—"रिलिजस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज', पृ० ३४७-४८।

का समकालीन बताया है। वेणीमाधवदास ने अपने मूल गोसाईंचरित में लिखा है कि मुरार स्वामी के साथ इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी के दर्शन किये थे।* कड़ा में अब तक इनकी समाधि, वह मकान जहाँ इनको परमात्मा का साक्षात्कार हुआ था, माला, खड़ाऊँ, ठाकुरजी+ इत्यादि विद्यमान हैं जिनका दर्शन कराया जाता है। जगन्नाथजी में भी इनकी एक समाधि बतलाई जाती है, पर शायद वह किसी दूसरे मलूकदास की है। आचार्य श्यामसुन्दरदासजी ने कबीर ग्रन्थावली की भूमिका में× कबीर के एक शिष्य मलूकदास का उल्लेख किया है, जिसकी प्रसिद्ध खिचड़ी का उन्होंने वहाँ अब तक भोग लगना बताया है और कहा है कि कबीर को नीचे लिखी साखी उन्हीं को संबोधित करके लिखी गई है—

कबीर गुरबसै बनारसी सिष समंदां तीर।
बीसारया नहिं बीसरं, ज गुण होइ सरीर॥=

संभव है, पुरीवाली समाधि कबीर के शिष्य मलूक की हो। पीछे से दोनों मलूक एक ही व्यक्ति में मिल गये और लोगों ने दोनों स्थानों पर समाधि की उलझन को सुलझाने के लिए वह दन्तकथा गढ़ डाली जिसके अनुसार मलूकदास के इच्छानुकूल उनका शव गंगाजी में बहा दिया गया और स्थान-स्थान पर सन्तों से भेंट करता हुआ वह, समुद्र के रास्ते, जगन्नाथपुरी पहुँच गया।

नाम मात्र की दीक्षा इन्होंने देवनाथजी से ली थी; किन्तु

---

* 'गोस्वामी तुलसीदास' (हिन्दुस्तानी एकेडमी), पृ० ३५४, ८२।

+ इनकी रचनाओं से तो मालूम पड़ता है कि ये मूर्ति के ठाकुरजी की शायद ही पूजा करते रहे हों।

× क० ग्रं०, भूमिका, पृ० २।

= वही, पृ० ६८।

आध्यात्मिक जीवन में उनको वस्तुतः दीक्षित करनेवाले गुरु मुरार स्वामी थे। सन्तवाणी संग्रह में उनके गुरु का नाम गलती से विट्ठल द्रविड़ लिखा हुआ है। विट्ठल द्रविड़ तो उनके नाम-मात्र के दीक्षागुरु देवनाथ के गुरु भाऊनाथ के गुरु थे। कहते हैं कि सिखगुरु तेगबहादुर ने कड़ा में आकर उनसे भेंट की थी। परिचयी में इस बात का उल्लेख नहीं है। हाँ, औरङ्गजेब द्वारा गुरु तेग के वध का उल्लेख अवश्य है।

औरंगजेब बहुत कट्टर तथा असहिष्णु मुसलमान था; किंतु कहते हैं कि मलूकदास का वह भी सम्मान करता था। एक बार औरंगजेब ने उन्हें दरबार में भी बुलाया था। किंवदंती तो यह है कि बादशाह ने जो दो अहदी भेजे थे, उनके आने के पहले ही औरंगजेब के पास पहुँचकर मलूकदास ने उसे आश्चर्य में डाल दिया था। कहते हैं कि मलूकदास ही के कहने से औरंगजेब ने कड़ा पर से जज़िया उठा दिया था। फतहखाँ नामक औरंगजेब का एक कर्मचारी उनका बड़ा भक्त हो गया। और नौकरी छोड़कर उन्हीं के साथ रहने लगा। मलूकदास ने उसका नाम मीरमाधव रखा। दोनों गुरु-शिष्य जीवन में एक होकर रहे और मृत्यु में भी वे एक हो रहे हैं। कड़ा में उन दोनों की समाधियाँ आमने-सामने खड़ी होकर उनके इस अनन्य प्रेम का साक्ष्य दे रही हैं।

मालूम होता है कि मलूकदास ने कई ग्रंथों की रचना की है। लाला सीताराम ने इनके रत्नखान और ज्ञानबोध का उल्लेख किया है और विलसन साहब ने साखी, विष्णुपद और दशरतन का। इनके स्थान पर इनका सबसे उत्तम ग्रंथ भक्तिवच्छावली माना जाता है। किंतु इनके ये ग्रन्थ हमारे लिए नाम ही नाम हैं। हमें तो इनकी उन्हीं कविताओं से सन्तोष करना पड़ा है जो लाला सीताराम जी के संग्रह में दी गई हैं अथवा जो बेलवेडियर प्रेस ने मलूकदास की बानी के नाम से छापी हैं। इनकी रचनाओं में विचारों की पूर्ण उदारता तथा स्वतन्त्रता झलकती है। गीता के लिए इनके हृदय में बड़ा भारी सम्मान था। रामनाम

की भी इन्होंने बड़ी महिमा गाई है। परन्तु इनके राम अवतारी राम नहीं थे।

मलूकदास ने उक्तियाँ भी बहुत अच्छी-अच्छी कही हैं। कबीर के नाम से यह दोहा प्रसिद्ध है—

> चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
> दोउ पाटन के बीच में, साबित रहा न कोय॥

इसके जवाब में मलूकदास ने कहा है—

> इधर उधर जेई फिरै तेई पीसे जायँ।
> जे मलूक कीली लगैं, तिनको भय कछु नाहिं॥

एक जगह कबीर ने कहा है कि कोयला सौ मन साबुन से धोने पर भी सफेद नहीं होता। किसी ने इसके जवाब में कहा है कि अगर कोयला जलने के लिए तैयार हो जाय तो उसके सफेद होने में कोई अड़चन नहीं। हो सकता है कि यह भी मलूक का ही हो।

मलूकदास विवाहित थे, किंतु पहले ही प्रसव में उनकी स्त्री एक कन्या जनकर मर गई। उनके बाद कड़ा में उनके भतीजे रामसनेही गद्दी पर बैठे। तदुपरांत कृष्णसनेही, कान्हग्वाल, ठाकुरदास, गोपालदास, कुंजविहारीदास, रामसेवक, शिवप्रसाद, गंगाप्रसाद तथा अयोध्याप्रसाद, यह परंपरा रही। आजकल मलूक के सभी वंशज महंत कहलाते हैं, परन्तु गद्दी अयोध्याप्रसाद जी ही में समाप्त समझी जाती है। प्रयाग में इनकी गद्दी का संस्थापक दयालदास कायस्थ था; इस्फहाबाद में हृदयराम, लखनऊ में गोमतीदास, मुल्तान में मोहनदास; सीताकोयल में पूरनदास और काबुल में रामदास। इनके संप्रदाय का एक स्थान और 'राम-जी का मन्दिर' वृन्दावन में केशी घाट पर भी है। इनके संप्रदाय में गृहस्थजीवन निषिद्ध नहीं है परन्तु गद्दी मिलने पर महंत को ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताना पड़ता है; यद्यपि रहता वह अपने बाल-बच्चों ही में है।

दीन दरवेश पाटन के रहनेवाले सूफी साधु थे जिन्होंने सब तरफ से निराश होकर अपने हृदय की शांति के लिए निर्गुण भक्ति की लहर में डुबकी लगाई। वे पढ़े-लिखे बहुत नहीं थे। फारसी
८. दीन दरवेश का उनको कुछ मोटा सा ज्ञान था। किंतु सत्य की खोज में वे लगन के साथ लगे और अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करने का उन्होंने खूब प्रयास किया। सत्य की खोज में वे पहले मुसलमानी तीर्थस्थानों में गये, फिर हिंदू तीर्थ-स्थानों में। प्रत्येक पूर्णिमा को वे बड़ी भक्ति-भावना के साथ सरस्वती में स्नान किया करते थे। परन्तु सब व्यर्थ। अन्त में उस दिव्य ज्योति को उन्होंने अपने हृदय में ही, पूर्ण प्रकाश के साथ, चमकते हुए देखा। उन्हें अनुभव हुआ कि इस ज्योति का जगमग प्रकाश हमेशा हमारे हृदय को प्रकाशमान किये रहता है। उसके दर्शन के लिए केवल दृष्टि को अंतर्मुख कर देने की आवश्यकता होती है।

अपने हृदय के उद्गारों को व्यक्त करते हुए उन्होंने बहुत सुन्दर कुंडलिया छंद लिखे हैं। कहा जाता है कि उन्होंने सवा लाख कुंडलिया लिखी थीं। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा के पास उनकी बानी का एक संग्रह है, परन्तु ओझा जी कहते हैं कि इस संग्रह में उनकी बानी की संख्या इसके शतांश भी नहीं है। किंतु इधर-उधर संतों के संग्रहों में इनकी कुछ वाणी मिलती है। इनकी कविता सादी, भाषा सरल तथा भाव सीधे हैं। इनका समय विक्रम की अठारवीं शताब्दी का मध्य है।

यारी साहब एक मुसलमान संत थे। इनका समय संवत् १७४३ से १७८० तक माना जाता है। इनकी रत्नावली बड़े भव्य भावों से पूर्ण है। आध्यात्मिक संयोग और वियोग की इनकी

९. यारी साहब और उनकी परंपरा

कविता में बड़ी मधुर व्यंजना हुई है। इनके पद्यों में साहित्यिक चमक-दमक का अभाव होने पर भी लोच काफी रहता है। सूफी शाह, हस्तमुहम्मदशाह, बुल्ला और केशवदास इनके शिष्यों में से थे। बुल्ला साहब और केशवदास की रचनाएँ प्रकाश में आई हैं। केशवदास का समय सं० १७४१ से १८२२ तक है। ये जाति के वैश्य थे। इन्होंने अमीघूँट की रचना की। बुल्ला जाति के कुनबी थे। उनका असल नाम बुलाकीराम था। फैजाबाद जिले के बसहरी तालुके में गुलाल नामक एक राजपूत जमींदार के यहाँ ये हल जोतते थे। बुल्ला कभी-कभी काम करते-करते ध्यानस्थ हो जाते थे। काम से उनका ध्यान खिंच जाता था गुलाल उसे कामचोर समझकर उसके ऊपर खूब डाट-डपट रखता था, पीटने में भी कसर नहीं करता था, यहाँ तक कि एक बार तो उसने उसे लात भी चला दी। परन्तु धीरे-धीरे गुलाल को अपनी भूल मालूम होने लगी। जब उसे अनुभव हो गया कि बुल्ला एक साधारण हरवाहा नहीं है, बल्कि पहुँचा हुआ साधु है, तब वह उसका शिष्य बन गया। बुल्ला और गुलाल दोनों ने अपने हृदय के भावों को सीधे-सादे अनलंकृत पद्यों में प्रकट किया है। दोनों का निवासस्थान भरकुड़ा गाँव था, जो जिला गाजीपुर में है। अवस्था में दोनों प्रायः एक समान रहे होंगे और केशवदास के समकालीन। प्रसिद्ध संत पलटू और उनके समसामयिक भीखा भी यारी की ही शिष्यपरंपरा में थे, क्योंकि वे गुलाल के शिष्य गोविंद के शिष्य थे।

दोनों जगजीवनदास और उनके चलाये हुए दोनों सत्तनामी संप्रदायों में कुछ अन्तर समझना चाहिये। पहले जगजीवनदास का दादूदयाल के साथ उल्लेख हो चुका है। यह दादूदयाल का शिष्य था। पिछले सत्तनामी संप्रदाय के संस्थापक को जगजीवनदास द्वितीय कहना चाहिए। यह जाति

१०. जगजीवनदास द्वितीय

का क्षत्रिय था। जब वह दो ही वर्ष का रहा होगा, तभी औरङ्गजेब ने पहले सतनामी संप्रदाय को ध्वंस कर डाला था। जगजीवन का पिता किसान था। एक दिन जब जग्गा गोरू चरा रहा था तो बुल्ला और गोविंद दो साधु उस रास्ते से आये। उन्होंने जग्गा से तंबाकू पीने के लिए आग मँगवाई। जग्गा गाँव से आग तो लाया ही, साथ ही उनको पिलाने के लिये दूध भी ले आया। थोड़ी ही देर के सत्संग से वह साधुओं को बहुत प्रिय हो गया और उसके हृदय में भी वैराग्य जाग गया। परन्तु साधुओं ने उसे इस छोटी उमर में शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया; किंतु अपने सत्संग और स्नेह की स्मृति के रूप में उन्होंने उसे एक-एक धागा दे दिया, एक ने काला और दूसरे ने सफेद। जगजीवन के अनुयायी इस घटना की स्मृति में अपने दाहिने हाथ की कलाई पर एक काला और एक सफेद धागा बाँधते हैं जो 'आँदु' कहलाता है। भीखापंथी इन्हें गुलाल साहब की परंपरा में मानते हैं परंतु अपने संप्रदाय में ये विश्वेश्वर पुरी के चेले माने जाते हैं। इन्होंने शुद्ध अवधी में रचना की। इनकी शब्दावली प्रकाशित हो चुकी है। ज्ञानप्रकाश, महाप्रलय और प्रथम ग्रन्थ भी इनकी रचनाएँ हैं जो अब तक प्रकाश में नहीं आई हैं। इनके चलाये सतनामी संप्रदाय पर जनसाधारण के धर्म का विशेष प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव उनके शिष्य दूलमदास में अधिकता से दिखाई पड़ता है। दूलमदास ने हनुमान्‌जी, गंगा और देवी भगवती की प्रार्थना गाई है। दूलमदासजी की बानी भी प्रकाश में आ चुकी है। उनकी कविता में शक्ति और प्रवाह दोनों विद्यमान हैं।

११. पलटूदास

पलटूदास जाति के काँदू बनिया थे। इनका जन्म फैजाबाद जिले के नागपुर (जलालपुर) में हुआ था। वे अयोध्या में रहते थे। इन्होंने गुलाल के शिष्य गोविंद से दीक्षा ली थी। भजनावली में इनका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

नंग जलालपुर जन्म भयो है, बसे अवध के खोर।
कहे पलटू प्रसाद हो, भयो जगत में सोर॥
चारि बरन को मेटिके, भक्ति चलाई मूल।
गुरु गोविंद के बाग में, पलटू फूले फूल॥
शहर जलालपुर मूँड़ मुँड़ाया, अवध तुड़ाकर बनियाँ।
सहज करे ब्यापार घट में पलटू निरगुन बनियाँ॥

भजनावली इनके भाई पलटूप्रसाद की बनाई कही जाती है; लेकिन पलटूप्रसाद खुद इन्हीं का नाम भी हो सकता है।

इनका अखाड़ा अयोध्या से चार-पाँच मील की दूरी पर है। मूर्ति-पूजा और जाति-पाँति के तीव्र खंडन से अयोध्या के बैरागी इनसे बहुत चिढ़ गये थे। इसीलिए उन्होंने इन्हें जाति से बाहर कर दिया था। किंतु पलटू ने इसकी कोई परवा न की—

बैरागी सब बटुरके पलटूहि कियो अजात।...
लोक-लाज कुल छाँड़ि के, कर लीजे अपना काम।
जगत हँसे तो हँसन दे, पलटू हँसे न राम॥

इन्होंने रामकुंडलिया और आत्मकर्म ये दो ग्रंथ लिखे हैं। इनकी सब रचनाएँ तीन भागों में बेल्वेडियर प्रेस से छप चुकी हैं। इनके अरिल्ल और कुंडलिया बहुत सुंदर बने हैं। ये अवध के नवाब शुजा-उद्दौला के समकालीन थे और सं० १८२७ के आस पास वर्तमान थे।

१२. धरनीदास

धरनीदास बिहार के रहनेवाले एक कायस्थ मुंशी थे। संसार से इनका जी इतना उचटा हुआ था कि परमात्मा के साक्षात्कार में बाधक समझकर इन्होंने मुंशीगिरी छोड़ दी और ये भगवान् के प्रेम में तन्मय होकर निःस्वार्थ जीवन व्यतीत करने लगे। यह तन्मयता इनके ग्रंथ प्रेमप्रकाश और सत्यप्रकाश से स्पष्ट परिलक्षित होती है। देश के विभिन्न भागों में और खासकर बिहार में अभी सहस्रों धरनीदासी हैं। इनके संप्रदाय का

प्रधान स्थान छपरे जिले का माझी गाँव है। सं० १७१३ में इनका जन्म हुआ था। ये बड़े करामाती प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार ये अचानक और अकारण अपने पाँव पर पानी डालने लगे। बहुत पूछने पर इन्होंने बतलाया कि जगन्नाथ जी के पंडे का पाँव जल गया है उसी को पानी डालकर बुझा रहा हूँ। जाँच करने पर बात सही मालूम हुई।

१३. दरिया-द्वय

संवत् १७३७ और १८३७ के बीच दरिया नाम के दो संत हो गए हैं। दोनों मुसलमान कुल में पैदा हुए थे। इनमें एक का जन्म बिहार में, आरा जिले के धारकंद नामक गाँव में हुआ और दूसरे मारवाड़ के जैतराम नामक गाँव में। बिहारी दरिया दरजी था और मारवाड़ी धुनिया। बिहारी दरिया के पंथ में प्रार्थना का जो ढंग प्रचलित है वह मुसलमानी नमाज से बिलकुल मिलता-जुलता है। 'कोर्निश' और 'सिज्दः' ये उसके दो भाग हैं। सीधे खड़े होकर नीचे झुकना कोर्निश और माथे को जमीन से लगाना सिज्दः कहलाता है। यह दरिया, कबीर के अवतार माने जाते हैं। कहते हैं कि इन्हें स्वयं परमात्मा ने दीक्षा दी थी। इनका लिखा दरियासागर छप चुका है।

मारवाड़ी दरिया सात ही वर्ष की अवस्था में पितृविहीन हो गए थे। रैना, मेड़ता में इनके नाना ने इनका पालन-पोषण किया। इनके गुरु बीकानेर के कोई प्रेमजी थे। कहा जाता है कि अपनी चमत्कारिणी शक्ति से इन्होंने एक दूत भेजकर ही महाराज बख्तसिंह को एक बड़े भयंकर रोग से मुक्त कर दिया। इनकी भी बानी प्रकाश में आ चुकी है।

बुल्लेशाह एक सूफी संत थे। कहा जाता है कि इनका जन्म सं० १७६० के लगभग रूम देश में हुआ था। * जान पड़ता है कि पारिवारिक विपत्ति ने इन्हें बहुत छोटी अवस्था में रमते

---

* संतबानी-संग्रह, भाग १, पृ० १५१।

१४. बुल्लेशाह फकीरों की संगति में डाल दिया था जिनके साथ दस वर्ष की अवस्था में ही ये पंजाब आ गये। इनके गुरु का नाम शाह इनायत बतलाया जाता है। ये परंपरागत धर्म को नहीं मानते थे। कुरान और शरअ का इन्होंने खुल्लमखुल्ला खंडन किया। इसी से मुल्लाओं और मौलवियों से इनकी कभी नहीं पटी। इन्होंने सीधी-सादी पंजाबी में कविता की है। अपने क्रांतिकारी भावों को इन्होंने अपनी रचनाओं में बड़े धड़ाके से पेश किया है। कबीर के भावों को इन्होंने बहुत अपनाया है। ये जन्म भर ब्रह्मचारी रहे। इनका आश्रम जिला लाहौर के कसूर गाँव में था। वहीं लगभग पचास वर्ष की अवस्था में, सं० १८१० में, इनका देहान्त हुआ। इनकी गद्दी और समाधि भी वहीं हैं।

चरनदास धूसर बनिया थे। इनका जन्म अलवर (राजपूताना) के डेहरा नामक स्थान में सं० १७६० के लगभग हुआ था।* कहते हैं कि डेहरा में, जहाँ इनकी नाल गाड़ी गई थी वहाँ

१५. चरनदास पर, एक छतरी बनी हुई है। यहाँ इनकी टोपी और सुमिरनी भी सुरक्षित बतलाई जाती हैं। इनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का कुंजो था। इनका घर का नाम रनजीत था। सात ही वर्ष की अवस्था में ये घर से भाग निकले थे और अपने नाना के यहाँ दिल्ली चले आये। वहीं इनका लालन-पालन हुआ। कहते हैं कि वहीं इनको उन्नीस वर्ष की अवस्था में परमात्मिक ज्योति का दर्शन हुआ। इन्होंने अपने गुरु का नाम श्रीशुकदेव बताया है। कहते हैं ये श्री शुकदेव मुनि मुजफ्फरनगर के पास शुकताल गाँव के

---

* बानी (संतबानी सीरीज), भूमिका, पंडित महेशदत्त शुक्ल ने अपने 'भाषा काव्यसंग्रह' (नवलकिशोर प्रेस, सं० १९३०) में इन्हें पंडितपुर जिला फैजाबाद का निवासी बताया है। निधन संवत १५३७ लिखा है।—राधाकृष्णग्रंथावली, भाग १, पृ० १००।

निवासी एक साधु थे *। परन्तु जान पड़ता है कि चरनदास उन्हें श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध शुकदेव ही समझते थे, जिनको माता के गर्भ में ही ज्ञान हो जाने की बात कही जाती है और जो अमर माने जाते हैं। जान पड़ता है कि इनके ज्ञान-चक्षु भागवत पुराण के ही अध्ययन से खुले थे। इस पुराण की समस्त कथा को शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को पापों से मुक्त करने के उद्देश्य से कहा था। यदि भागवत का भली भाँति अध्ययन किया जाय तो पता लगेगा कि रहस्य-भावना से ओत-प्रोत होने के कारण वह संत साहित्य का सबसे महत्वशाली महाकाव्य है, जिसमें कथानक के बहाने प्रेम को प्रतीक बनाकर ज्ञान की शिक्षा दी गई है। चरनदासियों के लिये भागवत का नायक श्रीकृष्ण समस्त कारणों का कारण है। गीता के भावों को उन्होंने स्वच्छंदता से अपनाया है और स्थानस्थान पर साहस के साथ उससे उद्धरण भी दिए हैं—साहस इसलिये कहते हैं कि निर्गुणी संतों ने प्राचीन ग्रन्थों से अकारण घृणा प्रदर्शित की है; परन्तु चरनदासियों में प्रेमानुभूति की वह विशेषता भी है जिसके कारण हम उन्हें निर्गुण संत-संप्रदाय से अलग नहीं कर सकते। चरनदास के ज्ञानस्वरोदय और बानी प्रकाश में आये हैं।

ज्ञानस्वरोदय योग का ग्रन्थ है और बानी में संतमतानुकूल आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न अंगों पर उपदेशात्मक विचार तथा स्वतंत्र उद्गार हैं। चरनदास की मृत्यु सं० १८३९ के लगभग दिल्ली में हुई जहाँ उनकी समाधि और मंदिर अब तक हैं। मंदिर में उनके चरणचिह्न बने हुए हैं। बसंतपंचमी को यहाँ एक मेला लगता है। चरनदास के बहुत शिष्य थे जिनमें से बावन शिष्यों ने अलग-अलग स्थानों पर चरनदास मत की शाखाएँ स्थापित की जो आज भी वर्तमान हैं। चरनदास की सहजोबाई और दयाबाई नाम की दो शिष्याएँ भी थीं जो स्वयं उसकी

---

*-संतबानी-संग्रह, भाग १, १४२ साखी ४, ५, ६।

चचेरी बहनें थीं। उन्होंने भी अच्छी कविता की है। सहजोबाई ने सहजप्रकाश लिखा और दयाबाई ने दयाबोध।

शिवनारायण गाजीपुर जिले में चंदवन गाँव के रहनेवाले क्षत्रिय थे। वे बादशाह मुहम्मदशाह (सं० १७९२ में वर्तमान) के समकालीन थे। सैनिकों के ऊपर उनका बड़ा प्रभाव था। उनके

१६. शिवनाराण

अनुयायी प्रायः सभी राजपूत सैनिक थे। उनके मत में जाति-पाँति का कोई भेद नहीं माना जाता था। अब तो यह संप्रदाय प्रायः समाप्त हो चुका है और शिवनारायण के उत्तराधिकारियों को छोड़कर कुछ थोड़े से नीच जाति के लोग ही उसके माननेवालों में रह गये हैं। शिवनाराण की समाधि बिलसंडा में है। उनके ग्रंथों में लवग्रंथ, संतविलास, भजनग्रंथ, शांतसुंदर, गुरुन्यास, संतअचारी, सन्तउपदेश, शब्दावली, संतपर्वन, संतमहिमा, संतसागर के नामों का उल्लेख होता है। उनका एक और मुख्य ग्रंथ है जो गुप्त माना जाता है। सिक्खों की भाँति शिवनारायणी भी पुस्तक की पूजा करते हैं। नवीन सदस्यों को संप्रदाय में दीक्षित करने के लिए एक छोटा सा उत्सव होता है जिसमें लोग मूल-ग्रंथ के चारों ओर पूर्ण रूप से मौन होकर वृत्ताकार बैठ जाते हैं। और पुस्तक में का कोई एक भजन गाकर पान, मेवा, मिठाई वितरण के बाद उत्सव समाप्त कर दिया जाया है।

गरीबदास कबीर के सबसे बड़े भक्त हो गए हैं। ये जाति के जाट और पंजाब के रोहतक जिले के छुड़ानी गाँव के रहने वाले थे। इन्होंने हिरंबरबोध नामक एक बृहत् ग्रंथ की रचना की जिसमें सत्रह हजार पद्य बतलाये जाते हैं। इनमें से सात हजार कबीर साहब के कहे जाते हैं। परन्तु

१७. गरीबदास

इनका यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है, उसका केवल एक बहुत संक्षिप्त संकलित संस्करण, संतबानी पुस्तकमाला में, प्रकाशित हुआ है।

इधर-उधर साधु-संतों की रचनाओं में उसमें से और भी अवतरण मिल जाते हैं। संतबानी-संपादक के अनुसार इनका समय संवत् १७७४ से १८३५ तक है। इनका दावा है कि स्वयं कबीर साहब ने मुझे संत-मत में दीक्षित किया है।

संतबानी माला के संपादक ने तुलसी साहब की एक जीवनी के आधार पर कहा है कि वे रघुनाथराव के जेठे लड़के और बाजीराव द्वितीय के बड़े भाई थे। संसार में मिथ्या के भार

१८. तुलसीसाहब

का वहन उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसलिये राजसिंहासन को अपने छोटे भाई के लिये छोड़कर वे आध्यात्मिक राज्य को अधिकृत करने के लिए घर से निकल पड़े। रमते-रमाते अंत में ये हाथरस में बस गये। जब अंगरेजों के कारण बाजीराव द्वितीय बिठूर में आकर बस गये, तब कहते हैं कि तुलसी साहब एक बार उनसे मिले थे। इनका घर का नाम श्यामराव बतलाया जाता है, परंतु इतिहास रघुनाथराव के सबसे ज्येष्ठ पुत्र को अमृतराव के नाम से पहिचानता है। हो सकता है कि उसके दो नाम रहे हों।

तुलसी साहब अक्खड़ स्वभाव के आदमी थे, पर थे पहुँचे हुए संत। कहते हैं, एक बार उनके एक धनी श्रद्धालु ने अपने घर में उनकी बड़ी आव-भगत की। भोजन करते समय उसने उनके सामने संतान के अभाव का दुखड़ा गाया और पुत्र के लिए वरदान माँगा। तुलसी साहब बिगड़कर बोले कि "तुम्हें यदि पुत्र की चाह है तो अपने सगुण परमात्मा से माँगो। मेरे भक्त के यदि कोई बचा हो तो मैं तो उसे भी ले लूँ।" और यह कहकर बिना भोजन समाप्त किये चल दिये।

निर्गुण संप्रदाय में, समय की प्रगति के साथ, जो बाहरी प्रभाव आ गये थे उनसे उसे मुक्त करने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। निर्गुण पन्थ के अनुयायियों को उन्होंने समझाया कि एक संप्रदाय के रूप में उसका प्रवर्तन नहीं किया गया था। उस समय एक निर्गुण पंथ के आधार पर कई

संप्रदाय उठ खड़े हुए थे जो सिद्धांत रूप में कर्मकांड के विरोधी होने पर भी स्वतः कर्मकांड के पाखंड से भर गए थे। तुलसी साहब ने समझाया कि निर्गुण पंथ किसी संप्रदाय के रूप में नहीं चलाया गया था। नाम-भेद से निर्गुण पंथ में अंतर नहीं पड़ सकता। अलग अलग नाम होने पर भी सब पंथ सार रूप में एक हैं।

जान पड़ता है कि उनका प्रायः सब धर्म के प्रतिनिधियों से वाद-विवाद हुआ था, जिनमें अंत में सबने उनके सिद्धांतों की सत्यता स्वीकार की। तुलसी साहब ने स्वयं अपनी घटरामायण में उनका उल्लेख किया है। यदि ये वाद-विवाद कल्पना मात्र भी हों, और यही अधिक संभव है, तो भी उनका महत्व कम नहीं हो सकता। उनसे कम से कम यह तो पता चलता है कि तुलसी साहब का उद्देश्य क्या था। परंतु उनके सिद्धांतों का गांभीर्य उनके ओछे श्लेषों तथा व्यर्थ के आडंबर के कारण बहुत कुछ घट जाता है। उन्होंने बहुधा विलक्षण नामों की तालिका देकर लोगों को स्तंभित करने का यत्न किया है। उनकी दीनता में भी बनावट और आडंबर स्पष्ट झलकता है।

इनके पंथ में इनकी आयु तीन सौ वर्ष की मानी जाती है। कहते हैं कि ये वही तुलसीदास हैं जिन्होंने रामचरितमानस की रचना की थी। घटरामायण में उनके किसी आडम्बर-प्रिय शिष्य ने इस बात की पुष्टि के लिये एक क्षेपक जोड़ दिया है। उसके अनुसार घटरामायण की रचना रामचरितमानस से पहले हो चुकी थी परंतु जनता उसके लिये तैयार नहीं थी। इसलिये उसके विरुद्ध आन्दोलन उठता हुआ देखकर उन्होंने उसे दबा दिया और सगुण रामायण लिखकर प्रकाशित की। इस क्षेपक-कार को इस बात का ज्ञान था कि उसके जाल की ऐतिहासिक जाँच होगी। उसने तुलसी साहब-से पलकराम नानकपंथी के साथ नानक के समय का, ऐतिहासिक ढंग से, विवेचन कराया है और इसका भी प्रयत्न किया है कि मेरी गढ़ंत भी ऐतिहासिक जाँच में ठीक

उतर जाय। किन्तु उसे इस बात का ध्यान न हुआ कि मैं अपने गुरु की प्रशंसा करने के बदले निंदा कर रहा हूँ। तुलसी साहब सरीखे मनुष्य को भी उसने ऐसे निर्बल चरित्रवाला बना दिया है जिसने लोक में अप्रिय होने के डर से सत्य को छिपा दिया और ऐसी बातों का प्रचार किया जिन पर उसको स्वयं विश्वास न था। वह इस बात को भी भूल गया कि स्वयं घटरामायण ही में अन्यत्र तुलसी साहब ने स्पष्ट शब्दों में सगुण रामायण का रचयिता होना अस्वीकार किया है।* इसके अतिरिक्त इस क्षेपककार ने एक ऐसा घोर अपराध किया है जिसका मार्जन नहीं। उसने रामचरितमानस को, जिसने समस्त मानव जाति के हृदय में अपने लिए जगह कर ली है, एक धोखे की कृति बना दिया है। तुलसीदास के साथ उनके नाम-सादृश्य से ही उनको अपनी पुस्तक का नाम घटरामायण रखने की सूझी होगी परन्तु इससे आगे बढ़कर वे लोगों को यह धोखा नहीं देना चाहते थे कि मानस भी मेरी ही रचना है। उसका तो बल्कि उन्होंने खंडन किया है।

घटरामायण के अतिरिक्त तुलसी साहब ने शब्दावली, पद्मसागर और रत्नसागर इन तीन ग्रन्थों की रचना की।

१६. (स्वामीजी महाराज) शिवदयालजी

शिवदयालजी का जन्म सं० १८८५ में आगरे के एक महाजन कुल में हुआ था। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये बाल्यकाल से ही मननशील और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। कई दिन तक ये एकांत में ध्यानमग्न रहा करते थे। इनसे जो सम्प्रदाय चला वह राधास्वामी मत कहलाता है। अपने संप्रदाय में ये स्वामीजी महाराज कहलाते हैं और सर्वशक्तिमान् राधास्वामी के अवतार समझे

---

* राम रावन जुद्ध लड़ाई। सो मैं नहिं कीन बनाई।

—'घटरामायण', भाग २, पृ० ११४।

जाते हैं। यद्यपि कहा जाता है कि उन्होंने किसी गुरु से दीक्षा नहीं ली फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके ऊपर तुलसी साहब का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। कहते हैं कि उनके जन्म के पहले ही तुलसी साहब ने उनके अवतार की भविष्यवाणी कर दी थी। तुलसी की मृत्यु के उपरांत उनके प्रायः सब शिष्य शिवदयालजी के पास खिंच आए। राधास्वामी संप्रदाय की प्रमुख शाखाएँ आजकल आगरा, इलाहाबाद और काशी आदि स्थानों में हैं। संप्रदाय बहुत सुन्दर रूप से गठित है और बड़े उपयोगी कार्य कर रहा है। दयालबाग़ आगरे में उनका विद्यालय एक अत्यन्त उपयोगी संस्था है जो सांप्रदायिक ही नहीं राष्ट्रीय दृष्टि से भी महत्व पूर्ण है। स्वामीजी महाराज के शिष्य रायबहादुर शालिग्राम ने, जो इलाहाबाद में पोस्ट मास्टर-जनरल थे और संप्रदाय में हुज़ूर साहब के नाम से प्रसिद्ध हैं, संप्रदाय को दृढ़ भित्ति पर रखने के लिये बहुत काम किया। परन्तु इस मत के सबसे बड़े व्याख्याता पं० ब्रह्मशंकर मिश्र (महाराज साहब) हुए हैं जिन्होंने अँगरेज़ी में ए डिस्कोर्स ऑन राधास्वामी सेक्ट नामक ग्रन्थ लिखा है। हुज़ूर साहब ने भी अँगरेज़ी में राधास्वामी मत-प्रकाश नामक पुस्तक लिखी। स्वामीजी महाराज की प्रधान पद्य-रचना सारवचन है। इसका गद्य सार भी मिलता है। हुज़ूर साहब का प्रधान ग्रन्थ प्रेमबानी है। जुगतप्रकाश नामक उनका एक गद्य ग्रन्थ और भी है।

तीसरा अध्याय

निर्गुण संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत

जिन परिस्थितियों ने इस नवीन निर्गुण पंथ को जन्म दिया था, एकेश्वरवाद उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। वेदांत के अद्वैतवादी सिद्धांतों को मानने पर भी हिन्दू बहु-देव-वाद में

१. एकेश्वर

बुरी तरह फँसे हुए थे, जिससे वे एक अल्लाह को माननेवाले मुसलमानों की घृणा के भाजन हो रहे थे। एक अल्लाह को माननेवाले मुसलमान भी स्वयं एक प्रकार से बहु-देव-वादी हो रहे थे, क्योंकि काफिरों के लिए वे अपने अल्लाह की संरक्षा का विस्तार नहीं देख सकते थे, जिससे प्रकारांतर से काफिर का परमेश्वर अल्लाह से अलग सिद्ध हुआ। अतएव निर्गुणवादियों ने हिंदू और मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया ※ और बहु-देव-वाद का घोर विरोध किया। चरनदास कहते हैं कि सिर टूटकर पृथ्वी पर भले ही लोटने लगे, मृत्यु भले ही आ उपस्थित हो, परन्तु राम के सिवा किसी अन्य देवता के लिए मेरा सिर न

※ एक एक जिनि जांणियां, तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौलीन मन, ते बहुरि न आया॥

—क० ग्रं०, पृ० १२६, १८१।

केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना।

—वही, पृ० २९८, ११४।

और देवी देवता उपासना अनेक करै
आँवन की हौस कैसे आकडोड़े जात है।
सुन्दर कहत एक रवि के प्रकास विन
जेंगना की जोति, कहा रजनी बिलात है?

—सं० बा० सं०, भाग २, पृ० १२३।

झुके।* निर्गुणी एकेश्वर के भक्त को आलंकारिक भाषा में पतिव्रता नारी कहते हैं। कबीर की दृष्टि में बहु-देव-वादी उस व्यभिचारिणी स्त्री के समान है जो अपने पति को छोड़कर जारों पर आसक्त रहती है×; अथवा उस गणिका-पुत्र के समान है जो इस बात को नहीं जानता कि उसका वास्तविक पिता कौन है +। नानक जिस समय—१ ॐ ÷ सतिनामु करता पुरख निरभो निरवैर अकालमूरति अजूनि सैभं (गुरु प्रसादि) की भक्ति का प्रचार कर रहे थे उस समय उनका प्रधान लक्ष्य बहु-देव-वाद का खंडन ही था। हिंदुओं को संबोधित कर कबीर ने कहा था—

एक जनम के कारणे कत पूजो देव सहेसा रे। =
काहे न पूजो रामजी जाके भक्त महेसो रे॥ ∴

---

* यह सिर नवे त राम कूं, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहि परसिए, यह तन जायो छूट॥
—सं० बा० सं० १, पृ० १४७।

× नारि कहावै पीव की, रहै और सँग सोय।
जार सदा मन सैं बसै, खसम खुसी क्यो होय॥
—वही, पृ० १८।

+ राम पियारा छाड़ि कर, करै आन को जाप।
बेस्वा केरा पूत ज्यूं कहै कौन सूं बाप॥
—क० ग्रं०, पृ० ६, २२।

÷ ॐ के प्लुत होने से कभी कभी 'ओ३म्' इस तरह भी लिखा जाता है। इस तीन अंक को कोई इस बात का सूचक भी मानते हैं कि ॐ अ+उ+म्—इन तीन अक्षरों के योग से बना है। इन बातों से कोई यह न समझ बैठे कि प्रलय का त्रिविध स्वरूप है अथवा वह खंडित हो सकता है, इस भय से नानक ने 'ओ३म्' की जगह '१ॐ' कर दिया है।

= सहेसो=सहस्त्रों। ∴ क० ग्रं०, पृ० १२६, १२७।

मुसलमानों को

दुइ जगदीस कहाँ ते आये कहु कौने भरमाया।
अल्ला, राम, करीमा, केसो, हरि हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक नमाज एक पूजा॥ ❀

तथा दोनों को

कहै कबीर एक राम जपहु रे हिंदू तुरक न कोई॥ +
हिंदू तुरक का कर्ता एकै ता गति लखी न जाई॥ ×

निर्गुण संतों ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि जगत् का कर्ता-धर्ता एक ही परमात्मा है जिसको हिंदू और मुसलमान दोनों सिर नवाते हैं।

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि हिंदू-बहुदेववाद वैसा नहीं है जैसा बाहर-बाहर देखने से प्रकट हो सकता है। हिंदुओं के प्रत्येक देवता का द्वैध रूप है—एक व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक अथवा तात्त्विक। व्यावहारिक रूप में वह परब्रह्म परमात्मा के किसी पक्षविशेष का प्रतिनिधि है जिसके द्वारा याचक भक्त अपनी याचना की पूर्ति की आशा करता है। ब्रह्मा विश्व का सृजन करता है, विष्णु पालन और रुद्र उसका उद्देश्य पूर्ण हो जाने पर संहार ; लक्ष्मी धनधान्य की अधिष्ठात्री है, सरस्वती विद्या की, चंडी वह प्रचंड दिव्य शक्ति है जो अत्याचारी राक्षसों का विध्वंस करती है और युद्ध-यात्रा में जाने के पहले जिसका आवाहन किया जाता है इत्यादि। परंतु परमार्थरूप में प्रत्येक देवता पूर्ण परब्रह्म परमात्मा है और व्यवाहारिक पक्ष में अन्य सब देवता

❀ क० श०, ४, पृ० ७५।

+ क० ग्रं०, पृ० १०६, ५७।

× वही, १०६, ५८।

उसके उपोनस्थ हैं। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर मैक्समूलर ने भारतीय देववाद को पैलोथिज्म (बहुदेववाद) न कहकर हीनोथिज्म कहा है। हिंदू पूजा-विधान (यहाँ पर मेरा अभिप्राय दर्शन से नहीं कर्मकांड से है) को चाहे कोई किसी नाम से पुकारे उसके मूल में निश्चय ही एकेश्वर-भावना है। वैदिक काल के ऋषि भी जिन प्राकृतिक शक्तियों के विनय का गान किया करते थे, उनमें एक परमात्मा का दर्शन करते थे, उन्होंने घोषणा की कि बुद्धिमान् लोग एक ही सत्तत्व को अग्नि, इन्द्र (जल का स्वामी), मातरिश्वान (वायु का अधिपति)-आदि नामों से पुकारते हैं॥। अतएव जो अलग अलग देवता समझे जाते हैं, वे वस्तुतः अलग देवता न होकर एक ही परमात्मा के अलग अलग रूप हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर स्पेन-निवासी अरब-वंशी काजी साइद ने, जिसकी मृत्यु सं० ११२७ में हुई थी, लिखा था कि "हिंदुओं का ईश्वरीय ज्ञान ईश्वर की एकता के सिद्धान्त से पवित्र है।" + डाक्टर ग्रियर्सन को भी यह बात माननी पड़ी है कि हिंदुओं की मूर्तिपूजा और बहुदेववाद हिंदू-धर्म के गहन सिद्धांतों के बाहरी आवरण मात्र हैं।× यदि हिंदू-पूजा-विधान के इस मूल तत्त्व की अवहेलना न की गई होती तो कबीर उसका विरोध न करते। क्योंकि वे जानते थे कि एक परमात्मा के अनेक नाम रख देने से वह एक अनेक नहीं हो जाता। उन्होंने स्वयं ही कहा था "अपरंपार का नाउँ अनंत।" ÷ परंतु तथ्य तो यह है कि जिस समय पश्चिमोत्तर के द्वार से देश में मुसलमानों की

॥ एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निमिन्द्रं मातरिश्वानमाहु.।

—ऋक् २, ३, २३, ६।

+ तवक़ातुल उमम (बैरुत संस्करण), पृ० १५; अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० १७४।

× क० व०, प्रस्तावना, पृ० ६६।

÷ क० ग्र०, पृ० १६६, २२७।

सैन्य-धारा निरंतर उमड़ी चली आ रही थी। उस समय उन्होंने हिंदुओं को घोर बहुदेववादी पाया जो हिंदुओं को उनकी घृणा का भाजन बनाने का एक कारण हुआ। परन्तु अल्लाह के इन प्यारों को स्वप्न में भी विचार न हुआ कि जिस बहुदेववाद से हम इतनी घृणा कर रहे हैं, हमारा मूर्ति-भंजक एकेश्वरवाद उससे भिन्न कोटि का नहीं है। विश्व का कर्ता-धर्ता चाहे एक देवता हो अथवा अनेक, इससे परिस्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं आता। सामी एकेश्वरवाद और विकृत हिंदू बहुदेववाद एक ही देववाद के दो विभिन्न रूप हैं। किंतु निर्गुण संतों ने परमात्मा-संबंधी जिस विचार-शृङ्खला का प्रसार किया, वह इनसे तत्वतः भिन्न थी। उसका मूर्ति-पूजा का विरोधी होना, इस बात का प्रमाण नहीं कि वह और मुसलमानी एकेश्वरवाद एक ही कोटि के हैं। दोनों में आकाश पाताल का अंतर है। मुसलमानों के ईश्वर-संबंधी विश्वास का निचोड़, 'ला इलाहे इल्लिल्लाह मुहम्मदर्रसूलिल्लाह', में आ जाता है, जो कुरान के दो सूरों के अंशों के मेल से बना है। इसका अर्थ है, अल्लाह का कोई अल्लाह नहीं, वह एक मात्र परमेश्वर है और मुहम्मद उसका रसूल अर्थात् पैगंबर या दूत है। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने कहा था कि जिस धर्म का मुहम्मद ने अपने कुल और राष्ट्र के लोगों में प्रचार किया था वह एक सनातन सत्य और एक आवश्यक कल्पना (ऐन एटर्नल ट्रूथ ऐंड ए नेसेसरी फिक्शन) के योग से बना है*। निर्गुण पंथ के प्रवर्तक कबीर ने इस कल्पना का तो सर्वथा निराकरण कर दिया और वह सत्य के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ा। मुहम्मद के दूतत्व को तो उसने अस्वीकार करके ईश्वर-संबंधी विचार को और भी महान् और आकर्षक बना दिया।

---

* रोमन इंपायर, भाग ६, पृ० २२२।

इस्लाम और निर्गुण पंथ दोनों परमेश्वर को एक मानते हैं—परंतु दोनों के एक मानने में अन्तर है। इस्लाम की अल्लाह-भावना में अल्लाह एकाधिपति शाहंशाह के समान है जिसके ऊपर कोई शासनकर्ता नहीं, जिसकी शक्ति अनंत और अपरिमित है। हाँ, वह परम बुद्धिमान् और न्यायकर्ता है। उससे कोई बात छिपी नहीं रह सकती। हर एक आदमी के किये हुए छोटे से छोटे पाप और पुण्य का उसके यहाँ हिसाब रहता है। श्रद्धालु धर्मनिष्ठों को वह मुक्तहस्त होकर पुरस्कार वितरित करता है किंतु अविश्वासी पापिष्ठ उसकी निगाह से बच नहीं सकता; उसे अवश्य दंड मिलता है। क्योंकि जैसा कुरान कहती है, "जिधर ही मुड़ो उधर ही अल्लाह का मुख है"। *

यह बात नहीं कि इस्लाम में अल्लाह दयालु न माना गया हो। कुरान का प्रत्येक सूरा अल्लाह की दयालुता का उल्लेख करते हुए आरंभ होता है। मुहम्मद के अनुसार परमेश्वर क्षमाशील है। पक्षिणी का जितना गाढ़ा प्रेम अपने बच्चे पर होता है, उससे अधिक अल्लाह का आदमी पर। किंतु, इतना होने पर भी कुरान का अल्लाह 'भय बिनु होय न प्रीति' की नीति को बरतता है। वह प्रेम का परमात्मा होने के बदले का भय का भगवान् है। उसकी अनुकंपा और दयालुता उसकी अनंत शक्ति के ही परिचायक हैं। वह घोर दंड भी दे सकता है तो असीम अनुग्रह भी दिखा सकता है। "इस्लाम में प्रेरक भाव परमात्मा का प्रेम नहीं अल्लाह का भय है।" प्रेम से प्रभावित होना सामी जाति का स्वभाव नहीं है, उनके ऊपर केवल भय का असर पड़ सकता था।+

---

* २, १०६।

+ डिक्शनरी ऑव् इस्लाम, पृ० ४०१ में मिस्टर स्टेनली लेनपोल के अवतरण के आधार पर। उलटे कामाओं में उनके शब्दों का यथार्थ अनुवाद है—"दि फियर रादर दैन दि लव ऑव् गॉड इज़ दि स्पर टु इस्लाम।"

परमेश्वर की इस अनंत शक्ति को निर्गुणपंथी अस्वीकार नहीं करते। परंतु उनके लिए परमेश्वर के स्वरूप का यह केवल एक गौण लक्षण है। परमेश्वर इस विश्व का कर्ता-धर्ता, नियन्ता, शासक और अधिपति ही नहीं बल्कि व्यापक तत्त्व भी है। वह घट-घट में कण-कण में अणु-परमाणु में व्याप्त है और वही हममें सार वस्तु है। परमेश्वर परमेश्वर ही नहीं परमात्मा भी है। वह हमारे आत्मा का आत्मा है। मुसलमानी विश्वास और निर्गुणपंथी अनुभूति में जो अन्तर है, उसे कबीर ने संक्षेप में इस तरह व्यक्त किया है—

मुसलमान का एक खुदाई। कबीर का स्वामी रह्या समाई ॥+

दादू ने वेदांत के सर्वप्रिय दृष्टांत का आसरा लेकर कहा, दूध में घी की तरह परमात्मा विश्व में सर्वत्र व्याप्त है।× नानक ने परमात्मा के सम्मुख निवेदन किया—

"जेते जीअ जंत जलि थलि माहीं
अली जत्र कत्र तू सरब जीआ।
गुरु परसादि राखिले जन कउ
हरिरस नानक झोलि पीआ॥"÷

परमात्मा का यह व्यापकत्व उसकी अनंत शक्ति का एक पक्ष मात्र नहीं, जैसा सामी विचार-परंपरा के अनुसार ठहरेगा, बल्कि उसी में उसकी सार-सत्ता है। यहीं उनके प्रेम-सिद्धान्त की आधार-शिला है।

यह व्याप्ति कहीं न्यून और कहीं अधिक नहीं। परमात्मा सब जगह अपनी पूर्ण सत्ता के साथ विद्यमान है। परंतु उसकी पूर्णता यहीं समाप्त

+ ग्रंथ, पृ० ६२६। क० ग्रं०, पृ० २०० ३.००।

× घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर।
—बानी, भा० १, पृ० ३२।

÷ 'ग्रंथ', ६०६।

नहीं हो जाती। इस विश्व में पूर्णरूप से व्याप्त होने पर भी वह पूर्ण रूप से उसके परे है। इस अद्भुत राज्य में गणित की गणना बेकाम हो जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् के शब्दों में अगर कहें तो कह सकते हैं कि पूर्ण में से अगर पूर्ण को निकाल लें तो भी पूर्ण ही शेष रहता है।* इसी भाव को दृष्टि में रखकर दादू ने कहा था कि परमात्मा ने कोई ऐसा पात्र नहीं बनाया है जिसमें सारा समुद्र भर जाय और और पात्र खाली भी रह जाय—

चिड़ी चोंच भर ले गई नीर निघट न जाइ।
ऐसा बासण ना किया सब दरिया माहि समाइ ॥+

यह व्याप्ति इतनी गहन है कि व्यापक और व्याप्त में कोई अंतर ही नहीं रह जाता। सिद्धान्तवादी कबीर की सहायता के लिए उसी के हृदय में से कवि बाहर निकलकर रसपूर्ण व्याप्ति को इस तरह संदेह के रूप में व्यक्त करता है—

तुनु नहि पिउ महि जिउ बसै, जिउ महि बसै कि पीउ ॥×

पूर्ण सत्य तक तब पहुँच होती है जब यह संदेह निश्चय में परिणत हो जाता है और प्रिय हृदय में तथा हृदय प्रिय में बसा हुआ दिखाई देता है। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि परमात्मा विश्व में और विश्व परमात्मा में अवस्थित है—

खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाई =

परमात्मा की इसी व्यापकता के कारण उसे मन्दिर-मस्जिद आदि

---

* पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥—२, ५, १६।

+ बानी (ज्ञानसागर); पृ० ६३, ३२७।

× क० ग्रं०, पृ० २६३, १८९।

= वही, पृ० १०४, ४१।

में सीमित मान लेना मूर्खता हो जाती है। मुसलमानों के लिए खुदा मस्जिद में और हिंदुओं के लिए ईश्वर मन्दिर में है तो क्या जहाँ मंदिर-मस्जिद नहीं वहाँ परमात्मा नहीं ?—

तुरक मसीत, देहुरे हिंदू, दुहुँठाँ राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नाहीं, तहँ काकी ठकुराई ॥+

निर्गुणी को मन्दिर मस्जिद से कोई प्रयोजन नहीं। वह जहाँ देखता है, वहीं उसको परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं। सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा है, सत्ता ही केवल उसकी है—

जहँ देखौं तहँ एक ही साहब का दीदार।×

नानक—

सब संत इस बात का उद्बोध करने में एकमत हैं।

गुरु परसादी दुरमति खोई, जहँ देखा तहँ एको सोई।÷

किंतु निर्गुणियों का सर्वत्र परमात्मा का ही दर्शन करना केवल उसके अधिदेवत्व तथा व्यापकत्व का सूचक नहीं है। उन्मेषशील जीव को इस

२. पूर्ण-ब्रह्म

बात का अनुभव होता है कि मेरी सत्ता केवल भौतिक नहीं। अपनी पारमात्मिकता की भी उसे बहुत धुँधली सी झलक मिल जाती है। अतएव उद्धार की आशा से वह ऐसे किसी दृढ़ अवलंबन की आवश्यकता का अनुभव करता है जो दूर से दूर होने पर भी निकट से निकट हो। परमात्मा के अधिदेवत्व और व्यापकत्व नाम रूप की उपाधियों से रहित उस परमतत्व को इसी पक्ष दृष्टि से देखने के परिणाम हैं। उसकी पूर्णता उन्हीं में नहीं; हाँ उनकी ओर वे अस्पष्ट संकेत अवश्य करते हैं।

+ वही, पृ० १०६, ५८।

× सं० बा० सं० १, पृ० ३३।

÷ 'ग्रन्थ', पृ० १६३, आसा।

पूर्णरूप में उस तत्त्व का कोई उपयुक्त विचार ही नहीं कर सकता है। वह चिंतन-मनन के परे हैं। बुद्धि मूर्त रूप का आधार चाहती है और वाणी रूपक का इसलिए उस अमूर्त और अनुपम को ग्रहण करने में बुद्धि, और व्यक्त करने में वाणी, असमर्थ है। बुद्धि से हमें उन्हीं पदार्थों का ज्ञान हो सकता है जो इंद्रियों के गोचर हैं, इंद्रियातीत का नहीं। इसी से नानक ने कहा था कि लाख सोचो, परमात्मा के बारे में सोचने बनता ही नहीं है।* यही कारण है कि 'यह परमात्मा है' ऐसा कहकर उसका निर्देश नहीं किया जा सकता।

इसी कठिनाई के कारण सब सत्यान्वेषकों को न-कारात्मक प्रणाली का अनुसरण करना पड़ता है। 'परमात्मा यह है' न कहकर वे कहते हैं 'परमात्मा यह नहीं है' 'स एष नेति नेति आत्मा' × कहकर उपनिषदों ने इसी प्रणाली का अनुगमन किया है हमारे संतों ने भी यह किया है। परमात्मा अवरण है, अकल है, अविनाशी है। न उसके रूप है, न रंग है, न देह है।+ न वह बालक है न बूढ़ा न उसका तोल है, न मोल है, न ज्ञान है; न वह हल्का है, न भारी, न उसकी परख हो सकती है।= परन्तु इससे

* सोचै सोच न होवई जे सोचै लख वार।—'ग्रंथ', पृ० १।

× 'बृहदारण्यकोपनिषद्, ४, ४, २२।

\+ अवरण एक अविनाशी घट घट आप रहै।

—क० ग्रं०, पृ० १०२, ४२।

रूप वरण वाके कुछ नाही सहजो रंग न देह।

—सहजो, सं० वा० सं०, पृ० १६।

= ना हम बार बूढ़ हम नाही, ना हमरे चिलकाई हो।

—क० ग्रं०, पृ० १०४, ५०।

तोल न मोल, माप किछु नाही गिनै ज्ञान न होई।

ना सो भारी ना सो हलुआ, ताकी पारिख लखै न कोई।

—वही, पृ० १४४, १६६।

परिणाम क्या निकलता है ? परमात्मा के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने में हम कहाँ तक सफल होते हैं ? कबीर ने कहा था, चारों वेद (नेति नेति कहकर) सब वस्तुओं को पीछे छोड़ते हुए आपका यशोगान करते हैं परंतु उससे वास्तविक लाभ कुछ होता नहीं दीखता, भटकता हुआ जीव लूटा अवश्य जाता है।+ क्योंकि जैसा नानक कहते हैं, परमात्मा के सम्बन्ध में कितना ही कह डालिये, फिर भी बहुत कहने को रह जाता है।× इसी से कबीर ने झुँझलाकर कहा कि 'परमात्मा कुछ है भी या नहीं ?'÷ सुन्दरदास ने तो उसे 'अत्यंताभाव' कह दिया—हाँ, नास्तिकों के मतानुकूल अत्यंताभाव नहीं। परमात्मा है भी और नहीं भी है। जिस अर्थ में संसार के भौतिक पदार्थ 'हैं' उस अर्थ में परमात्मा 'है' नहीं और जिस अर्थ में परमात्मा 'है' उस अर्थ में सांसारिक पदार्थ नहीं हैं। इसीलिए सुन्दरदास कहते हैं कि परमात्मा है भी और नहीं भी है। बल्कि उसको 'है' और 'नहीं' इन दोनों के बीच देखना चाहिए।※ सारी समस्या को हल करने के उद्देश्य से सहजोबाई के शब्दों में निर्गुणी उसे 'है' और 'नहीं' भाव और अभाव दोनों से रहित

+ रावर को पिछवार कै गावै चारिउ सैन।
जीव परा बहु लूट मैं ना कछु लेन न दैन।,
—'बीजक', पृ० ४८८।

× बहुता कहिये बहुता होई।—'जपजी', २२।

÷ तहाँ किछु आहि कि सुन्यं।—क० ग्रं० पृ० १४३, १६४।

※ यह अत्यंताभाव है, यहई तुरियातीत।
यह अनुभव साक्षात है, यह निश्चै अद्वैत॥
"नाहीं नाही" कर कहै "है है" कहै बखानि।
"नाहीं" "है" के मध्य है, सो अनुभव करि जानि॥
—ज्ञान-समुद्र, ४४।

उद्घोषित करते हैं।× जैसे हम एक अर्थ में परमात्मा को 'है' नहीं कह सकते वैसे ही 'नहीं' भी नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य सभी पदार्थों का तो वही आधार है। परन्तु यह भी एक प्रकार का अभाव ही है अतएव यह उन्हें एक स्वयं विरोधी स्थिति में पहुँचा देता है।

इसी स्थिति के कारण प्राचीन ऋषि भाव ने परमात्मा के वर्णन में एक नवीन प्रणाली का अनुसरण किया था। वास्कलि ने भाव से पूछा था कि आत्मा क्या है। पहली बार प्रश्न करने पर जब उत्तर न मिला तो वास्कलि ने समझा कि शायद ऋषि ने सुना या समझा नहीं। फिर पूछने पर भी जब उन्होंने तीव्र दृष्टि से वास्कलि की ओर केवल देखा भर तो उसे भय हुआ कि कहीं अनजान में मैंने ऋषि को अप्रसन्न तो नहीं कर दिया। इसलिए उसने बड़ी विनय के साथ प्रश्न को दुहराया। इस बार ऋषि ने झुँझलाकर उत्तर दिया—"मैं बताता तो हूँ कि आत्मा मौन है, तुममें समझ भी हो!"+ और बात भी ठीक ही है। परमात्मा को निर्विशेष कहने पर भी उस पर विशेषणों का आरोप करना—चाहे वह विशेषण 'निर्विशेष' ही क्यों न हो—असंगत है। निर्गुणियों को भी इस बात का अनुभव हुआ था। ब्रह्म के वर्णन में वाणी की व्यर्थता की घोषणा करके कबीर ने भाव ऋषि का साथ दिया। उन्होंने कहा—भाई बोलने की बात क्या कहते हो? बोलने से तो तत्व ही नष्ट हो जाता है।=

×"है" "नाहीं" सू रहित है, 'सहजो' यों भगवंत।

—सं० वा० सं०, भाग १, पृ० १६५।

+ 'ब्रह्मसूत्र', शांकर भाष्य, ३, २, १७; दास गुप्त—हिस्टरी आव इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ४५।

= बोलना का कहिए रे भाई। बोलत बोलत तत्त नसाई।

—क० ग्रं०, पृ० १०६, ६७।

परन्तु जैसा नानक कहते हैं, जो लोग परमात्मा में एकतान भावना से लीन हो जाते हैं, वे चुप भी तो नहीं रह सकते। परमात्मा के यशोगान की भूख इंद्रियार्थों से थोड़े ही बुझ सकती है।× अतएव वाणी का आधार लेना ही पड़ता है। बोलने से अधूरा सही, भगवद्विचार का आरम्भ तो हो जाता है। बिना बोले वह भी नहीं हो सकता।+ इसीलिए नानक ने कहा—"जब लगि दुनिया रहिये नानक, किछु सुणिये किछु कहिये।"= परमात्मा यद्यपि 'नयन' और 'वयन' के अगोचर है फिर भी वह संतों के 'कानों' और 'कामों' का सार है। भगवच्चर्चा में सम्मिलित होना उनके जीवन का प्रधान सुख है। परमात्मा के गुणगान ही में वे जिह्वा की सार्थकता मानते हैं।* बोलने की इसी आवश्यकता के कारण कबीर ने परमात्मा को 'बोल' और 'अबोल' के बीच बताया है।÷

× चुपै चुपि न होवई लाइ रहा लिवतार।
भुखिया भूख न उतरी जेवना पुरिया भार॥—'जपजी', २।
\+ बिन बोले क्यो होय विचारा। —क० ग्रं०, १०६, ६७।
= 'ग्रन्थ', पृ० ३५६।
* कहत सुनत सुख ऊपजै अरु परमारथ होय।
नैना बैन अगोचरी स्रवणा करणी सार।
बोलन के सुख कारणे कहिये सिरजनहार॥ —वही, पृ० २३६।
÷ जहाँ बोल तहँ आखर आवा। जहँ अबोल तहँ मन न रहावा।
बोल अबोल मध्य है सोई। जस ओहु है तस लखै न कोई॥
—वही पृ० ५१०।

बीजक में अंतिम पद्य का कुछ भिन्न पाठ है—
जहाँ बोल तहँ अक्षर आवा। जहँ अक्षर तहँ मनहि दिढ़ाया॥
बोल-अबोल एक ह्वै जाई। जिन यह लखा सो बिरला होई॥
—'बीजक', साखी, २०४।
अबोल ही जब बोल हो जाता है तब अक्षर ब्रह्म के दर्शन होते हैं।

परंतु इतना सब होने पर भी कबीर के स्पष्ट शब्दों में सच तो यह है कि "परमात्मा को कोई जैसा कहे वैसा वह हो नहीं सकता, वह जैसा है वैसा ही है।"* कैसा है? कोई नहीं बता सकता। परमात्मा को संबोधित कर कबीर ने कहा था—

जस तू तस तोहि कोइ न जान।
लोग कहैं सब आनहि आन॥+

सुन्दरदास भी प्रायः इन्हीं शब्दों में कहते हैं—

जोइ कहै सोइ, है नहिं सुन्दर, है तो सही पर जैसे को तैसो।=

यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि सूक्ष्म ब्रह्म-भावना का विस्तार-पूर्ण उल्लेख थोड़े ही संतों में पाया जाता है। उदाहरण के लिए नानक में ऐसे स्थल भी मिलते हैं जो परब्रह्म की सूक्ष्म से सूक्ष्म निर्विकल्प भावना में भी घट सकते हैं। एक जगह नानक ने कहा है, और आगे क्या है, इसे कोई कह नहीं सकता, जो कहेगा उसे पीछे पछताना पड़ेगा।× क्योंकि उसका कथन ठीक हो नहीं सकता, परन्तु नानक ने अपने समय की स्थिति के कारण, जिसका मैं उनके जीवन-वृत्त में उल्लेख कर आया हूँ, एकेश्वर अधिदेवता की ही भावना की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसीलिए उन्होंने जपजी में कहा कि अगर परमात्मा का लेखा हो सकता है तो लिखो परंतु लेखा तो नाशवान् है, वह अविनाशी का कैसे वर्णन कर सकता है, नानक तू इस

---

* जस कथिये तस होत नहिं, जस है वैसा सोइ—वही, पृ० २३०।

+ क०, ग्रं०, पृ० १०३, ४७।

= 'ज्ञान-समुद्र'।

× ताकी आगला कथिया न जाई। जे को कहै पिछै पछिताउ।
—'जपजी', ३५।

फेर में मत पड़, वह अपने को आप जानता है, तू केवल उसे बड़ा कह।ॐ

परंतु कुछ संत ऐसे भी हैं जो, जैसा आगे चलकर मालूम होगा, इस निर्विकल्प भावना तक पहुँच ही नहीं पाये हैं। जहाँ पर वे पूर्ण अद्वैत ब्रह्म का सा वर्णन करते हैं, वहाँ पर निर्विकल्प अवस्था के स्थान पर उनका अभिप्राय परमात्मा की अद्वितीय महत्ता से होता है। किंतु इसके विपरीत कबीर और कुछ अन्य संतों की ब्रह्म-भावना तो ऐसी सूक्ष्म है कि वे उसे 'एक' भी कहना नहीं चाहते। कोई वस्तु 'अनेक' के ही विरुद्ध 'एक' हो सकती है। परंतु ब्रह्म तो केवल है।+ वह 'एक' कैसे हो सकता है? कबीर ही के शब्दों में परमात्मा को एक कहना—

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर विचारि॥

क्योंकि वह जैसा है वैसा, जान सकता है, हम तो इतना ही कह सकते हैं कि केवल वही है और कोई है नहीं।× दादू भी कहते हैं, "चर्म-दृष्टि से अनेक दिखाई देते हैं, आत्म-दृष्टि से एक, परन्तु साक्षात् परिचय तो ब्रह्म-दृष्टि से होता है, जो इन दोनों के परे है।"= फिर कहा है—

ॐ लेखा होइ लिखिये, लेखै होइ विरणास।
नानक वड़ा आखिये, आपै जाणै आप॥ —'जपजी', २२।

+ अब मैं जाणि बौरे केवल राइ की कहांणीं।
—क० ग्रं०, पृ० १४३, १६६।

× वो है तैसा वोही जानै, वोहि आहि, आहि नहिं आनै॥
—वही, पृ० २४१।

= चमदृष्टी देखे बहुत करि, आतमदृष्टी एक।
ब्रह्मदृष्टी परिचय भया, (तब) दादू बैठा देख॥
—बानी (ज्ञान-सागर), पृ० ४८।

दादू देखौं दयाल कौं, बाहरि भीतरि सोइ।
सब दिसि देखौं पीव को, दूसर नाही होइ॥+

भीखा भी कहते हैं—

भीखा केवल एक है, किरतिम भया अनन्त।
एकै आतम सकल घट, यह गति जानहि संत॥×

इन पदों से स्पष्ट है कि परमात्मा भाव और अभाव दोनों प्रणालियों से अवर्णनीय है; क्योंकि वह भाव और अभाव दोनों के परे है। परमात्मा की सगुण भावना भावात्मक

२. परात्पर

प्रणाली है, और निर्गुण भावना अभावात्मक। परन्तु परमात्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सगुण और निर्गुण दोनों के परे पहुँचना चाहिए। कबीर का अपने को निर्गुणी कहना नकारात्मक प्रणाली के अनुसरण मात्र की ओर संकेत करना है, जिसके साथ जिज्ञासु का ज्ञान-मार्ग में प्रवेश होता है। सूक्ष्म गुण तीन माने जाते हैं। इसलिए कबीर ने परमात्मा के सत्य स्वरूप को तीन गुणों से परे होने के कारण चौथा पद भी कहा है—

राजस तामस सातिग तीन्यूँ, ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हे तिनहि परम पद पाया॥÷

नीचे लिखी पंक्ति में भी इसी बात की ओर संकेत है—

कहै कबीर हमारे गोब्यंद चौथे पद मे जन का ज्यंद।۞
कबीर तीन सनेही बहु मिले, चौथे मिले न कोय।
सबै पियारे राम के, बैठे परबस होय॥

+ बानी, भाग १, पृ० ५३।
× सं० बा० सं०, भाग १, पृ० २१३।
÷ क० ग्रं०, पृ० १५०, १८४।
۞ क० ग्रं०, पृ० २१०, ३६५।

अंतिम उद्धरण में तीन का अर्थ त्रैलोक्य भी लगाया जा सकता है। बिहारी दरिया ने अभय सत्यलोक को त्रैलोक्य के ऊपर बतलाया है।× परमात्मा को त्रैलोक्य के परे मानना ठीक भी है। परन्तु कबीर-पंथ में इसका बिलकुल ही बाह्यार्थ लगाया गया और सत्यपुरुष निर्गुण से दो लोक ऊपर माना गया। बीच के दो लोकों के नाम सुन्न और भँवरगुफा रखे गये और उनके धनियों (अधिष्ठाताओं) के बिना किसी संगति के ब्रह्म और परब्रह्म।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि सुन्न बौद्धों के शून्यवाद की प्रतिध्वनि है, जिसमें सत्तत्व शून्यमात्र माना जाता है; योग में वह सूक्ष्म आकाश तत्व का बोधक होकर त्रिकुटी के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार मुंडकोपनिषद् में परमात्मा का निवास गुहा में माना गया है।+ यह ज्ञानगुहा अथवा हृदयगुहा दोनों हो सकता है। हृदय में योग के एक कमल (चक्र) का भी स्थान है अतएव हृदयस्थ परमात्मा उसका भ्रमर हुआ और हृदय उस भ्रमर की गुहा। भँवरगुहा आगे चलकर अनाहत चक्र से अलग हो एक चक्र मानी जाने लगी। कबीर ने भी ऐसा ही किया है।※ उन्होंने भँवरगुहा को लोक के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है।

× तीन लोक के ऊपरे अभयलोक विस्तार।
सत्त सुकृत परवाना पावै, पहुँचै जाय करार॥
—सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १२३।

+ बृहच्च तद्दिव्यमनंतरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहांतिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
—३, १, ७।

※ बंकनालि के अंतरे, पछिम दिसा के बाट।
नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भँवरगुफा के घाट रे॥
—क० ग्रंथ, पृ० ८८, ४।

नानक ने सचखंड अर्थात् सत्यलोक को वैष्णवों के समान सर्वोच्च लोक माना है जहाँ निरंतर कर्ता पुरुष का वास है। इसके नीचे चार और लोक हैं जिनके नाम उन्होंने—नीचे से ऊपर का क्रम रखते हुए—यों दिये हैं—धरमखंड, सरम (शर्म) खंड, ज्ञानखंड और करमखंड। सचखंड की यह भावना वाह्यार्थ-परक ही है, परंतु ऐसा भी नहीं मालूम होता कि नानक ने सूक्ष्म भावना को सर्वथा त्याग ही दिया हो। उन्होंने अपने सत्यनाम करता पुरुख का वर्णन प्रायः वैसे ही शब्दों में किया जो कबीर के मुख में रखे जा सकते हैं। उन्होंने कहा कि परमात्मा त्रिगुणात्मक त्रैलोक्य में व्याप्त है, परन्तु है वह दोनों लोकों अथवा तीनों गुणों से बाहर, 'तीनि समावे चौथे वासा।×' गुलाल उसे चौथे से भी ऊपर ले गये—"ब्रह्म-सरूप अखंडित पूरन, चौथे पद सों न्यारो।"+ प्राणनाथ ने भी कहा है—

वाणी मेरे पीउ की, न्यारी जो संसार।
निराकार के पार थैं तिन पारहु के पार॥÷

इस प्रकार परब्रह्म क्रमशः एक के बाद एक पद ऊपर उठने लगा। कबीर के नाम से भी कुछ ऐसी कविताएँ प्रचलित हैं, जो वस्तुतः कबीर की नहीं हो सकतीं, जिनमें सत्य समर्थ और निरंजन के बीच छः पुरुषों के लोक हैं। इन छः पुरुषों के नाम हैं—सहज, ओंकार, इच्छा, सोहम्, अचिंत्य और अक्षर। इन छः पुरुषों की सिद्धि के लिए एक नवीन सृष्टि-विधान की कल्पना की गई जिसके अनुसार सत्य पुरुष ने क्रमशः छः ब्रह्मों और उनके लिए छः अंडों की रचना की। छठे अक्षर ब्रह्म की दृष्टि

× "ग्रंथ", पृ० ४५।

+ "सं० बा० सं०," भाग २, पृ० २०६।

÷ प्रगट बानी, पृ० १, ना० प्र० स०, खोज-रिपोर्ट।

से छठा अंड फूटा तो उसमें से त्रैलोक्य का कर्ता निरंजन अपनी शक्ति ज्योति अथवा माया के साथ निकल पड़ा।×

परन्तु इन नये-नये वाह्यार्थवादी लोकों तथा उनके धनियों की कल्पना का क्रम यहीं पर न रुका, क्योंकि नाम तो शब्द मात्र हैं और परमात्मा की ओर संकेत मात्र कर सकते हैं। इन संकेतों को छोड़कर यदि उनका वाह्यार्थ लिया जाय तो उनका कोई भी पारमार्थिक मूल्य नहीं रह जाता। इस प्रकार हम परमात्मा को चाहे जिस नाम से पुकारें, वह उससे परे ही रहेगा; इसीलिए दर्शनशास्त्रों में उसे 'परात्पर' कहा है। परमात्मा को परे से परे ले जा रखने की इस प्रवृत्ति के कारण आगे चलकर परमात्मा 'सत्य पुरुष' से भी परे चला गया। परिणामतः परमात्मा, जिसे कबीरपंथियों ने अनामी और शिवदयालजो ने राधास्वामी नाम से अभिहित किया, सत्य पुरुष से भी तीन लोक और ऊपर जा बैठा। बीच के पुरुषों का नाम अगम और अलख रखा गया। शिवदयालजी ने अनामी शब्द को राधास्वामी का विशेषण माना था परन्तु राधास्वामी संप्रदाय के अनुयायियों ने अनामी को एक अलग पुरुष मानकर राधा-

× प्रथम सुरति समरथ कियो घट मे सहज उचार।
ताते जामन दीनिया, सात करी विस्तार॥...
तब समरथ के श्रवण ते मूल सुरति भै सार।
शब्द कला ताते भई, पाँचब्रह्म अनुहार॥
पाँचा पाँचौ अंड धरि, एक एक मह कीन्ह।...
ते अचित्य के प्रेम ते उपजे अक्षर सार।...
जब अक्षर के नीद गै, दबी सुरति निरवान।
श्याम बरन इक अंड है, सो जल मे उतरान॥...
अक्षर दृष्टि से फूटिया, दस द्वारे कढ़ि बाप॥
तेहि ते जोति निरंजनौ, प्रकटे रूपनिधान।
—क० श०, पृ० ६५-६६।

स्वामी के नीचे रख दिया। उनका कहना है कि शिवदयाल जी ने जान बूझकर अनामी पुरुष को गुप्त रखा था।

इतना ही नहीं, शिवदयाल जी ने सत्य को भी निर्गुण से चौथा न मानकर चार लोक ऊपर माना और इस प्रकार बढ़ी हुई जगह को भरने के लिए एक और लोक और पुरुष की कल्पना की जिनके नाम क्रमशः सोहंग लोक और सोहंग पुरुष रखे गये।

इस प्रकार सबसे नवीन संत- (राधास्वामी) साहित्य में हम निरंजन अथवा निर्गुण को उत्तरोत्तर उच्च पदवाले धनियों अथवा पुरुषों की श्रेणी के पाद पर पाते हैं। निरंजन के ऊपर क्रम से ब्रह्म, परब्रह्म, सोहंग (सोहम्) पुरुष, सत्य पुरुष, अलख पुरुष, अगम पुरुष और अनामी पुरुष हैं और सबके ऊपर राधास्वामी दयाल। इस संप्रदाय के अनुसार और धर्मों के लोग निरंजन अथवा उसके थोड़े ही ऊपर-नीचे के किसी पुरुष की आराधना करते हैं। यदि संत संप्रदायों में यह पर-प्रवृत्ति इसी प्रकार बढ़ती रही तो क्या आश्चर्य कि परमतत्त्व को कोई राधास्वामी से भी ऊपर ले जा रखे। परन्तु दर्शन-बुद्धि से तो यह आवश्यक जान पड़ता है कि आवश्यकता से अधिक 'पर', ब्रह्म पर न जोड़े जायँ। इस दृष्टि से इस अतिशय 'पर'— प्रवृत्ति की कोई संगति नहीं बैठती। एक बार जब परमात्मा को सगुण निर्गुण दोनों से 'पर' बतला दिया तब एक के बाद एक और 'पर' जोड़ने से लाभ ही क्या हो सकता है?

इस असंगत 'पर'-प्रवृत्ति का कारण यह है कि स्वामी रामानंदजी के सत्संग से प्राप्त जिन सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का प्रचार कबीर ने किया था, कुछ काल उपरान्त उनके वास्तविकार्थ को दर्शन बुद्धि से समझना उनके अनुयायियों के लिए कठिन हो गया और वे अपने से पूर्ववर्ती संतों तथा अन्य धर्मावलंबियों के अनुभवों को अपने से नीचा ठहराने लगे। बौद्ध और सूफ़ी भी आध्यात्मिक अभ्यासमार्ग में उत्तरोत्तर अग्रसर आठ पद

मानते हैं। संभवतः यह प्रवृत्ति इन्हीं के अनुकरण का फल है, परन्तु बौद्धों और सूफियों में इन पदों की भावना विभिन्न पुरुषों और उनके विभिन्न लोकों के रूप में नहीं की गई है; किन्तु केवल सोपानों के रूप में। अभ्यास पक्ष में संतों ने भी ऐसा ही किया है किंतु इससे उनको लोक और पुरुष भी मानना संगत नहीं ठहराया जा सकता।

एक स्थान पर शिवदयालजी ने राधास्वामी दयाल से कहलाया है कि अगम, अलख और सत्य पुरुश में मेरा ही पूर्ण रूप है। * यदि यह बात है तो यह कैसे माना जा सकता है कि इन रूपों को ग्रहण करने के लिए राधास्वामी को नीचे उतरना पड़ा है। जहाँ परमात्मा को एक पग भी नीचे उतरना पड़ा, समझना चाहिए कि पूर्णता में कमी आ गई। साधक के पूर्ण आध्यात्मिकता में प्रवेश पाने में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्राएँ हो सकती हैं; परन्तु निर्लेप परमतत्त्व में, जब तक वह निर्लेप परमतत्त्व है, न्यूनाधिक मात्राओं का विचार घट नहीं सकता। पूर्ण ब्रह्म की जब तक पूर्ण प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक साधक अपूर्ण ही कहलायेगा, चाहे उसकी अपूर्णता सूक्ष्म हो अथवा स्थूल।

यदि पूर्ण ब्रह्म-भावना पर बाह्यार्थ का आरोप किया जायगा तो वह अवश्य ही सारहीन होकर ऐसी अदार्शनिक प्रवृत्ति में बदल जायगी; यही यहाँ हुआ भी है।

कहना न होगा कि निरंजन, अलख, अगम, अनामी, सत्य आदि शब्दों को—जिन्हें पिछले संतों ने विभिन्न 'पुरुषों' का नाम मान लिया

---

* पिरथम अगम रूप मैं धारा। दूसर अलख पुरुष हुआ न्यारा॥
तीसर सत्त पुरुष मैं भया। सत्तलोक मैं ही रचि लिया॥
इन तीनों में मेरा रूप। ह्यां से उतरीं कला अनूप॥
ह्यां तक निज कर मुझको जानो। पूरन रूप मुझे पहचानो॥
—सारवचन, भाग १, पृ० ७५।

है—पहले के संतों ने परब्रह्म या परमात्मा के विशेषण मानकर उसके पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। विभिन्न लोक होने के बदले ये 'नेति नेति' प्रणाली-द्वारा पूर्ण पुरुष को ही देखने के विभिन्न दृष्टि-कोण हैं। निरंजन से भी (अंजन अथवा माया से रहित), जिसे पिछले संत काल-पुरुष का नाम मानते हैं, कबीर का अभिप्राय परमात्मा से ही था, यह इस पद से स्पष्ट होता है—

> गोरखंदे तू निरंजन, तू निरंजन, तू निरंजन राया।
> तेरे रूप नाही, रेख नाही मुद्रा नाही माया।
> तेरी गति तूही जाने कबीर तो सरना ॥*

अभ्यास-मार्ग में उन्नति के सोपानों के रूप में इन पदों की चाहे जो सार्थकता मानी जाय, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि लोक अथवा पुरुष रूप में उनका कोई दार्शनिक महत्व नहीं।

४. परमात्मा, आत्मा और जड़ पदार्थ

निर्गुण संतों को सर्वत्र परमात्मा ही के दर्शन होते हैं। यदि कोई पूछे कि "यदि सत्ता 'एक' ही की है तो अनेक के सम्बन्ध में क्या कहा जायगा ? क्या यह समस्त चराचर सृष्टि, जो इन्द्रियों के लिए उस अलक्ष्य परमात्मा से भी वास्तविक है, मिथ्या है ? क्या उसका अस्तित्व नहीं ?" तो वे सब एक स्वर में उत्तर देंगे कि उनकी भी सत्ता है, वे भी वास्तविक हैं, परन्तु परमात्मा से अलग उनकी कोई सत्ता अथवा वास्तविकता नहीं। उसी की सत्ता में उनकी सत्ता है, उसी की वास्तविकता में उनकी वास्तविकता, क्योंकि सबमें परमात्मा सार रूप से विद्यमान है। छोटे से छोटे जीव, तुच्छ से तुच्छ पदार्थ सबमें परब्रह्म का निवास है। कठिनाई केवल इतनी है कि जब तक हम इंद्रिय-ज्ञान पर आश्रित बुद्धि की माप से सब पदार्थों को मापने का प्रयत्न

* क० ग्रं०, पृ० १६२, २१६।

करते रहते हैं, तब तक उनके अंतरतम में प्रवेश कर उनको पूर्ण रूप में नहीं समझ सकते।

परन्तु इस कथन से सब संतों का एक ही अभिप्राय न होगा। हमें उनमें कम से कम तीन प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं। वेदांत के पुराने मतों के नाम से यदि उनका निर्देश करें तो उन्हें अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत कह सकते हैं। पहली विचार-धारा को माननेवालों में कबीर प्रधान हैं। दादू, सुंदरदास, जगजीवन-दास, भीखा और मलूक उनका अनुगमन करते हैं। नानक और उनके अनुयायी भेदाभेदी हैं। और शिवदयालजी तथा उनके अनुयायी विशिष्टा-द्वैती। प्राणनाथ, दरियाद्वय, दीन दरवेश, बुल्लेशाह इत्यादि शिवदयाल की ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

कबीर आदि अद्वैती विचार-धारावालों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर परमात्म तत्व पूर्ण रूप से विद्यमान है। रहस्य केवल इतना ही है कि वह इस बात को जानता नहीं है। इस बात का अनुभव तभी हो सकता है, जब वह मन और सामान्य बुद्धि के क्षेत्र से ऊपर उठ जाता है। मनुष्य (जीवात्मा) और परमात्मा में पूर्ण अद्वैत भाव है—दूर किया संदेह सब जीव ब्रह्म नहि भिन्न। * अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण वह अपने आपको ब्रह्मेतर समझता है। आत्मतत्व को भूलकर वह पंचभूतों की ओर दृष्टि डालता है और उन्हीं में अपने वास्तविक स्वरूप की पूर्णता मानता है—सूधी ओर न देखई, देखै दर्पन पृष्ट। + यही देहाध्यास उसके भ्रम की जड़ है। जब व्यक्ति इस आवरणों के भ्रम में न पड़कर, नाम और रूप को भेदकर, अपने अंतरतम में दृष्टि डालता है तब उसे मालूम होता है कि मैं तो वस्तुतः एकमात्र सत्तत्व हूँ। तब उसे विदित होता है कि किस प्रकार मैं अपने आपको

* सुन्दरदास, सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १०७।

+ वही।

भ्रम में डाले हुए था—सुंदर भ्रम ही दोष है +—और उसे तत्काल अनुभव हो जाता है कि मैं पूर्ण ब्रह्म केवल हूँ ही नहीं, बल्कि कभी उसके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ था ही नहीं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण ब्रह्म है। उसके इस तथ्य से अनभिज्ञ होने और उसकी अनुभूति न कर सकने से भी उसके वास्तविक स्वरूप में कोई अंतर नहीं आता। वह जाने चाहे न जाने, पर ब्रह्म तो वह है ही। पांचभौतिक जगत् के बंधनों से मुक्त होने के लिए यही अपरोक्षानुभूति अपेक्षित है।

संत-संप्रदाय के इन अद्वैती संतों ने इस सत्य को स्वयं अपने जीवन में अनुभूत कर लिया था। कबीर ने इस सम्बन्ध में अपने भाव बड़ी दृढ़ता तथा स्पष्टता के साथ व्यक्त किये हैं। आत्मा और परमात्मा की एकता में उनका अटल विश्वास था। इन दोनों में इतना भी भेद नहीं कि हम उन्हें एक ही मूल-वस्तु के दो पक्ष कह सकें। पूर्ण-ब्रह्म के दो पक्ष हो ही नहीं सकते। दोनों सर्वथा एक हैं। अद्वैतता की इसी अनुभूति के कारण वे समस्त सृष्टि में अपने आपको देखते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया था –

हम सब माहि सकल हम माहीं। हम थैं और दूसरा नाहीं॥
तीन लोक में हमारा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा॥
खट दर्शन कहियत हम भेखा। हमहि अतीत रूप नहि रेखा॥
हमही आप कबीर कहावा। हमही अपना आप लखावा॥⊛

जो कबीर को, वेस्टकॉट के समान रामानुज के 'विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धांत' का और फर्कुहर के समान निंबार्क के 'भेदाभेद' का समर्थक मानते हैं वे भ्रम के कारण कबीर के संपूर्ण विचारों पर समन्वित रूप से विचार नहीं करते। कबीर ने पूर्णब्रह्म का एक ही दृष्टि-कोण से

+ सुन्दरदास, सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १०७।
⊛ क० ग्रं० पृ० २०१, ३३२।

विचार नहीं किया है। उसका निर्वचन करने के लिए सब दृष्टि-कोणों से विचार करना पड़ता है, परंतु अंत में सबका समन्वय किये बिना पूर्णावस्था का ज्ञान नहीं हो सकता। कबीर जैसे पूर्ण अद्वैतवादियों ने यही किया भी है। इसी से कबीर में एक साथ ही निंबार्क के भेदाभेद और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का दर्शन हो जाता है। उनकी उक्तियों में से कोई भी वाद निकाला जा सकता है। परंतु स्वतः कबीर ने उनमें से किसी एक को नहीं अपनाया है। उन सबसे उन्होंने ऊपर उठने के लिए सोपान मात्र का काम लिया है। कबीर के सूक्ष्म दार्शनिक विचारों को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें उनकी एक ही दो उक्तियों पर नहीं बल्कि उनकी सब रचनाओं पर एक साथ विचार करना होगा। ऐसा करने से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि वे पूर्ण अद्वैती थे। वस्तुतः पूर्ण अद्वैत में कबीर का इतना अटल विश्वास है कि वे उस परमतत्व को कोई नाम देना भी पसंद नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से नाम और नामी में द्वैतभाव हो जाने की आशंका हो जाती है—

"उनको नाम कहन को नाही, दूजा धोखा होई।"×

जो तर्क से द्वैत-सिद्धि करना चाहते हैं उनकी वे मोटी अक्ल मानते थे –

"कहै कबीर तरक दुइ साधै, तिनकी मति है मोटी।"⊛

मुमुक्षु की दृष्टि से मोक्ष जीवात्मा का परमात्मा में घुल-मिलकर एकाकार हो जाना है। इस मिलन में भेद-ज्ञान जरा भी नहीं रहता। कबीर आदि संतों ने वेदांत का अनुसरण करते हुए घड़े के (घटाकाश दृष्टांत के अनुरूप) फूट जाने पर उसके भीतर के पानी के बाहर के पानी से मिल जाने के दृष्टांतों-द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। इन दृष्टांतों

× क० श०, भा० १, पृ० ६८।

⊛ क० ग्रं०, पृ० १०५, ५४।

से कोई यह न समझ ले कि इस मिलन में आत्मा को परमात्मा से कम महत्त्व दिया गया है। इसलिए कबीर ने बूँद और समुद्र का एक दूसरे में पूर्णतः मिल जाना कहा है—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
बूँद समानी समुद में, सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
समुद समाना बूँद में, सो कत हेरया जाइ॥+

परंतु मुक्त पुरुष के दृष्टि-कोण से मिलन का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि कभी भेद तो था ही नहीं जिससे मुक्ति होने पर मिलन कहना संगत ठहरे। मोक्ष तो केवल दोनों की नित्य अद्वैतता की अनुभूति मात्र है, जिससे अज्ञान का आवरण मनुष्य को वंचित रखता है। इसीलिए कबीर ने अपनी मुक्ति के संबंध में परमात्मा के प्रति ये उद्‌गार प्रकट किए थे—

राम! मोहि तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुंठ कहो धौं कैसा जो करि पसाव मोहि देहो॥
जो मेरे जिउ दुइ जानत हौ तो मोहि मुकति बतावो।
एकमेक ह्वै रमि रह्या सबन में तौ काहे कौ भरमावो॥
तारन तिरन तब लग कहिए, जब लग तत्त न जाना।
एक राम देख्या सबहिन में, कहै कबीर मन माना॥*

इस गहन अनुभूति की झलक इस श्रेणी के संतों की वाणियों में यत्र-तत्र मिल जाती है, क्योंकि वे दादू के शब्दों में अपने ही अनुभव से इस बात को जानते थे कि—

जब दिल मिला दयाल सौं, तब अंतर कछू नाहिं।
जब पाला पानी कौं मिला त्यौं हरिजन हरि माहिं॥×

+ क० ग्रं०, पृ० १७, ७, ३ और ४।
* वही, पृ० १०५, ५२।
× सं० बा० सं०, भाग १, पृ० ६२।

आत्मानंद में लीन दादू को सहज-रूप परब्रह्म को छोड़कर और कोई कहीं दिखलाई ही नहीं देता है—

सदा लीन आनंद में, सहज रूप सब ठौर।
दादू देखे एक को, दूजा नाहीं और ॥+

इसी स्वर में मलूकदास भी कहते हैं—

साहब मिलि साहब भये, कछु रही न तमाई।
कहे मलूक तिस घर गये जहँ पवन न जाई।=

भीखा भी कहते हैं—

भीखा केवल एक है, किरतिम भया अनंत।÷

इस अद्वैतानंद की जगजीवनदास ने इस प्रकार उत्साहपूर्ण अभिव्यंजना की है—

आनंद के सिंध में आन बसे, तिनको न रह्यो तन को तपनो।
जब आपु में आपु समाय गये, तब आपु में आपु लह्यो अपनो॥
जब आपु में आपु लह्यो अपनो तब आपन्वै जाप रह्यो जपनो।
जब ज्ञान को भान प्रकास भयो जगजीवन होय रह्यो सपनो ॥ꕥ

सुंदरदास को तो शांकर अद्वैत का पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान था जो उनकी रचनाओं से पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। अद्वैत ज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

परमातम अरु आतमा, उपज्या यह अविवेक।
सुन्दर भ्रम · दोय थे, सतगुरु कीये एक ॥×

+ बानी (ज्ञानसागर), पृ० ४२-४३।
= सं० बा० सं०, भाग २, पृ० १०४।
÷ वही, भाग १, पृ० २१३।
ꕥ वही, भाग २, पृ० १४१।
× वही, भाग १, पृ० १०७।

परंतु शिवदयाल, प्राणनाथ आदि अन्य संत यद्यपि इस बात को मानते हैं कि जीवात्मा का अंततः परमात्मा में निवास है फिर भी वे यह नहीं मानते कि वह पूर्णब्रह्म है। उनके अनुसार

५. अंशांशि संबंध

जीवात्मा भी परमात्मा है अवश्य, परंतु पूर्ण नहीं, परमात्मा अंशी है और जीवात्मा अंश। प्राणनाथ कहते हैं—

अब कहूँ इसक बात, इसक सबदातीथ साख्यात।
ब्रह्म सृष्टि ब्रह्म एक अंग, ये सदा अनंद अतिरंग ॥×

अर्थात् सृष्टि अत्यंत आनंदमय प्रेम-स्वरूप परमात्मा का एक अंग मात्र है। शिवदयाल ने अद्वैतवादी वेदांतियों के सम्बन्ध में कहा है कि सत्य पुरुष के पास से आनेवाली अंशरूप जीवात्मा (सुरत) का वे रहस्य नहीं जानते—

सुरत अंश का भेद न पाया। जो सतपुरुष से आन समाया।÷

रायबहादुर शालिग्राम ने भी अपनी प्रेमबानी में कहा है—

जीव अंस सत पुरुष से आई।... ...
पुरुष अंस तू धुरपद से आई। तिरलोकी मे रही फँसाई ॥=

शिवदयाल ने आत्मा और परमात्मा का भेद इस तरह स्पष्ट किया है-

भक्ति और भगवन्त एक है, प्रेम रूप तू सतगुरु जान।
प्रेम रूप तेरा भी भाई सब जीवन को यों ही जान ॥
एक भेद यामें पहिचानो, कही बुंद कहीं लहर समान।
कही सिंध सम करे प्रकासा, कही सोत औ पोत कहान ॥⊛

× 'ब्रह्मवानी', पृ० १ (खोज रिपोर्ट)।
÷ 'सार वचन', भा० १, पृ० ८५।
= 'प्रेमवानी', भा० १, पृ० ५४।
⊛ 'सारवचन', भाग १, पृ० २२६।

सुरत (जीवात्मा) और राधास्वामी (परमात्मा) मूल-स्वरूप में अवश्य एक हैं परन्तु विस्तार अथवा महत्ता में नहीं। सुरत भी प्रेम-स्वरूप है, परन्तु राधास्वामी तो प्रेम का भांडार ही है।+ अगर सुरत जल की बूँद है तो परमात्मा समुद्र। जिस प्रकार सागर की एक बूँद में सागर के सब गुण विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार जीवात्मा में भी परमात्मा के सब गुण विद्यमान हैं, परन्तु कम मात्रा में।

शाहजादा दाराशिकोह के प्रश्नों के उत्तर में बाबालाल ने भी इस सम्बन्ध में अपना मत बहुत स्पष्टता के साथ प्रकट किया है। दाराशिकोह ने पूछा—"क्या जीवात्मा, प्राण और देह सब छाया मात्र हैं?" बाबालाल ने उत्तर दिया—"जीवात्मा और परमात्मा मूल-स्वरूप में एक समान हैं और जीवात्मा उसका एक अंश है। उनके बीच वही सम्बन्ध है जो बुंद औ सिंधु में। जब बुंद सिंधु में मिल जाता है तो वह भी सिंधु ही हो जाता है।" इससे भी जब दाराशिकोह का पूरा समाधान न हुआ तो उसने फिर पूछा—"तो फिर जीवात्मा और परमात्मा में भेद क्या है?" इसके उत्तर में बाबालाल ने कहा—"उनमें कोई भेद नहीं है। जीवात्मा को हर्ष-विषाद की अनुभूति इसलिए होती है कि वह पांचभौतिक शरीर के बंधन में पड़ा है। परन्तु गंगाजल हमेशा गंगाजल रहेगा चाहे वह नदी में बहता हो अथवा घड़े में भरा हो।❀ इस प्रकार बाबालाल ने भी अंशांशि भाव को ही अपनाया था।

परन्तु नानक का इस सम्बन्ध में क्या मत है, यह साफ-साफ नहीं ज्ञात होता। आत्मा और परमात्मा की एक कर दुविधा के निवारण का उपदेश उन्होंने भी दिया है—

+ वह भंडार प्रेम का भारी जाका आदि न अंत देखात।

—'सारवचन', भाग १, पृ० २२७।

❀ विल्सन—'हिंदू रिलिजस सेक्ट्स', पृ० ३५०।

आतमा द्वंद रहै लिव लाई।... ...
आतमा परमातमा एकौ करै। अंतरि की दुविधा अंतरि मरै ॥+

इसके साथ-साथ जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि मुक्ति को सिख संप्रदायवाले 'निर्वाण' मानते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्त में आत्मा और परमात्मा अभेद रूप से एक हो जाते हैं; किन्तु यह विदित नहीं होता कि जब तक यह दुविधा 'मरती' नहीं तब तक भी आत्मा और परमात्मा में पूर्णाद्वैत भाव रहता है या नहीं। हाँ, उनकी सामान्य उक्तियों को तथा उनके भक्ति-भाव को देखने से यही समझ पड़ता है कि वे भी जीवात्मा और परमात्मा में, जब तक जीवात्मा है, अंशांशि सम्बन्ध ही मानते हैं। जड़ सृष्टि के सम्बन्ध में उनकी सम्मति भी, जिसका आगे चलकर उल्लेख होगा इसी बात को पुष्ट करती है।

परन्तु शिवदयाल और बाबालाल के मतों का जो उल्लेख ऊपर किया गया है, उससे स्पष्ट है कि अंशांशि भाववालों में भी साहमत्य नहीं है। बाबालाल और नानक तो अंश का अर्थ वस्तुतः अंश लेते हैं। हाँ, इतनी विशिष्टता उस अंश में अवश्य होती है कि अंश में भी अंशी के सब गुण वर्तमान रहते हैं, यद्यपि कुछ परिमाण में। किन्तु शिवदयाल और प्रायः अन्य सब संत, जो न तो अद्वैत धारा के अन्तर्गत आते हैं और न बाबालाल तथा नानक के अनुयायी हैं, अंश का अर्थ वस्तुतः अंश नहीं लेते, बल्कि अंश तुल्य। उनके लिए अंशांशि भाव केवल एक अनुपात की ओर संकेत करता है। परमात्मा के सामने जीव वैसा ही है जैसा समुद्र के सामने बूँद। जीवात्मा, परमात्मा के एक लघु से लघु अंश के बराबर है। जीवात्मा के सम्मुख परमात्मा कितना बड़ा है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह जीव का स्वामी और भाग्य-विधाता है। जीव, परमात्मा न होकर परमात्मा का है।

+ 'ग्रंथ', पृ० ३५७।

इन दोनों मतों में जो भेद है वह उनके मुक्ति-सम्बन्धी विचारों से और भी स्पष्ट हो जाता है। नानक और बाबालाल के अनुसार मोक्ष होने पर जीवात्मा परमात्मा में इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि जीवात्मा की कोई अलग सत्ता ही नहीं रह जाती। दोनों में जरा भी भेद नहीं रहने पाता।

परन्तु शिवदयाल का दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न है। उनके मतानुसार मुक्ति होने पर सुरत (जीवात्मा) की अलग सत्ता बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती, हाँ राधास्वामी (परमात्मा) के चरणों में उसे अनन्त चिन्मय जीवन अवश्य प्राप्त हो जाता है। वे भी सुरत की उपमा बूँद से और राधास्वामी की सागर से देते हैं और इस तरह मोक्ष की प्राप्ति पर सिंधु और बूँद का मिलन मानते हैं। परन्तु बूँद सिंधु में समाकर उसके साथ अभेद रूप से एक नहीं हो जाती। 'समाना' के स्थान पर उनके ग्रन्थों में 'धँसना' क्रिया का भी प्रयोग हुआ है। धँसने का तात्पर्य है किसी वस्तु में प्रविष्ट होकर उसमें अपने लिए स्थान कर लेना। शिवदयालजी का मत यह मालूम होता है कि सागर में जलराशि का वह परिमाण जो भाप होकर कभी नहीं उड़ता राधास्वामी है और जो बूँदें प्रतिपल उसमें उड़ती तथा उसमें से मिलती रहती हैं, वे सुरत हैं। ये बूँदें देखने में तो उस मूल जलराशि में मिल गई हैं, परन्तु फिर भी हम देख पावें चाहे न देख पावें, हैं तो वे वहाँ ही। मुक्त सुरत राधास्वामी के साथ सायुज्य-सुख भोगा करते हैं और अनन्त काल तक उनकी शरण में विश्राम पाते हैं। धरनी ने भी निम्नांकित रूपक में यही बात कही है—'छुटी मजूरी, भये हजूरी, साहिब के मनमाना।"* (हजूरी=हुजूर में रहनेवाला, दरबारी) प्रेम पहेली और तारतम्य के जो अवतरण नागरी प्रचारिणी सभा की दिल्ली की खोज (अप्रकाशित) में दिये हुए हैं, उनको

---

* 'बानी', पृ० १४।

पढ़ने से मालूम होता है कि प्राणनाथ के अनुसार मोक्ष उस चिद्रूप लीला में सम्मिलित होकर सहायक होने का सौभाग्य प्राप्त करना है, जिसमें 'ठाकुर' और 'ठकुरानी' अपने धाम में निरन्तर निरत हैं। यह भी इसी बात का सूचक है कि अंत में भी प्राणनाथ जीवात्मा परमात्मा में स्पष्ट भेद मानते हैं।

इस प्रकार इस श्रेणी के संतों का मत है कि जीवात्मा की चरमावस्था परमात्मा के साथ अभेद मिलन है। अंत तक परमात्मा परमात्मा ही रहता है और जीव जीव ही; दोनों का भेद कभी नष्ट नहीं होता।

कबीर सदृश अद्वैतवादी के मतानुसार यह मत भ्रामक है, क्योंकि यह पूर्ण ब्रह्म का अपूर्ण स्वरूप है। इसके अनुसार अखंड ब्रह्म या तो अनेक जीवात्माओं में विभाजित हो जाता है या परब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त और वस्तुओं (जीवात्माओं) की भी सत्ता मान ली जाती है और इस प्रकार अखंड पूर्ण ब्रह्म की अखंडता और पूर्णता व्यवधान में पड़ जाती है। अतएव उनके अनुसार ऐसे संतों की साधना अधूरी है। उन्हें अभी अपनी पूर्ण सत्ता का ज्ञान नहीं हुआ है, जैसा दादू ने कहा है—

> खंड खंड करि ब्रह्म को पख पख लीया बाँटि।
> दादू पूरण ब्रह्म तजि बँधे भरम की गाँठि ॥*

परन्तु स्वयं इन अंशांशि भाववालों के अनुसार बात ऐसी नहीं है। वे भी इस बात की घोषणा करते हैं कि परमात्मा अखंड और पूर्ण है, प्राणनाथ कहते हैं, इश्क जो सब संतों के लिए परमात्मा का ही दूसरा नाम है, अखंड, चिरंतन और नित्य है—"इसक अखंड हमेशा नित्त।"+

---

* 'बानी' (ज्ञानसागर), पृ० ११० ।

+ 'प्रेमपहेली', पृ० ५ (खोज रिपोर्ट) ·

जिस प्रकार समुद्र में की कुछ बूँदों के भाप बनकर उसमें से उड़ जाने से या कुछ और बूँदों के उसमें गिरकर मिल जाने से कुछ अंतर नहीं आता उसी प्रकार परमात्मा में भी जीवात्माओं के वियुक्त अथवा संयुक्त होने से कोई अंतर नहीं आता। दो वस्तुएँ केवलावस्था में एक होकर ही एक नहीं कहलातीं, एक समान होने से तथा एक में मिल जाने से भी एक कहलाती हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि उस ऐक्यावस्था से चाहे वह किसी प्रकार का ऐक्य हो, आत्मा और परमात्मा वियुक्त कैसे होते हैं? शिवदयाल ने इस प्रश्न पर प्रकाश डालने के लिए सुरत और राधास्वामी के बीच एक संवाद कराया है। सुरत को इसका कारण समझाते हुए राधास्वामी कहते हैं।

"सुनो सुरत तुम अपना भेद। तुम हम यें थीं सदा अभेद ॥
काल करी हम सेवा भारी। सेवा वस होय कुछ न विचारी ॥
तुमको माँगा हमसे उसने। सौंप दिया तुम्हें सेवा वस में ॥"
सुरत—"सेवा वस तुम काल को, सौंप दिया जब मोहिं।
तो अब कौन भरोस है, फिर भी ऐसा होय !"

राधास्वामी—"जान बूझ हम लीला ठानी। मौज हमारी हुई सुन ज्ञानी ॥
काल रचा हम समझ बूझ के। बिना काल नहिं खौफ जीव के ॥
क़दर शाल नहिं बिना काल के। मौज उठी तब अस दयाल के ॥
दिया निकाल काल को ह्याँ से। दखल काल अब कभी न ह्याँ से ॥
काल न पहुँचे उसी लोक में। अब न करूँ ऐसी मौज मैं।
एक बार यह मौज ज़रूर। अब मतलब नहीं डाली दूर ॥
तू शंका मत कर अब चित में। चलो देश हमरे रहो सुख में ॥"*

इसके अनुसार अपनी 'मौज' अथवा लीलामयी स्वतंत्र इच्छा के

---

* सारवचन, भाग १, ७७-८२।

कारण राधास्वामी (परमात्मा) सुरत (जीवात्मा) को अपने से वियुक्त कर कालपुरुष (यम) को सौंप देता है ; अन्यथा जीव दयाल की दया के महत्व को नहीं समझ पाता। इसी दया के महत्व को प्रकट करने के उद्देश्य से कालपुरुष की भी रचना हुई है। जब सुरत को दयाल की दया का महत्व मालूम हो जाता है, तब वह काल के फंद से छुड़ा लिया जाता है और उसे फिर परमात्मा के शाश्वत् समागम का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।

प्रायः सभी धार्मिक दर्शनों में वियोग का यही कारण बतलाया जाता है। विशिष्टाद्वैतियों तथा भेदाभेदियों के लिए यह वास्तविक कारण है और इस संबंध में वह उनकी जिज्ञासा की भी शांति कर देता है। परन्तु अद्वैतवादियों के अनुसार तो वियोग भी केवल एक व्याव-हारिक सत्य है। पारमार्थिक रूप में तो कभी वियोग हुआ ही नहीं था इसलिए वियोग का यह कारण भी व्यावहारिक ही हो सकता है। इसका उपयोग केवल उन्हीं लोगों को समझाने के लिए किया जा सकता है जो अभी अज्ञान के आवरण को नहीं हटा पाये हैं।

६. जीवात्मा और जड़ जगत्

केवल जीवात्मा ही नहीं, परिवर्तनशील तथा नाशवान् जड़ पदार्थ भी जो आत्मा के आवरण का काम देता है और बाह्य जगत का निर्मायक है, परमात्मतत्व के घेरे के बाहर नहीं। "जहँ देखो तहँ एकोएक" का यह एक दूसरा स्वाभाविक परिणाम है। जब सब कुछ ही परमात्मा है तब जड़ पदार्थ को ही कैसे कह सकते हैं कि वह पर-मात्मा नहीं। परन्तु इस संबंध में भी हमारे इन संतों में तीन प्रकार की विचारधाराएँ दिखाई देती हैं। कबीर आदि पूर्णाद्वैती तो विवर्त-वाद के समर्थक हैं। उनके अनुसार दृश्य जगत् का मूल अधिष्ठान भी परब्रह्म ही है। परब्रह्म ही एक मात्र सत्तत्व है जिसके ऊपर नाम और रूप का अध्यारोप होता है। अलक्ष्य परब्रह्म ही मायाविष्ट जनों को लक्ष्य

जगत् के रूप में दिखाई देता है। परन्तु जो कुछ दिखाई देता है वह वस्तुतः सत्य नहीं, वह अज्ञान और भ्रम के कारण दिखाई देता है और सर्वथा मिथ्या है।

सृष्टि सौंदर्य को देखकर कबीर के मन में जो विचारधारा उठती है वह इस बात को पूर्ण रूप से पुष्ट करती है—

कहो भाई अंबर कासूं लागा। कोइ जाणंगा जानन हारा।
अंबरि दीसै केता तारा। कौन चतुर ऐसा चितरन हारा॥
जो तुम देखो सो यहु नाहीं। है यह पद अगम अगोचर माही।*

तारों से जगमगाता हुआ सुन्दर नीलाकाश जो विधाता रूप चतुर चितेरे के निर्माण-कौशल का प्रमाण है, वह जैसा दिखाई देता है कबीर के लिए वैसा नहीं है, वह भी गम्य और गोचर होने पर भी अगम अगोचर के अंतर्गत है। दादू ने भी निम्नलिखित पंक्तियों में यही बात कही है—

मन रे तू देखै सो नाहीं। है सो अगम अगोचर माही॥
निसि अंधियारी कछू न सूझै, संसै सरप दिखावा।
ऐसे अंध जगत नहिं जानै, जीव जेवड़ी खावा॥×

इसी प्रकार सुन्दरदास भी कहते हैं—

मृत्तिका समाइ रही भाजन के रूप माहिं
मृत्तिका को नाम मिटि भाजन ही गह्यो है।
सुन्दर कहत यह योंही करि जानो
ब्रह्म ही जगत होय ब्रह्म दूरि रह्यो है॥=

ब्रह्म ही के मायाविष्ट जनों की आँखों में जगत् का रूप धारण करने से ब्रह्म उनकी आँखों से छिप रहा है।

---

* क० ग्रं०, पृ० १३३, ४१।
× सं० बा० सं०, पृ२, पृ० १००।
= सुन्दर विलास, अंग ३४, ४।

इस प्रकार जगत् विशिष्ट अर्थ में सत्य और मिथ्या दोनों है। जिस मूल तत्व पर नाशवान् नाम और रूप का अध्यारोप होने से जगत् दिखाई देता है, उसके सत्य होने के कारण जगत् सत्य है; परन्तु उस मूल तत्व के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान में विघ्न डालने के कारण यह दृश्य जगत् भूठ है।

एक दूसरे अर्थ में भी जगत् सत्य है। जब तक हम अज्ञान के आवरण को हटा नहीं पाते हैं तब तक जगत् हमारे लिए वास्तविक है। जगत् के बन्धन में पड़ा हुआ व्यक्ति जगत् को मिथ्या कहे, यह फबता नहीं, व्यवहार में वह सत्य ही है। इस व्यावहारिक सत्यता को समझाने के लिए अद्वैतियों ने माया के सिद्धांत को स्वीकार किया है। परन्तु साथ ही अद्वैत सिद्धांत को द्वैत के मल से बचाये रखने के लिए माया के अस्तित्व को उन्होंने सिद्धांत रूप से अस्वीकार कर दिया है। इसी लिए माया को कबीर ने बे बियाही गाय का दूध, खरगोश के सींग का नाद और बंध्या के पुत्र का रमण बतलाया है।—

आंगणि बेलि अकासि फल, अणब्यावर का दूध।
ससा सींग की धुनहड़ी, रमै बांझ का पूत॥*

परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में माया का निरसन है बड़ा कठिन काम। परमार्थतः उसके सत्य न होने पर भी व्यवहारतः जीव को वह ऐसे जकड़े रहती है कि उससे मुक्त होना दुष्कर है। देखने में ऐसा लग सकता है कि माया मर गई है, किंतु वह सूक्ष्म रूप धारण किये हुए अपना अवसर देखती रहती है और जब उसके प्रकट होने की आशा नहीं रहती है उस समय प्रकट हो जाती है—

अब तो ऐसी ह्वै पड़ी ना तूंबड़ी न बेलि।
जालण आणी लाकड़ी ऊठी कूंपल मेल्हि॥

—क० ग्रं० पृ० ६

* क० ग्रं०, पृ० ८६, ४।

व्यक्त होने के लिए अव्यक्त को माया का आवरण धारण करना ही पड़ता है। इसकी आवश्यकता तभी तक है जब तक कि जिज्ञासु साधक को ज्ञान के लिए मनःप्रेरित इंद्रियों पर अवलंबित रहना पड़ता है परन्तु जब वह इंद्रियों के ऊपर उठ जाता है तो इंद्रियातीत अव्यक्त का यह आवरण अपने आप हट जाता है।

सृष्टि-विज्ञान का दार्शनिक दृष्टि से सर्वोत्तम विवेचन सांख्यशास्त्र में हुआ है। सांख्यदर्शन स्पष्ट ही द्वैत को लेकर चला है; परन्तु व्यवहार ही में सही वेदांत को भी उसे अंगीकार करना पड़ा है। हमारे निर्गुण संतों ने भी समस्त सांख्य-ज्ञान को अपनी विचारधारा में मिला लिया है। सांख्य की संख्याओं का उनकी कविताओं में बराबर सामना होता है। 'तीन' 'पाँच' 'पचीस' पद-पद पर दिखाई पड़ते हैं। इनसे अभिप्राय सत्, रजस्, तमस् तीन गुणों, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पंचतत्वों और पचीस प्रकृतियों से है जिनमें ऊपर कहे गये तीन गुण और पाँच तत्वों के अतिरिक्त शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, पंच तन्मात्राएँ, इनका ज्ञान करनेवाली पंचेन्द्रियाँ और मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, महत्तत्व तथा प्रकृति और पुरुष सम्मिलित हैं। जगत् इनसे बना है अवश्य पर व्यवहार मात्र में, वस्तुतः नहीं; क्योंकि परमार्थतः तो जगत् है ही नहीं। अतएव तीन, पाँच, पचीस की भी वास्तविक सत्ता नहीं है। सृष्टि-क्रम का वर्णन करते हुए सुंदरदास को आशंका हुई कि उनके शिष्य इनको सत् न मान लें इसलिए, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि वे 'मिथ्या' तथा 'भ्रम-जाल' मात्र हैं—

ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई प्रकृति ते महत्तत्व अहंकार है।
ऐसे अनुक्रम से सिस्यन सों कहत सुंदर यह सकल मिथ्या भ्रमजार है ॥*

---

* सुंदर विलास।

कबीर भी कहते हैं—"नहि ब्रह्मांड,
प्यंड पुनि नाहीं पंच तत्त भी नाहीं।"+

"नहि तन, नहि मन, नहि अहंकारा,
नहि सत रज तम तीनि प्रकारा।"×

कबीर जब बिना धड़ के एक वृक्ष का वर्णन करते हैं जो बिना फूले फलता है जिसकी न शाखाएँ हैं न पत्तियाँ, फिर भी जो आठों दिशाओं में फैला हुआ है (अथवा जो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश, मन, चित्त, अहंकार के द्वारा फैला हुआ है), तो उनका अभिप्राय विश्व से ही रहता है।※ एक दूसरे पद में उन्होंने वृक्ष को अनंत-मूर्ति तथा अनंत-वाणि कहा है। बिना फल-फूल के भी भ्रमर (जीवात्मा) बाल्यावस्था से ही उससे अनुरक्त रहता है। इस भ्रमर को वास्तविक फल तब प्राप्त होता है जब ब्रह्मरंध्र में सहज-समाधि के द्वारा पृथ्वी, जल आदि तत्व सोख लिये जाते हैं और पेड़ अदृश्य हो जाता है।=

इस वृक्ष की असत्यता भगवद्गीता की अश्वत्थ भावना के सर्वथा

+ क० ग्रं०, पृ०, ९८, ३२।

× वही, पृ० १००, ३८।

※ तरवर एक पेड़ बिन ठाड़ा, बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहि वाके, अष्टगगन मुख बागा॥
—क० ग्रं०, पृ० १४३, १२५।

= तरवर एक अनंत मूरति सुरता लेहु पिछाणी।
साखा पेड़ फूल फल नाहीं, ताकी अमृत वाणी।
पुहुप वास भँवरा एक राता बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझे पवन झकोरै आकासे फल फलिया।
सहज समाधि विरिप यह सींच्या, धरती जलहू सोष्या।
—वही पृ० १४३, १६६।

अनुरूप है जिसका श्रीकृष्ण ने पंद्रहवें अध्याय के आरम्भ में वर्णन किया है और विरक्ति के कुठार से जिसे काट डालना आवश्यक बतलाया है। गीता के अश्वत्थ के समान कबीर के इस तरुवर की जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे नहीं बतायी गयी हैं, परन्तु इससे इन दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं आता। कठोपनिषत् का अश्वत्थ जो पूर्ण ब्रह्म का स्वरूप होने के कारण सत्य माना गया है अद्वैतियों के मतानुकूल न होकर भेदाभेदियों तथा विशिष्टाद्वैतियों के मतानुकूल है। तुलसीसाहब ने भी इस जगत् को एक उलटा वृक्ष बताया है, यद्यपि अपने सिद्धांत के विपरीत वे उसे असत्य नहीं बना सकते थे। उनका सिद्धांत कठोपनिषत् के अनुकूल जान पड़ता है। इस वृक्ष की जड़ ऊपर और डाली नीचे बताने से अभिप्राय यह है कि परब्रह्म ही उसका मूल है।×

सांख्यशास्त्र को कबीर आदि अद्वैती, अद्वैत वेदांत की ऐनकों से देखते थे। सांख्य पुरुष और प्रकृति दोनों को भिन्न तथा अनादि अनंत और नित्य मानता है। परन्तु यह बात इन संतों के सिद्धांत के अनुकूल न थी। सांख्य का सिद्धांत भी सर्वथा गलत न था। जहाँ तक उसकी गति थी वहाँ तक वह ठीक है, परन्तु पूर्ण ज्ञान तक उसकी पहुँच नहीं है। अतएव शंकराचार्य के अनुयायियों की भाँति कबीर आदि निर्गुणियों ने भी सांख्य-सिद्धांत का उपयोग किया परन्तु उसपर अद्वैत की छाप लगाकर प्रकृति और पुरुष को भी उन्होंने व्यावहारिक सत्य के रूप में ग्रहण किया और उनके संयुक्त रूप को ब्रह्म का व्यावहारिक व्यक्त-स्वरूप माना, जिसके परे अव्यक्त पूर्ण ब्रह्म का स्थान था। यहाँ पर इस

× दरख्त एक है उलटा।
कभी होवै नहीं सुलटा॥
अगर वह पेड़ अड़बड़का।
तले डाली अधर जड़का॥ —"रत्नसागर", पृ० १७४।

बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि पहले संतों ने निरंजन को भी जिसे कुछ पिछले संतों ने परब्रह्म का एक विवर्त माना है, पूर्ण ब्रह्म के पर्याय के रूप में ग्रहण किया था।

ब्रह्म का पहला विवर्त प्रणव, ॐ अथवा शब्द ब्रह्म है जिसमें पुरुष और प्रकृति, व्यक्त और अव्यक्त, ईश्वर और माया दोनों समाहित हैं। प्रणव का अव्यक्त स्वरूप बिंदु है और व्यक्त स्वरूप नाद। अव्यक्त रूप में वह गणित के बिंदु के समान है जिसका अस्तित्व तो है पर माप नहीं। इस बात को तो सब जानते हैं कि रेखागणित के सब आकार बिंदुओं की वृद्धि से ही बनते हैं। नाद अथवा इच्छा या मौज का प्रकंपन ही एक बिंदु को अनेक में परिणत कर विश्व-स्रजन का कारण होता है। नाद के प्रकंपन के सिमिट कर बंद हो जाने पर यह समस्त सृष्टि भी सिमट कर बिंदु में समाविष्ट हो जाती है। भीखा को उपदेश देते हुए गुलाल जी ने कहा था—

इच्छा पलक मूदि जब लीन्हा। तब सब प्रलय आपुही कीन्हा।
फिर विस्तार करै जब चाहा। माया दृष्टि खोलि जग लाहा॥*

इसी बात को दादू ने दूसरी तरह से यों कहा है—

एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ।+

यह हमारे यहाँ के प्राचीन सिद्धांतों के अनुकूल जान पड़ता है। भर्तृहरि के वाक्य पदीय के अनुसार भी आद्यंतहीन शब्द तत्व अक्षर ब्रह्म ही अर्थ भाव से विवर्त ग्रहण करता है। इसी से जगत् की प्रक्रिया होती है।× मनु के अनुसार भी भूतों के नाम, रूप और कर्मों का

---

* महात्माओं की बानी, पृ० २०३, 'गुलाल गुल'।

+ बानी, प्रथम, पृ० १६६, १०।

× अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरं।
विवर्तेर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्य पदीय।

प्रवर्तन ये वेद-शब्दों से ही पृथक्-पृथक् रचे गये ।= तैत्तिरीय के अनुसार ब्रह्म के 'भू' उच्चारण करने से ही पृथ्वी की सृष्टि हो गई ।+

ईसाइयों के धर्म ग्रंथों में भी इस सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। मूसा के उत्पत्ति प्रकरण ('जिनेसिस') अध्याय १ में लिखा है—"ईश्वर ने कहा, 'प्रकाश' हो जाय और प्रकाश हो गया।" इत्यादि इत्यादि। यदि इसके साथ-साथ संत योहन की किताब का नीचे लिखा वाक्य पढ़ा जाय तो मेरा अभिप्राय और भी स्पष्ट हो जायगा। 'आरंभ में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था, शब्द ही ईश्वर था। आदि में वह ईश्वर के साथ था। सब वस्तुएँ उसी ने बनायीं। कोई वस्तु ऐसी नहीं बनी जिसे उसनें न बनाया हो, (अध्याय १-१, २, ३) मुसलमानों का यह विश्वास भी कि खुदा के 'कुन' कहते ही सारा विश्व आकाश में झूल पड़ा, इसी सिद्धांत की ओर संकेत करता है। निर्गुण संप्रदाय के सभी संतकवि सारतः नाद और विंदु के सिद्धांत को जिसे वेदांत की शब्दावली में स्फोटवाद कहते हैं, मानने में एकमत हैं, यद्यपि इस विषय का स्पष्ट उल्लेख किसी-ही-किसी की कविता में मिलता है।※ भेद इतना ही है कि और सब संत इन सब बातों को वस्तुतः सत्य मानते हैं परन्तु कबीर आदि अद्वैतवादी संत केवल व्यावहारिक दृष्टि

= नाम रूपं चा भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनं।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।
—मनु, १, २१।

+ सभूरिति व्याहरत्स भूमिमसृजत्।
—तैत्तिरीय ब्रा० २, २, ४, २।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में आगे बढ़ते जाइये। इस भाव का विशेष विस्तार मिलेगा।

※ क० ग्रं० पृ० ६४, १८।

में। पारमार्थिक दृष्टि में उनके लिए उनका अस्तित्व ही नहीं है। परंतु दार्शनिक दृष्टि से फिर भी उनका कम महत्व नहीं है। वस्तुतः वे ही इस सागर से पार होने के लिए उस नौका का काम देते हैं, जिसको राम खेते हैं—

नाद ब्यद की नावरी राम नाम कनिहार।
कह कबीर गुन गाइये गुर गमि उतरै पार॥=

अपनी भूमिका विशेष में—और भूमिकाओं का अन्यत्र वर्णन करेंगे—समस्त सृष्टि प्रणव का शरीर है और प्रणव, समस्त सृष्टि का आत्मा। न इस आत्मा के बिना माया का ही अस्तित्व रह सकता है और न माया के बिना अव्यक्त व्यक्त ही हो सकता है। इस भूमिका में प्रणव, सृष्टि का कर्ता तथा उपादान दोनों एक साथ है, परन्तु यह बात प्रणव ही तक के संबंध में कही जा सकती है। इससे आगे बढ़कर अगर हम यह सोचने लगें कि परमार्थतः परमात्मा जगत् का कर्ता है तो यह द्वैत भावना के आगे सिर झुकाने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है, जो कबीर आदिकों को अभीष्ट नहीं। उनके मतानुसार तो मनुष्य कुछ करता धरता ही नहीं है। यह तो केवल कहने-सुनने की बातें हैं कि परमात्मा ने जगत् की रचना की है। स्वयं कबीर के शब्दों में—

कहन सुनन को जिहि जग कीन्हा।
जग भुलान सो किनहुन चीन्हा॥✻

ते तौ आहि निरंजना आदि अनादि न आन।
कहन सुनन को कीन्ह जग आपै आप भुलान॥+

अतएव परमात्मा का विवर्त रूप में नीचे उतरना ही दृश्य जगत् का

= क० ग्र०, पृ० ६४, १८।

✻ क० ग्र०, पृ० २२५।

+ वही, पृ० २२७।

कारण है। जैसा हम देख चुके हैं, ब्रह्म का प्रथम विवर्त प्रणव, ॐ अथवा शब्द ब्रह्म है। यहाँ से और नीचे उतरकर पंच तत्व मन, चित्त, अहंकार, के द्वारा हम शरीर और जड़ जगत् तक पहुँचते हैं। दादूदयाल के शब्दों में—

पहली कीया आप थै उत्पत्ती ॐ कार।
ॐ कार थै उपजै पंच तत्त आकार॥
पंच तत्त थै घट भया, बहु विध सब विस्तार।
दादू घट तै ऊपजे, मैं तै बरण विचार॥ ×

कबीर ने भी कुछ ऐसा ही कहा है—

ॐ कारे जग ऊपजे बीकारे जग जाय।÷
एक बिनानी रच्या बिनान; अयान जो आपै जान।
सत रज तम थैं कीन्ही माया; चारि खानि विस्तार उपाया॥
पंच तत्त ले कीन बँधान; पाप पुन्नि मान अभिमान।
अहंकार कीने माया मोहू; संपति विपति दीनि सब कोहू॥=

जहाँ तक मुझे पता है, इन संतों ने बहुधा यह बताने की चेष्टा नहीं की है कि तत्वों की उत्पत्ति किस क्रम से हुई है। परन्तु गुलाल जी ने मुद्राओं का वर्णन करते हुए भीखा जी से पंचतत्वों की उत्पत्ति का बड़ा रोचक वर्णन किया है। उन्होंने कहा, जब परमात्मा ने सृष्टि रचने की इच्छा की तो बिना मिट्टी के काम चलता न देखकर मिट्टी (पृथ्वी) उत्पन्न की। लेकिन मिट्टी के गीले न होने से उसे रूपाकार में ढाला नहीं जा सकता था इसलिए कर्ता ने जल की इच्छा की। अधिक जल मिल जाने से मिट्टी ढीली हो गई जिससे वह किसी एक रूप में ठहर

× सं० बा० सं०, १, पृ० ७७, ७८।
÷ क० ग्रं०, पृ० १२६, १२७।
= वही, पृ० २२६।

न सकी, इसलिए उसको स्थिर करने के लिए गरमी (तेज) की जरूरत हुई जिससे अग्नि पैदा की गई। किन्तु अग्नि प्रज्वलित न होती थी, इसलिए वायु की आवश्यकता हुई। परंतु प्रचंड वायु भी थमी नहीं इसलिए आकाश का निर्माण हुआ जिसमें शब्द और पवन दोनों घुल-मिल गये हैं (आँखों से आकाश और वायु की अलग-अलग पहचान नहीं हो सकती।) आकाश में पाँचों तत्वों का निवास है।*

परंतु दादू के वचन, रचना में किसी भी क्रम को मानने के विरोधी जान पड़ते हैं। उनके अनुसार परमात्मा इतना असमर्थ नहीं है कि उसे एक-एक करके तत्वों की सृष्टि करनी पड़ी हो। उसके शब्द से सारी सृष्टि एकदम उत्पन्न हो गई।+

---

* करता सृष्टि करन जब लागो। तब माटी बिनु काम न जागो॥
इच्छा माटी तेहि छिन आई। मूल पुहुमि मुद्रा समुझाई॥
माटी झूरि पिंड नहि बनई। कियो अकर्षण ते हित भई?॥
जल अधिकार माटि मिहि लाई। दूजे अपि मुद्रा कहवाई॥
माटी ढील पिंड नहि बनै। हरि की मौज तेज तब गनै॥
तेज प्रवेश पिंड बनि आओ। तीजे मुद्रा तेज कहाओ॥
अग्नि प्रज्वलित होय नहि ऐसे। मन बुझि उठो पवन तब तैसे॥
भयो प्रकाश पवन सँग लहियो। चौथे वायु मुद्रा सो कहियो॥
वायु अपर्बल थामि न जाई। मौजे मौजि अकाश बनाई॥
शब्द पवन तहँ मिश्रित भयऊ। पँचये अकाश मुद्रा सो लयऊ॥
पाँचों बसै अकाशे माहीं। भिन्न-भिन्न स्थान के माही॥
भीखा मुद्रा यहि विधि भयऊ। धारन तेहि जिन आगे लयऊ॥
—म० बा० पृ० १९२।

\+ एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ।
आगै पीछै तो करे जें बलहीणा होइ॥
—बानी, १ म पृ०, १९८, १०।

इस प्रकार ब्रह्म से प्रणव, प्रणव से महत्तत्व, वहाँ से मन, अहंकार आदि विवर्त होते जाते हैं। प्रत्येक नीचे भूमिका पर उतरने पर नये बंधन जकड़ते चलते हैं और माया के आवरणों की तह मोटी होती चली जाती है; यहाँ तक कि अंत में मूल वस्तु ही हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है। माया के इस स्थूल आवरण को भेद कर वहाँ तक पहुँचने में हमारी दृष्टि असमर्थ हो जाती है। परंतु मूलतत्व तो उसके अंदर रहता ही है। हमारी वास्तविकता अभी भी नष्ट नहीं हुई है। अगर कहें तो कबीर के शब्दों में कह सकते हैं, 'आपै आप भुलान'। हम अपने भुलावे में आप ही पड़ गये हैं। इस प्रकार एक तरह से यह जगत् हमारी ही इच्छा का फल है, अपनी ही इस लीला को भूलकर अब हम इस भ्रम में पड़े हुए हैं। उस प्रारंभिक क्रीड़ापूर्ण इच्छा ने अब मन का रूप धारण कर लिया है। इसी से कह सकते हैं कि यह जगत् हमारे ही मन की परछाईं है। इसीलिए कबीर ने कहा था—

जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा। ताकूं तैसा कीन उपावा ॥*

सुंदरदास भी कहते हैं—सुंदर यह सफल दीसै मन ही के भ्रम, मन ही के भ्रम गये ब्रह्म होइ जात है।+ हम अपनी आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ाये हुए हैं जिससे मूल वस्तु का यथातथ्य रूप दृष्टिगत नहीं होता, बल्कि उसका अवास्तविक रँगा हुआ चित्र हमारे सामने खड़ा हो जाता है जिसे हम भूल से सच समझने लगते हैं। ये रँगे हुए आवरण सब झूठे हैं जैसा दादू ने कहा है ऊँकार भी सत्य परमतत्व नहीं है।—

आदि सबद ओंकार है, बोलै सब घट माहि।
दादू माया विस्तरी, परम तत्त यह नाहि ॥=

---

* क० ग्रं०, पृ० २२७।

+ सुन्दर विलास, अंग ११, २५।

= बानी, प्र०, प० २००, १२।

अपने आपको इन आवरणों में छिपाकर हम अपने आप भूले हुए हैं—आपै आप भुलान।× कबीर ने स्थिति को और भी स्पष्ट करने के लिए कहा है—

झूठे झूठ बियापिया (कबीर), अलख न लखई कोइ।
झूठनि झूठ साँच करि जाना, झूठनि मैं सब साँच लुकाना॥÷

झूठ में छिपे हुए इस सत्य का, असत्य के आवरण में छिपे हुए इस सत्य का अनुभव करना, ढूँढ निकालना ही निर्गुण संतों का परमोद्देश्य है। अनुभव की इस ऊँचाई पर पहुँचने पर व्यक्त जगत् का सारा महत्व विलीन हो जाता है, द्रष्टा को वह एक बीते हुए स्वप्न की भाँति भान होने लगता है। उसकी अस्थिरता उसे स्पष्ट हो जाती है, वह अनुभव करने लगता है।

साँच सोइ जो थिरह रहाई। उपजे बिनसै झूठ ह्वै जाई॥△

इसी अनुभूति ने कबीर से कहलाया था—

साधो एक आप जग नाहीं।

दूजा करम भरम है किरतिम, ज्यों दरपन में छाहीं।+

संसार में एक के अतिरिक्त और सब दर्पण में की परछाईं की तरह कृत्रिम है। लेकिन जो कृत्रिम है वह भी अधिष्ठान (मूल वस्तु) की सहज सत्ता को छीन नहीं सकता—

दरियाव की लहर दरियाव है जी दरियाव और लहर में भिन्न कोयम्?
उठो तो नीर है बैठो तो नीर है कहो दूसरा किस तरह होयम्?

× क० ग्रं०, पृ० २२७।
÷ वही, पृ० २२६।
△ वही पृ० २३२।
+ क० श०, १, पृ० ६६।

उसी नाम को फेर के लहर धरा लहर के कहे क्या नीर खोयम् ?
जगत ही को फेरि सब जगत और ब्रह्म में ज्ञान करि देखि कबीर गोयम् ? ❀

भीखा ने भी कहा है—

नाम एक सोन आस गहना द्वैत भास ।+

अव्यक्त नित्य एकरस रहता है यद्यपि व्यक्त में सतत परिवर्तन दिखाई देता है। नाम और रूप का उदय अव्यक्त ही से होता है और अव्यक्त ही में वे लीन हो जाते हैं। सुन्दरदास स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

सुन्दर जाने ब्रह्म में ब्रह्म जगत द्वै नाहिं ।=

इस प्रकार धीरे-धीरे अपने अद्वैतवाद के द्वारा वे आदर्शवादी सर्वात्मवाद के उस उच्चतम शिखर पर पहुँच जाते हैं जहाँ जाकर सब कुछ ब्रह्म ही हो जाता है। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' कहने में वे भी छांदोग्योपनिषत् का साथ देते हैं। सुन्दरदास के शब्दों में—

ब्रह्म निरीह निरामय निगुण नीति निरंजन और न भासै ।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध, बाहर भीतर ब्रह्म प्रकाशै ।।
ब्रह्महि सूछम थूल जहाँ लग, ब्रह्महि साहब ब्रह्महि दासै ।
सुन्दर और कछू मति जानहु ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै ।।×

सब कुछ ब्रह्म तो है पर केवल तत्वतः उस रूप में नहीं जिस रूप में वह दिखाई देता है, क्योंकि जो कुछ दिखाई देता है मायाकृत है, मिथ्या है।

कबीर आदि विवर्तवादियों ने जिस दृश्य जगत् को केवल व्यावहारिक रूप में सत्य माना है उसे हमारे अन्य संत कवि वस्तुतः सत्य

❀ क० श०, ४, पृ० ८९ ९० ।
+ सं० बा० सं०, २, पृ० २१३ ।
= वही, १, पृ० १०८ ।
× सुन्दर विलास

मानते हैं। उनके लिए विवर्त, विवर्त न होकर विकास है। उनके अनुसार सृष्टिरचना-क्रम केवल कहने-सुनने भर का नहीं, वास्तविक है। जड़ जगत् भ्रम मात्र नहीं, त्रिगुण पंचतत्व, पच्चीस प्रकृति आदि की व्यावहारिक सत्ता ही नहीं, वास्तविक अस्तित्व है, जैसा सांख्यशास्त्र में माना गया है। वे यथानियम उदय और नष्ट होते हैं। हाँ, इन नियमों का उन्होंने स्पष्ट वर्णन नहीं किया है। एक स्थान पर शिवदयाल जी ने तत्वों की उत्पत्ति निम्नलिखित क्रम से मानी है—आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथ्वी। प्रत्येक नवीन तत्व का उदय उन्होंने पुराने तत्व से माना है। यह ठीक तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुकूल है जिसमें लिखा है, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्य. पृथिवी।* प्रलय का वर्णन करते हुए शिवदयाल जी ने इससे उलटे क्रम से स्थूल का सूक्ष्म में लीन होता जाना कहा है—

> पृथ्वी घेली जल ने आय। जल को सोखा अगिनी धाय ॥
> अगिनी मिली पवन के रूप। पवन हुई आकाश स्वरूप ॥
> आकाश समाना माया माहिं। तम रूपा दीसे कुछ भी नाहिं ॥+

इन लोगों के अनुसार भी विभु की लीलामयी इच्छा ही सृष्टि का मूल कारण है और माया का सूक्ष्मतम रूप है। शिवदयाल जी के शिष्य रायसाहिब शालिग्राम ने कहा है—मौज उठी रचना भई भारी।× नानक कहते हैं कि परमात्मा ने जगत् की रचना स्वयं की और स्वयं सृष्टि-पदार्थों का नामकरण किया। अपनी कुदरत (माया) से इस द्वैत सृष्टि को बनाकर वे आनंद से उसे देखने लगे—

---

* तैत्तिरीय, २, १।

+ सारवचन, २, पृ० ३४।

× प्रेमवानी, पृ० ५४, २।

आपिनै आपि साजियो, आपिनै रचिओ नाऊँ ।
दुइ कुदरति साजिओ, करि आसन दिठो चाउ ॥*

इससे पता चलता है कि नानक भी परमात्मा की आनंदेच्छा को ही सृष्टि-सृजन का मूल कारण मानते हैं जो 'एकोऽहं बहु स्याम' में निहित है।

इन संतों की दृष्टि में भी माया मिथ्या है परन्तु सर्वथा अभाव अथवा अनस्तित्व के अर्थ में मिथ्या नहीं जैसा विवर्तवादी अद्वैतियों की दृष्टि में होता, परन्तु परिवर्तनशील और नाशवान् होने के अर्थ में। नहीं तो माया का वास्तविक अस्तित्व है, सृष्टि नाशवान् है सही, पर उसे अनस्ति नहीं कह सकते। इसी से नानक ने जहाँ एक ओर कहा है—

जो कुछ दीसै सकल बिनासै ज्यों बादल की छाही।
जन् नानक यह जग झूठा रहौ राम सरनाही ॥+

तथा—

न सूर ससि मंडलो। न सपत दीप नह जलो।
अन्न पवण थिर न कुई। एक तुई एक तुई ॥
—ग्रं० पृ० ७७।

वहाँ दूसरी ओर यह भी कहा है—

साँचे तेरे खंड, साँचे ब्रह्मंड, साँचे लोऊ, साँचे आकार।×

इसलिए गुरु अंगद ने पंच तत्वों का भी बड़े आदर से उल्लेख किया है—

पवण गुरू पाणी पिता, माता धरनि महत्तु।
दिन सु राति दुइ दाइ दाया, खेलै सगल जगत्तु ॥
—ग्रंथ पृ० ७८।

---

* ग्रन्थ, पृ० २५१।

+ सं० बा० सं०, २, पृ० ५४।

× ग्रन्थ, पृ० २५।

परन्तु इन वास्तव-वादियों की विचार-परम्परा में साम्य का यहीं पर अन्त हो जाता है। यहाँ पर से इनमें दो अलग-अलग दृष्टिकोण हो जाते हैं ; क्योंकि 'जगत का उपादान कारण क्या है ?' इस प्रश्न को लेकर उनमें मतभेद है। भेदा-भेदी नानक सर्वात्मवाद की ओर अधिक झुके हुए हैं। अतएव उनके अनुसार परमात्मा सृष्टि का कर्ता और उपादान दोनों है—

आपे पवन पाणी वैसतरु आपे मेलि मिलाई हो।*

आपिनैं आपि साजिओ वाला, जो पद्य ऊपर उद्धृत किया गया है, उसमें भी नानक ने यह बात स्पष्टरूप से कह दी है कि वह अपने आप में से आपही सृष्टि की रचना करता है। स्थूलता की ओर विकसित होता हुआ परमात्मा स्वतः इस सृष्टि के रूप में परिणत हो जाता है यद्यपि वह अपने वास्तविक स्वरूप को भी नहीं छोड़ता है।

विशिष्टाद्वैती शिवदयाल जगत् के उपादान को परमात्मा (राधास्वामी) से भिन्न मानते हैं। सृष्टि का मूल बीज जिसे हम माया कह सकते हैं, परमात्मा और सुरत (जीवात्मा) की ही भाँति नित्य है, उसका रूप बदल सकता है, वह नष्ट नहीं हो सकती। माया के दो रूप होते हैं शुद्ध अथवा सूक्ष्म और प्रबल अथवा स्थूल। शुद्ध रूप में मालिक की शक्ति उसे इतना सूक्ष्म तथा शुद्ध बना देती है कि वह भी सत्य लोक में निवास कर सकती है, जहाँ प्रलय की पहुँच नहीं। सत्य लोक तक राधास्वामी का शुद्ध रूप है (देखो पीछे पृ० ११४) उसके ऊपर माया नहीं जा सकती। सब वस्तुओं का पवित्र आदि स्रोत राधास्वामी माया रहित हैं—

'स्रोत पोत में माया नाही !' +

---

* ग्रन्थ, पृ० ५५१।

+ सार वचन, १. पृ० २८७।

'तब रहे आप अनाम अमाया। अपने में रहे आप समाया ।।' *

माया का शुद्ध रूप निष्क्रिय होता है परंतु फिर जब मौज की लहर उठती है तो माया प्रबल रूप धारण करने लगती है और उससे नाना प्रकार की सृष्टि का निर्माण होता है। परन्तु राधास्वामी स्वयं सृष्टि का निर्माण नहीं करते। उनकी खाली मौज ही होती है। सृष्टि-निर्माण का वास्तविक कार्य तो उनकी मौज होने पर निरंजन करता है जो निस्सीम शक्ति के धाम, दयाल देश से बहुत नीचे है। अथवा यह पहले बताया जा चुका है कि निरंजन के ऊपर बहुत से धनी हैं जिनके नाम क्रमशः नीचे से ऊपर को हैं—ब्रह्म, परब्रह्म, सोहंग (सोहम्) पुरुष, सत्य पुरुष, अलख पुरुष, अगम पुरुष, (अनामी पुरुष) और राधास्वामी। इन विभिन्न धनियों के लोकों की भावना अत्यंत रोचक है। राधास्वामी धाम से लेकर अलख लोक तक माया का निवास नहीं है। सत्यलोक में शुद्ध रूप में माया का निवास है, वहाँ से क्रमशः बढ़ते-बढ़ते वह निरंजन लोक में पहुँच कर अत्यंत स्थूल हो जाती है। नीचे के लोकों का विस्तार क्रमशः घटता जाता है और उनमें स्थूलता बढ़ती जाती है। नीचे के लोक अपने अस्तित्व के लिए ऊपर के लोकों पर अवलंबित हैं। यद्यपि अपनी मात्रा की स्थूलता पर उसी लोक के धनी का स्वाधीन शासन है फिर भी सूक्ष्म शासन में ऊपर के लोकों का भी हाथ है। नीचे के लोक क्रमशः ऊपर के लोकों के घेरे में हैं, क्योंकि बिना सूक्ष्म चेतन तत्व के माया भी नहीं रह सकती। हुज़ूर साहब शालिग्राम जी ने अपनी अँगरेजी पुस्तक राधास्वामी मत प्रकाश के अंतिम आवरण पृष्ठ पर इस भाव को एक चित्र (diagram) के द्वारा प्रदर्शित किया है। एक बड़ा सा वृत्त खींचो उसके भीतर क्रमशः छोटे और कई वृत्त इस तरह से खींचो कि उनके केन्द्र एक ही व्यासार्द्ध में पड़ें और भीतर के सब वृत्तों को

---

* सार वचन, पृ० २२२।

परिधियाँ बाहर के वृत्त की परिधि को एक ही स्थान पर छुवें। सबसे बड़े वृत्त के बाहर दयाल देश (राधास्वामी धाम) है और भीतर के वृत्त क्रमशः नीचे के लोकों की सीमा हैं। जो भाव नादबिंदु-युक्त शब्द ब्रह्म में अथवा यूनानी 'लोगोस' में है उसी का विस्तार निरंजन से लेकर सत्य पुरुष तक हुआ है और पूर्ण ब्रह्म-भावना का विस्तार उनसे ऊपर के तीन-चार धनियों के रूप में। इस विस्तार का कारण शिवदयाल जी की अत्यंत 'पर' प्रवृत्ति है जिसका वर्णन 'परात्पर' नामक स्तंभ में पहले किया जा चुका है। यदि इस पर प्रवृत्ति की ओर ध्यान न दें तो यह कबीर आदि अद्वैतियों के सूक्ष्म विवर्तवाद का स्थूलरूप मात्र जान पड़ेगा। तुलसी साहब के अनुसार भी जीव तो पुरुष का अंश है, किन्तु स्थूल मायिक जगत् की सृष्टि निराकार निरंजन करता है।+

बाबालाल भी इस बात में शिवदयाल जी से सहमत जान पड़ते हैं कि कर्ता और प्रकृति माया में अंतर है और दोनों नित्य हैं। प्रकृति और सृष्टि-पदार्थों में क्या अंतर है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने दारा-शिकोह से कहा था "कुछ तो बीज और वृक्ष से उनकी तुलना करते हैं। बीज और वृक्ष के सारतः एक होने पर भी उनकी एक सी सत्ता नहीं है। समुद्र और तरंग से भी उनकी तुलना की जा सकती है। समुद्र के बिना तरंग नहीं उठ सकती, परन्तु तरंग के बिना भी समुद्र रह सकता है. तरङ्गों के उठने के लिए वायु का झोंका आवश्यक है। इसी प्रकार प्रकृति और सृष्टि भी सारतः एक हैं। फिर भी प्रकृति से सृष्टि का विकास, बिना किसी कारण के, बिना कर्ता के हस्तक्षेप

× जीव तो अंस पुरुष से माया। निराकार रचि कीन्ही काया॥
जोति सरूप तेज उपजाया। यो जग माहि प्रगट भइ माया॥
—"रत्नसागर", पृ० १५८।

के नहीं हो सकता।"* इससे स्पष्ट है कि कर्ता माया से भिन्न है और उसको सूक्ष्म से स्थूल में बदल देने का कारण है। शिवदयालजी की पर-प्रवृत्ति को छोड़कर बाबालाल और उनके मत में विशेष कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। सभी संत जिन्होंने दर्शन का उतना ध्यान नहीं दिया और केवल भक्ति और आत्मनिवेदन में लगे रहे, इसी श्रेणी में आवेंगे।

इस प्रकार निर्गुण संत-संप्रदाय में तीन प्रकार का दार्शनिक मत दिखाई देता है जिन्हें मैंने वेदांत की शब्दावली का व्यवहार कर अद्वैत भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत के नाम से पुकारा है। इनके भेद को स्पष्ट करने के लिए उसे दूसरे ढंग से भी प्रदर्शित किया जा सकता है। सामान्यतया समस्त संत-समुदाय इस बात को मानता है कि सर्व शक्तिमान परमेश्वर परमात्मा इस जगत् का कर्ता-धर्ता-संहर्ता है। समस्त सृष्टि उसी में उदय होकर उसी में समा जाती है। वह सबमें व्याप्त होकर रहता है। जीवात्मा का उद्धार उसी की दया पर निर्भर है। अद्वैती लोग जो जीवात्मा और परमात्मा में पूर्णाद्वैत भाव मानते हैं वे इन सब बातों को केवल व्यावहारिक रूप में सत्य मानते हैं, परमार्थतः नहीं, किंतु विशिष्टाद्वैतियों और भेदाभेदियों के अनुसार ये वस्तुतः सत्य हैं। इन दोनों मतोंवाले मानते हैं कि परमात्मा का अंश-स्वरूप होने के कारण आत्मा भी एक प्रकार से परमात्मा ही है। भेदाभेदियों के अनुसार तो यह अंश अंत में अपनी भेद सत्ता को अभेदरूप से परमात्मा में लय कर देता है; किंतु विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार पूर्ण और अंश में यह भेद शाश्वत् है। शिवदयाल और अन्य विशिष्टाद्वैतियों में सृष्टि रचना को लेकर थोड़ा सा मतभेद है। दोनों के अनुसार इस सृष्टि का सृजन परमात्मा की इच्छा अथवा मौज से होता है। परन्तु शिवदयाल के

* विल्सन—"हिन्दू रिलीजस सेक्ट्स", पृ० ३५०।

अनुसार राधास्वामी की केवल मौज होती है, रचना का वास्तविक कार्य निर्गुण अथवा निरंजन करता है जो दया के धाम राधास्वामी से बहुत नीचे रहता है परन्तु इस भेद का कोई दार्शनिक महत्व नहीं है। सृष्टि-संबंधी इन दार्शनिक सिद्धांतों और अँगरेजी दार्शनिक शब्दावली में हम अद्वैतियों, भेदाभेदियों और विशिष्टाद्वैतियों को क्रमशः एकास्मिस्ट्स (विवर्तवादी), पैनेनथीस्ट्स (सर्वात्म विकासवादी) और इवल्यूशनल डाई थेस्टिस्ट्स (मात्र विभुवादी) कह सकते हैं।

आत्मा परमात्मा और जड़ जगत् के बीच का यह सम्बन्ध अद्वैतवादी कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में अच्छी तरह दर्शाया गया है—

माया सगुण अगुण लखाया, आप आप दर्शाया।
बीज मध्ये ज्यों वृच्छा दरसै, वृच्छा मध्ये छाया।
परमातम में आतम दरसै, आतम मध्ये माया॥
ज्यों नभ मध्ये सुन्न देखिये, सुन्न अंड अकारा।
निःअच्छर ते अच्छर तैसे, अच्छर छर विस्तारा॥
ज्यों रवि मध्ये किरण देखिये अर्थ सब्द के माहीं।
ब्रह्म ते जीव, जीव ते मन इमि न्यारा मिला सदा ही॥

शिवदयाल आदि विशिष्टाद्वैतियों तथा नानक आदि भेदाभेदियों के लिए ये दृष्टांत वास्तविक अर्थ में सही हैं। परन्तु भेदाभेदी यहीं पर नहीं रुक जायँगे, अद्वैतियों का साथ देते हुए वे भी आगे बढ़कर कहेंगे—

आपुहि बीज वृच्छ पुनि आपुहि, आप फूल फल छाया।
आपुहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिव माया॥
अंडाकार सुन्न नभ आपै, स्वास सबद अरथाया।
निःअच्छर अच्छर छर आपै, मन जिव ब्रह्म समाया॥
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाईं।
झाईं मे परछाईं दरसै, लखै कबीरा साईं॥

भेद इतना ही है कि अद्वैती माया को भ्रम मात्र मानते हैं, जिसका

अस्तित्व नहीं, जब कि भेदाभेदी उसका वास्तविक अस्तित्व मानते हैं।

संक्षेप में, विशिष्टाद्वैती को सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होता है। क्योंकि उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु की अवस्थिति परमात्मा में और परमात्मा के कारण है और भेदाभेदियों तथा अद्वैतवादियों को इसलिए कि परमात्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु पिछले इन दो मतों में इतना अन्तर है कि भेदाभेदी तो दृश्य जगत् को परमात्मा का व्यक्त रूप मानते हैं और अद्वैतवादी उसे केवल ब्रह्म के ऊपर आरोप बताकर उसका सर्वथा अनस्तित्व मानते हैं।

कबीर, दादू, और सुंदरदास आदि उनके शिष्य, मलूकदास, यारी और उनकी परंपरा, जगजीवनदास, भीखा, पलटू, गुलाल ये सब अद्वैती और विवर्तवादी हैं; नानक और उनके शिष्य भेदाभेदी और सर्वात्म-विकासवादी हैं तथा शिवदयाल, तुलसीसाहब, शिवनारायण, चरनदास, बुल्लेशाह, बाबालाल, दोनों दरिया, प्राणनाथ और दीन दरवेश विशिष्टाद्वैती जान पड़ते हैं।

यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि निरा सिद्धांत भी ब्रह्म का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। क्योंकि सिद्धांत का आधार भी बुद्धिवाद ही है, किंतु ब्रह्म के सम्बन्ध में बुद्धिवाद

७. सहज ज्ञान

बेकाम हो जाता है। जहाँ कहीं दर्शनशास्त्र ब्रह्मानुभूति के निकट पहुँचता है वहीं तर्क का साथ छूट जाता है। वस्तुतः दूसरे सिद्धांतों की तार्किक भ्रांतियों को दूर करने के उद्देश्य से ही एक के बाद एक दर्शन का उदय होता है। परन्तु अभी तक कोई ऐसी दार्शनिक योजना नहीं निकली है जो सर्वांश में तर्कसंगत हो। ऐसी कोई योजना निकल भी नहीं सकती। 'कबीर ने ठीक ही कहा है कि

दर्शन की वहाँ तक पहुँच हो ही नहीं सकती।* वस्तुतः जब तक दर्शन-शास्त्र बुद्धिवाद ही के आसरे किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न करते रहेंगे तब तक उन्हें ऐसी पहेलियों का घर बना रहना पड़ेगा जिनको सुलझाने का उनके पास कोई उपाय नहीं है। असल में बात यह है कि बुद्धि का उस प्रयोजन से निर्माण हुआ ही नहीं है जिसके लिए सिद्धांतवादी उसका प्रयोग करना चाहते हैं।

परन्तु मन और बुद्धि के परे एक और शक्ति है जिसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन द्रष्टा ऋषि और वेदांती इस शक्ति अथवा वृत्ति के अस्तित्व की घोषणा कब से करते आ रहे हैं। इसे वे साक्षात् ज्ञान, अनुभव-ज्ञान अथवा अपरोक्षानुभूति कहते हैं। संभवतः 'गीता' का दिव्य-चक्षु भी वही है।+ मुंडक के अनुसार निष्कल ब्रह्म न आँखों से, न वचनों से, न तप से और न कर्म से गृहीत होता है। विशुद्ध सत्त्व धीर व्यक्ति उसे ज्ञान के प्रसाद से साक्षात् देखते हैं।× ऋग्वेद के अनुसार—सदा पश्यंति सूरयः।= के आधार पर 'दर्शन' का 'दर्शन' नाम पड़ा है। 'दर्शन' परमात्मा के दर्शन कराता है, उसे अनुभूति-पथ में ले आता है, उसे केवल बुद्धि के सहारे समझाता नहीं है।

बुद्धि के क्षेत्र को नीचे छोड़कर निर्गुणी संत भी अनुभूति के इसी

---

* रवींद्र—"हंड्रेड सौंग्स", १००

+ दिव्यम् चक्षु. गीता, ११, ८।

× न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।
—मुण्डक, ३, १, ८।

परिपश्यंति धीराः, वही १, १, ६।

= सदा पश्यति सूरयः। ऋग्वेद १, २२।

राज्य में प्रविष्ट होने का दावा करता है जहाँ उसे एक मात्र परम सत्ता का साक्षात्कार होता है। अगर टेनीसन की एक पंक्ति को उद्धृत करें तो कह सकते हैं—"स्थिर सूक्ष्म सत् गंभीर तत्वों की उसे संवेदना हुई है।"× बिना इस अनुभूति-ज्ञान के दर्शनशास्त्र एक विवाद मात्र है। परन्तु जैसा सुन्दरदास ने कहा है—"जाके अनुभव ज्ञान, वाद में न बह्यो है।"= दूसरों से सुनकर हमें यह विदित हो सकता है कि परमात्मा हमारे भीतर निवास करता है। परन्तु यदि हमें इस तथ्य का वास्तविक अनुभव नहीं तो इस वाचनिक ज्ञान से हमारा लाभ ही क्या हो सकता है?÷ सार वस्तु अनुभव है जो हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब स्थूल बुद्धि से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति के राज्य में हमारा प्रवेश हो। तभी हमें स्वानुभव से मालूम हो सकता है कि वस्तुतः हमारे ही भीतर ब्रह्म की सत्ता है। इसी को निर्गुणी संत सहज ज्ञान कहते हैं जिसकी ऊँचाई तक चढ़ जाना उन्होंने आवश्यक बताया है, कबीर कहते हैं—

हस्ती चढ़िया ज्ञान का सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है, पड़्या भुँसै झख मारि॥※

दादू ने भी कहा है—

दादू सरवर सहज का तामें प्रेम तरंग।
तहँ मन झूले आतमा, अपने साईं संग॥+

दादू के शब्दों में सहज बिना आँखों के बिना अंग वाले ब्रह्म को

× दि स्टिल सिरीन ऐब्स्ट्रैक्शन्स, ही हैथ फेल्ट—"दि मिस्टिक।"

= सुन्दरविलास, १६०।

÷ ऊपर की मोहि बात न भावै, देखे गावै तो सुख पावै।
—क० ग्रं०, पृ० १६२, २१८।

※ क० ग्रं० पृ० ५६ पाद १५।

+ बानी (ज्ञान सागर) पृ० ४२, ७०।

देखना, उससे बिना जिह्वा के बातें करना बिना कान के उसकी बातें सुनना और बिना चित्र के उसका चिंतन करना है।=

द्रष्टा अथवा ज्ञानी अपने इस अनुभव को नपी-तुली भाषा में नहीं प्रकट कर सकता और न शेष जगत् उसे समझ ही सकता है। इसी से वह रहस्यपूर्ण हो गया है। जो लोग इस अद्भूत वृत्ति अथवा ज्ञान-शक्ति का विकास नहीं कर पाते उन्हें यह रहस्यात्मकता उसके सम्बन्ध में संदेह में डाल देती है। उन्हें विश्वास नहीं होता कि कोई ऐसी भी शक्ति है जिसके द्वारा ब्रह्म-ज्ञान हो सकता है। इन संतों का भी ऐसे अविश्वासियों से पाला पड़ा था। ऐसे ही लोगों से घिरे होने के कारण कबीर को कहना पड़ा था—'दीठा है तो कस कहूं, कह्या न को पतियाइ।÷ ऐसे लोगों से इस अनुभव-ज्ञान का वर्णन करना वैसा ही है जैसा उलूकों से यह कहना कि दिन भर सूर्य प्रकाशमान रहता है; उन्हें कैसे विश्वास हो सकता है। यही बात बतलाने के लिए तुलसी साहब ने उल्लुओं की एक सभा का उल्लेख किया है।

> तामें एक घूघर उठि बोला। दिन को सूरज उगै अतोला॥
> सब सुनि बात अचंभा कीना। सुनकर कोइ न हुंकारी दीन्हा॥×

परंतु यदि उल्लू सूर्य की सत्ता को न माने तो क्या सूर्य का अस्तित्व

= नैन बिन देखिबा अग, बिन पेखिबा,
रसन बिन बोलिबा ब्रह्म सेती।
स्रवन बिन सुणिबा, चरण बिन चालिबा,
चित्त बिन चित्यवा सहज एती।
बानी, १ भ, पृ० ६६ १६४।

÷ क० ग्रं०. पृ० १७।

× घट रामायण, पृ० ३७६।

ही मिट जायगा। नोलूकोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणं (भर्तृहरि)।

इसके अतिरिक्त दैनिक व्यवहार में भी कई बातें ऐसी होती हैं जिन्हें बिना प्रमाण कही-सुनी बातों के आधार पर ही हम सत्य मान लेते हैं। तब हमें क्या अधिकार है कि हम उन द्रष्टाओं का 'जो स्वानुभव से इन बातों का ज्ञान रखते हैं,= केवल इसलिए अविश्वास कर बैठें कि वे जो कुछ कहते हैं वह हमारी तर्क-बुद्धि की पहुँच के बाहर है, इससे तो यही सिद्ध होता है कि हम उन पर संदेह करने के अधिकारी नहीं।

परन्तु विज्ञान और बुद्धिवाद के इस युग में भी जब आधुनिक दार्शनिकों को किसी समय सहसा प्रकाश की वह धुँधली सी झलक दिखाई दे जाती है जिसे वे फिलासफी अथवा विज्ञान को ज्ञात मन की किसी वृत्ति के द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते, तब उन्हें इस सहज ज्ञान-वृत्ति के अस्तित्व को मानने के लिए बाध्य होना ही पड़ता है। हक्सले का भी कुछ यही हाल था। हक्सले कहते हैं—"मुझे यह काफी स्पष्ट जान पड़ता है कि बुद्धि और चेतना के अतिरिक्त एक और तीसरी चीज़ भी है जिसे मैं अपने दिल या दिमाग में न तो पदार्थ के रूप में देख सकता हूँ न बुद्धि और चेतना के किसी परिवर्तित रूप में—चाहे चेतना की अभिव्यक्ति के साथ भौतिक पदार्थ का कितना ही घनिष्ट संबंध क्यों न हो ?"*

= विलियम जेम्स की शब्दावली में जो वहाँ पहुँच चुके हैं और जानते हैं' (हू हैव बीन दियर ऐंड नो)—वराइटीज ऑव रिलिजस एक्सपीरियंस, पृ० ४२३।

* इट सीम्स टु मी प्रेटी प्लेन दैट दिअर इज़ ए थर्ड थिंग, इन दि यूनिवर्स टु विट, कॉशसनेस, ह्विच इन दि हार्डनेस ऑव माइ हार्ट और हेड, आइ केन्नॉट सी टू बी मैटर ऑर एनी

इस सहज ज्ञानानुभूति के समर्थन में अविश्वासी पश्चिम से एक और अधिक अधिकारपूर्ण स्वर सुनाई दे रहा है। वह स्वर है फरांसीसी तत्वज्ञ बर्गसाँ का "बर्गसाँ के सिद्धांतों की आधारशिला ही सहजानुभूति की प्रणाली है। उनके लिए 'सहजानुभूति के द्वारा किसी तथ्य के अंतरतम में प्रवेश कर जाना ही तत्वान्वेषण है।'+ सहजानुभव वह विवेक पूर्ण सहानुभूति है जिसके द्वारा तत्वान्वेषक अपने आपको ज्ञेय विषयों के अंतरतम में ले जा सकता है, वहीं वह एकमात्र अनुपम सत्ता है जो विचारों द्वारा समझ में नहीं आ सकती। संक्षेप में वास्तविक सत्ता के हृदय के स्पंदन का अनुभव कर लेना तत्वान्वेषण है।"×

यह सहज ज्ञान वृत्ति अथवा अंतर्ज्ञानवृत्ति (इंट्यूशन) जैसा स्वयं शब्द ही से स्पष्ट है प्रत्येक व्यक्ति में सहजात है। वह विचार वृत्ति तथा इंद्रिय ज्ञान के परे तो है परन्तु उसकी प्राप्ति उन्हें कुंठित करने से नहीं होती। उसकी जागर्ति के लिए उनका पूर्ण संस्कार होना आवश्यक है। कबीर की परिभाषा में सहज वृत्ति पाँचों इन्द्रियों का स्पर्श करती हुई उनकी रक्षा करती है जिससे इंद्रियार्थों को त्याग कर परब्रह्म की प्राप्ति सरल हो जाती है।= बर्गसाँ ही की भाँति "निर्गुणी भी बुद्धि को हेय

कन्सीवेबल मॉडिफिकेशन ग्राव ग्राउदर, हाउ एवर इंटिमेटली दि मैनिफेस्टेशन ग्राव दि फिनामेना ग्राय कान्सनेस मे बी कनेक्टेडविद दि फिनोमेनन एज मैटर ऐंड फोर्स—हक्सले के 'साइंस एण्ड मारल्स, से किंग्सलैंड द्वारा उद्धृत, रैशनल मिस्टिसिज्म पृ० १३१-१३२।

\+ इंट्यूटिव मेथड, पृ० ८६।

× जे० एम० स्टेवर्ट—क्रिटिकल एक्सपोजीशन ग्राव् बर्गसा'ज फिलासफी, पृ० ५।

= सहज सहज सब कोउ कहै, सहज न चीन्हे कोइ।
पाँचौ राखै परसती, सहज कहीजै सोइ॥...

बताने के उद्देश्य से सहज ज्ञान को उसके विरोध में खड़ा नहीं करता। वस्तुतः आपेक्षिक बुद्धि से प्राप्त वाह्य ज्ञान को भी वह अपना लेता है जिससे उसे सहज ज्ञान में बार-बार सहायता मिलती है।" हमारे ये संत मध्यकाल के योरोपीय संतों के साथ इस बात में सहमत नहीं हैं कि विचार वृत्ति संवेदना में विकार उत्पन्न कर देती है जिससे सत्तत्व को ग्रहण करने के लिए उसे शुद्ध विचारविहीन रूप में रखना आवश्यक हो जाता है। जिस उन्मनदशा तक पहुँचने का प्रयत्न निर्गुणी संत करता है वह एकांत प्रेम-पुष्ट स्थिर विचार और ध्यान का परिणाम होती है। यह बात ठीक है कि मनोनिग्रह के लिए योग की क्रियाओं का भी सहारा लिया जाता है परन्तु साथ ही ध्यान और चिंतन भी बने रहते हैं; त्याग नहीं दिए जाते। 'ज्ञान' शब्द जो सहजानुभूति के पर्याय के रूप में ग्रहण किया जाता है, उसकी विचारानुयायिता की ओर संकेत करता है। अपनी आलंकारिक बैकुंठयात्रा के लिये कबीर हाथ में प्रेम का कोड़ा लिये हुए सहज की रकाब पर पाँव रख कर विचार-तुरंग पर सवार होता है।❀ कबीर ने स्पष्ट शब्दों में भी कहा है 'रामरतन पाया करत विचारा' और प्रकटे विश्वनाथ जगजीवन मैं पाये करत विचारा।+

जिन सहजै विसियां तजी, सहज कहीजै सोइ।
जिन सहजै हरि जी मिलै सहज कहीजै सोइ॥...
—क० ग्रं०, पृ० ४१-४२।

÷ जे० एम० स्टेवर्ट—क्रिटिकल इक्सपोजीशन ऑव बर्गसाँज फिलासफी प० १६।

❀ अपने विचारि असंवरि कीजै, सहज के पवड़े पाँव जब दीजै।
चलि बैकुंठ तोहि लै तारौ थकहि त प्रेम ताजनै मारौं।
—क० ग्रं०, पृ० ६६, २५।

+ क० ग्रं०, पृ०, ३१५, १६१ और पृ० १७६, २६७।

एक और पद में कहा गया है—आप विचारै ज्ञानी होई।× की प्राप्ति हो जाने पर फिर विचार की आवश्यकता नहीं रहती।= संभवतः शिवदयाल जी ने इसी बात को ध्यान में रखकर कहा है कि परम पद में केवल सत्यनाम है, वहाँ विचार का कोई काम नहीं। और लोगों ने विचार करने से धोखा खाया और सागर को छोड़कर बूंद में समा गये। सहज भाव की प्राप्ति मानसिक व्यापारों के द्वारा उनसे ऊपर उठकर ही हो सकती है—उनका उपयोग कर उनसे ऊपर उठने से, उनका सर्वथा बहिष्कार करने से नहीं। दादू ने इसीलिए विचार को सब व्याधियों की एकमात्र ओषधि कहा है। उनकी सम्मति में करोड़ों आचारी भी एक विचारी की बराबरी नहीं कर सकते। आचार का अनुसरण तो सारा जगत कर सकता है पर विचारी कोई विरला ही हो सकता है।÷ हाँ, पाषंडपूर्ण विचार का त्याग तो अवश्य ही होगा क्योंकि वह आत्मवंचना का ही दूसरा रूप है जो गर्व और घृणा को जन्म देता है।

अब तक ऊपर एक ही अंतर्वृत्ति का उल्लेख हुआ है जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। परन्तु वस्तुतः सहज ज्ञानवृत्ति से नीचे और भी कुछ अंतर्वृत्तियाँ हो सकती हैं। मन की जितनी भूमिकाएँ होती हैं, उतनी ही अंतर्वृत्तियाँ भी होंगी। किसी निचली भूमिका के लिए जो अंतर्वृत्ति अथवा अंतर्ज्ञान है, उससे ऊपर की भूमिका के लिए वह

× क० ग्रं०, पृ० १०२, ४२। ग्रन्थ मे यह पूरा पद नानक प्रथम गुरु के नाम से दिया गया है पृ० ८१।

= अब का कीजै ज्ञान विचारा। निज निरखत गत व्यौहारा।
—क० ग्रं०, पृ० १६४, २६२।

÷ हमरे देश एक सतनाम। वहाँ विचार का कुछ नही काम॥
करि विचार इन धोखा खाया। बुंद माहि यह जाय समाया।
—सार वचन, २य, पृ० ७६।

साधारण वाह्य ज्ञान हो जाता है, जहाँ से फिर ऊपर की भूमिकाओं के रहस्यों को अवगत करने के लिए क्रमशः नवीन अंतर्वृत्तियों की आवश्यकता होगी। यह क्रम तब तक बराबर रहेगा जब तक अंततम वृत्ति अथवा सहजज्ञान के द्वारा परम तत्व, निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता। कबीर के नाम से प्रचलित एक दोहे में जो कबीर का नहीं जान पड़ता, सात सुरतियों का उल्लेख है,* जिससे सात अंत-वृंतियों की सूचना मिलती है। सुरति का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

दादू ने तीन दृष्टियों का उल्लेख किया है जिन्हें उन्होंने चर्मदृष्टि, आत्मदृष्टि और ब्रह्मदृष्टि कहा है।+ इन्हें योग की दृष्टियों (नासाग्र दृष्टि तथा भ्रूमध्य दृष्टि) के साथ नहीं गड़बड़ाना चाहिए। योगाभ्यास की दृष्टियाँ न होकर ये ज्ञान-भूमिका सूचक दृष्टियाँ हैं। चर्म दृष्टि का संबंध भौतिक जगत से है (विचारपूर्ण चक्षुज्ञान से उसका अभिप्राय है, जैसा पशुओं में संभव नहीं), आत्मदृष्टि का शब्दब्रह्म से और ब्रह्मदृष्टि का निर्गुणब्रह्म से। यही ब्रह्मदृष्टि सहज ज्ञान अथवा अपरोक्षानुभूति है। किंग्सलैंड के अनुसार मन अथवा जीवन की भौतिक (फिज़िकल)

---

* सात सुरति के बाहर, सो सोरह संख के पार।
तहँ समरथ को बैठका, हंसन केर अधार।। ६५८।
—क० व०, पृ ६६।

दादू सबही व्याधि की औषधि एक विचार।
समझे थैं सुख पाइये, कोइ कुछ कहै गँवार।।
कोटि अचारी एक विचारी, तउन सरभरि होइ।
आचारी सब जग भरया, विचारी बिरला कोइ।।

+ देखिये पाद टिप्पणी सं० १ पिछला पृ० ११०।

यौन्द्रिक (साइकिक्ल), मानसिक (मेंटल) और आध्यात्मिक (स्पिरिचुअल), ये चार भूमिकाएँ हैं जिनका अगले अध्याय में यथास्थान वर्णन होगा। इसके अनुसार भी तीन ही दृष्टियाँ अथवा अंतर्वृत्तियाँ ठहरती हैं। क्योंकि सबसे निचली भूमिका की साधारण ज्ञान-दृष्टि किसी भी भूमिका की अतर्ज्ञानदृष्टि का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। दादूदयाल ने जिसे 'चर्म दृष्टि' कहा है, वह यौन्द्रिक ज्ञान ही है जो निरे पशु के लिए अप्राप्य है। निर्गुणियों का सहजज्ञान अथवा ब्रह्मदृष्टि और संभवतः बर्गसां की अंतर्वृत्ति (इंटयूशन) और हक्सले की तीसरी चीज (थर्ड थिंग) भी वह परम ज्ञान है जिसके द्वारा परमतत्व की स्वानुभूति होती है।

निर्गुणी संतों के तात्त्विक सिद्धांतों और उपनिषदों की विचारधारा में बहुत स्पष्ट साम्य है। निर्गुणी संतों के तात्त्विक सिद्धांतों का वर्णन करते हुए महत्वपूर्ण स्थलों पर मैंने उपनिषदों की समान भावोंवाली उक्तियाँ उद्धृत की हैं। जिसका उपनिषदों और तत्संबंधी साहित्य से कुछ भी परिचय हो, उसे इन संतों के सिद्धांतों और उपदेशों पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देने में देर न लगेगी।

८. उपनिषद्; मूल स्रोत

कबीर आदिकों के सिद्धांतों का सक्षेप यों किया जा सकता है—सबके हृदय में परमात्मा का निवास है। उसे बाहर न ढूँढकर भीतर ढूँढना चाहिए। आत्मा ही परमात्मा है, दोनों में एकत्व भाव है। इस प्रकार प्रत्येक जीव परमात्मा है। यही नहीं एक अर्थ में जो कुछ है सब परमात्मा है। अन्य संतों के भी जैसा हम पीछे देख चुके हैं। थोड़े से अंतर के साथ यही सिद्धांत हैं। परंतु ये वस्तुतः अविकल रूप से उपनिषदों के सिद्धांत हैं।

तत्ववित् प्रोफेसर रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे ने अपने अँगरेजी ग्रंथ "कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलॉसफी" में उपनिषदों के

सिद्धांतों का क्रमविकास दिखलाने का उद्योग किया है। उससे पता चलता है कि उपनिषदों के द्रष्टाओं ने भी अपना आध्यात्मिक अन्वेषण उसी प्रणाली पर चलाया जिस पर शताब्दियों पीछे निर्गुणी संतों ने। बाहरी खोजसे असंतुष्ट होकर उपनिषदों के द्रष्टाओं ने ब्रह्म को अपने अंदर ढूँढने का निश्चय किया। 'बृहदारण्यक' का प्रस्ताव है - आत्मा का दर्शन करना चाहिए।* जब वे इस आभ्यंतर खोज में लगे तो 'बृहदारण्यक' के ही शब्दों में उन्हें पता लगा कि यह आत्मा ही ब्रह्म है।+ इससे उनको "मैं ही ब्रह्म हूँ"× की अनुभूति हुई, क्योंकि अहं का अधिष्ठान आत्मा ही है, वही उसमें सार वस्तु है। इससे स्वाभाविक परिणाम निकला कि 'अहं' में ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक अहं, प्रत्येक आत्माधारी जीव ब्रह्म है। पूर्ण ब्रह्म हमारे ही भीतर है—"वह तू है"= कहकर प्रत्येक व्यक्ति को छांदोग्य उपनिषद् इसी तथ्य की याद दिलाता है। इस प्रकार सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ता हुआ द्रष्टा सब बंधनों से मुक्त होकर अनुभूति के उस सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचता है, जहाँ से वह 'छांदोग्य' का साथ देता हुआ विस्मित जगत् के सम्मुख घोषणा करता है—"यह सब जो कुछ है, वह ब्रह्म है।"÷

गेडन ने कहीं ठीक ही कहा है कि भारत में जितने धार्मिक सुधार आंदोलन हुए हैं; उनका आरंभ हमेशा उपनिषदों के गहरे अध्ययन के साथ हुआ है। वेदों में जिस आध्यात्मिक ज्ञान का अन्वेषण आरम्भ हुआ उसकी अंतिम सीमा, परिपूर्णता, उपनिषदों में प्राप्त हुई, इसीलिए

---

* आत्मा वा अरे द्रष्टव्य—४, ४, १२।

\+ अयमात्मा ब्रह्म—२, ५, १६।

× अहं ब्रह्मास्मि—बृहद्, १, ४, १०।

= तत्वमसि—६७८, ७।

÷ सर्वं खल्विदं ब्रह्म—३, १४, १।

उपनिषदों की अध्यात्म विद्या को वेदांत कहते हैं। प्रत्येक भारतीय वेदांती का दर्शन का प्रवर्तन उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता को लेकर होता है। प्रत्येक नवीन सिद्धांत का प्रवर्तक आचार्य इन्हीं तीनों की व्याख्या करते हुए अपने सिद्धांतों का प्रचार करता है। इसीलिए इन्हें प्रस्थान-त्रय कहते हैं परन्तु इन तीनों को अलग-अलग वस्तु नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः ये तीनों एक ही हैं, और दूसरे रूप में उपनिषद् ही हैं। ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों की उक्तियों का अनुक्रमपूर्वक सूत्र रूप में संग्रह मात्र है; और भगवद्गीता उपनिषदों का सार मात्र है। इसीलिए भगवद्गीता उपनिषद् मानी भी जाती है। अद्वैत सिद्धांत के प्रवर्तक शंकराचार्य, विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुज, भेदाभेद के प्रवर्तक निम्बार्क, शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य इन सबके, उपर्युक्त प्रस्थानत्रय में से कुछ पर अथवा तीनों पर अवश्य भाष्य मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल के धार्मिक आन्दोलनों की पुष्टि में जितनी दार्शनिक पद्धतियों का प्रवर्तन हुआ सबका आरम्भ उपनिषदों के गहन अध्ययन से हुआ।

इसी प्रकार निर्गुणी संतों के सिद्धांतों के आधार भी उपनिषद् ही हैं। बीजक की एक रमैनी में कबीर ने स्वयं उपनिषद्, उनके संवादों और सिद्धांतों का तथा योगवाशिष्ट आदि का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है—"तत्वमसि", "वह (ब्रह्म) तुम हो"—यह उपनिषदों का उपदेश है, यही उनका संदेश। इसका (कि प्रत्येक जीव ब्रह्म है।) उन्हें बड़ा निश्चय है। अधिकारी लोग इसे वरण (ग्रहण) करते हैं। यह स्वतः-सिद्ध परमतत्व है जिसने सनकादिक ऋषियों और नारदमुनि को सुख दिया। ['छान्दोग्य' में सनत्कुमार और नारद का संवाद] याज्ञवल्क्य और जनक के संवादों में यही रस बह रहा है।

दत्तात्रेय ने इसी रस का आस्वादन किया था। वशिष्ट और राम ने ने योगवाशिष्ट में इसी का बखान किया है। कृष्ण ने ऊधो को श्रीमगद्-

भागवत् में यही परम तत्व समझाया था, इसी बात को देह धारण करते हुए भी विदेह कहाकर जनक ने दृढ़ किया था।+

गुलाल तो दृढ़ता पूर्वक घोषणा करते हैं कि "निर्गुण मत वेदांत ही है। संत लोग इसी ब्रह्मरूप अध्यात्म का ग्रहण करते हैं; जहाँ दुविधा का भाव न रहे वही अध्यात्म या वेदांत मत है। जो निर्गुण मत को इसके अतिरिक्त कुछ और बतावें, उसे सद्गुरु का मत आता ही नहीं।"※

संत सम्प्रदाय में आकर अगर वेदांत में कुछ अंतर पड़ गया है तो वह इतना ही कि कहीं-कहीं सूफी काव्य के प्रभाव के कारण उक्तियों में बाहर से भौतिक प्रेम के गहरे रंग में रँग गई हैं। प्रेम की भावना से उपनिषद् भी सर्वथा अछूते नहीं हैं। परन्तु उपनिषदों की उक्तियों में उसका वह घना रूप नहीं है जिसके कारण निर्गुणियों को परमात्मा बिल्कुल पति के रूप में दिखाई देता है। उपनिषदों में भी एकाध ऐसी उक्तियाँ हैं जिनमें परमात्मा और आत्मा का सम्बंध पति-पत्नी के सम्बंध के

+ तत्वमसी इनके उपदेसाई उपनिषद कहै संदेसा॥
ई निसचय इनके बड़ भारी। वाहिक वरण करे अधिकारी॥
परम तत्त का निज परमाना। सनकादिक नारद सुष माना॥
जागबलिक और जनक संवादा। दत्तात्रेय वहै रस-स्वादा॥
वह राम वसिष्ट मिल गाई। वह कृष्ण ऊधो समझाई॥
वहै बातक जो जनक दृढ़ाई। देह धरे बीदेह कहाई॥
—बीजक, रमैनी ८।

※ निरगुन मत सोई वेद को अंता। ब्रह्म सरूप अध्यातम संता।
जहँवा दुविधा भाव न कोई। अध्यातम वेदांत मत सोई।
यहि सिवाय कोइ और बतावै। ताको सतगुरु मत नहि आवै।
—म० बा०, पृ० २१४।

द्वारा अभिव्यक्त किया गया है, परंतु इन उक्तियों को देखने से पता चलेगा कि उनमें दाम्पत्य-संबंध पर उतना जोर नहीं दिया गया है, जितना आनंदानुभूति पर। साथ ही यह संबंध उनमें रूपक के रूप में रहता है, तथ्य के रूप में नहीं। परमात्मा के साथ सूफियों का और उन्हीं के समान संतों का, दाम्पत्य-संबंध तथ्य के रूप में निरूपित किया जाता है। अपने विचारों के बाहरी आवरण के संबंध में सूफियों से कुछ प्रभावित होने पर भी उपनिषदों की आंतरिक भावना की इन संतों ने पूर्ण रूप से रक्षा की है।

मेरा यह अभिप्राय नहीं कि इन निरक्षर साधु-संतों ने पोथियाँ लेकर उपनिषदों का अध्ययन किया था। परंतु इसमें संदेह नहीं कि उपनिषदों के सिद्धांतों और उपदेशों से सर्वथा परिचित थे। जान पड़ता है कि मध्य-युग के आचार्यों के कारण सारा धार्मिक वातावरण वेदांत से ओत प्रोत हो गया था, जैसा कि आज भी है। इसी वातावरण में अबाध साँस लेने के कारण वह इन अपढ़ साधु-संतों के अस्तित्व का अभिन्न अंग सा हो गया। यह बात तो निस्संदेह स्वीकार कर ली जा सकती है कि कबीर को उपनिषदों के सिद्धांतों का ज्ञान स्वयं अपने गुरु रामानंद के मुख से प्राप्त हुआ और कबीर के शिष्य-प्रशिष्यों में होता हुआ वह आगे फैला। पिछले एक स्तंभ में निर्गुण संतों में तीन सिद्धांतिक धाराओं का उल्लेख किया गया है। किंतु यह बात संतों पर पड़े हुए उपनिषदी प्रभाव को असिद्ध करने के लिए उपस्थित नहीं की जा सकती क्योंकि स्वयं उपनिषदों में मतभेद के लिए पर्याप्त स्थान है। इसी से वेदांत के ही क्षेत्र में कई मत चल पड़े हैं, जिनमें से तीन के आधार पर मैंने संत मत की इन तीन धाराओं का नामकरण किया है।

इस बात का उल्लेख पीछे हो चुका है कि यद्यपि आरम्भ में निरंजन, परब्रह्म परमात्मा का ही पर्याय समझा जाता था फिर भी आगे चलकर

९. निरंजन

परमात्मा उससे ऊपर समझा जाने लगा और वह कालपुरुष कहाने लगा। निर्गुण, अक्षर आदि नाम भी कालपुरुष ही के समझे जाने लगे। कबीर-पंथ की पौराणिक दंतकथाओं में यह बात पूर्ण रूप से पाई जाती है। हाँ, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कबीर-पंथ की ये बातें कबीर की शिक्षाओं से विकसित होने पर भी उनके अनुकूल न थीं। इन कबीर-पंथी कथानकों में निरंजन परम पुरुष के [अनुरागसागर के अनुसार सोलह और ज्ञानसागर के अनुसार पाँच] पुत्रों में से एक था। इसने चालबाजी से अपने पिता से सातों द्वीपों की ठकुराई और अष्टांगी भवानी भी ठग ली। आदि माया अथवा आद्या पर वह इतना मोहित हुआ कि वह उसे निगल गया। आदि माया उसका पेट फाड़कर बाहर निकल आई। उसके बाहर आने पर निरंजन ने उससे अपना प्रेम प्रगट किया और दोनों के संयोग से ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये त्रिदेव पैदा हुए और संसार चला। उनके पैदा होने के पहले ही निरंजन ने अदृश्य होने की प्रतिज्ञा की थी। ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी उसकी खोज न कर सके। खोज से लौटकर ब्रह्मा ने झूठ ही कह दिया कि मुझे पिता के दर्शन हो गये। इसलिये आद्या ने शाप दिया कि पूजा में तुम्हारा भाग न रहेगा और तुम्हारी संतति ब्राह्मण लोग पाखंडी होंगे। विष्णु जो खोज करते-करते पाताल लोक की अग्नि से झुलस कर काला हो गया था सबसे पूज्य बना दिया गया क्योंकि उसने अपनी असफलता स्पष्ट स्वीकार की और महादेव ने इस संबंध में मौन धारण किया और महायोगी बना दिये गये। इन्हीं त्रिदेव के द्वारा निरंजन जगत् के ऊपर शासन करता है और सबको धोखे में डाले रहता है। यहाँ तक कि परम पुरुष ने अपने पुत्र जिस ज्ञानी (कबीर) को जीवों को इसके चंगुल से बचाने के लिए नियुक्त किया था, उसने भी धोखे में आकर निरंजन से यह प्रतिज्ञा कर दी कि मैं सत्य, त्रेता और द्वापर युग में तुम्हारे काम में विशेष बाधा

न डालूँगा। यही कारण है कि सत्ययुग में सत्य सुकृत नामधारी कबीर ने केवल राजा धोंधल और सपरिवार ग्वालिनि खेमसिरी को तथा त्रेता में मुनीन्द्र नाम धर कर केवल भाट विचित्र, हनुमान लक्ष्मण और मन्दोदरी को तथा करुणामय नाम धारण कर द्वापर में गढ़ गिरनार की रानी इंदुमती और उसकी प्रार्थना पर उसके पति को काल (निरंजन) के जाल में पड़ने से बचाया। यही नहीं कलियुग में भी उसने धोखे से कबीर साहब से नाम-मंत्र का रहस्य ले लिया और नाना ग्रंथों का निर्माण कर, नाम देने के बहाने से दुनिया को अपने जाल में बाँधने लगा।

कुछ अन्य संत भी इसी प्रकार निरंजन को परम पुरुष से अलग, उससे नीचा पद वाला धोखेबाज पुरुष समझते हैं। शिवनारायणजी का कथन है कि शब्द से निरंकार (निरंजन) का जन्म हुआ जिसने ब्रह्मांड और जीवों की रचना की और उन्हें मोह की फाँस से बाँधा।*

---

* आपुहि आप शब्द चहुँ ओरा, शब्द बीज अनियारा हो।
तेहिते निरंकार भौ तेही, तब भौ धरति अकाशा हो।
तब भौ जीव सकल ब्रह्मण्डा, करत अवर की आशा हो।
करम काम ई भरम लगाई, अवर अवर विसवासा हो।
देखत निरंकाल भौ व्याधा, लखत मोह के फाँसा हो।
जेहि पावत ते सबै बझावत, का भूली देखत तमाशा हो।
सिवनारायण आप देखु चलु, जहाँ आपन घर वासा हो।
—संत-विलास, हस्तलेख।

तुलसी तीन लोक का नाइक, सबका लूटै माल।
सतगुर चरन शरण जो आवै, सो-जिव देत निकाल।
...वेद नेत कर ताहि ब्रह्म कर कहत बखाना।
अरे हाँ रे तुलसी, संत मता कछु और और कछु संतन जाना।
...गावत वेद निसेद जो नेति, कहत न जाने, निरंजन नाऊँ।
—शब्दावली, २य, पृ० ४८–४६।

तुलसी साहब के अनुसार तीन लोक का स्वामी निरंजन सारे जगत का माल (अध्यात्मिक महत्व) लूट लेता है। वेद इसी को ब्रह्म कह कर पुकारते हैं और इसी का नेति-नेति कह कर वर्णन करते हैं। किंतु संत लोग इससे बहुत आगे पहुँचते हैं। उनका मत ही भिन्न है।+

शिवदयाल के याथार्थवाद के अनुसार भी काल निरंजन परम-पुरुष-रूप सिंधु की एक बूंद है। वह माया के संयोग से पाँच तत्व और तीन गुणों के द्वारा सृष्टि की रचना करता है, उसका स्थान सातवें कमल में है। सारे जगत् के लोग इसी बूंद (अंश) को सिंधु (परम पुरुष) समझते हैं और ठगे जाते हैं। केवल संत ही सत्य लोक में नित्य आनंद मनाते हैं।*

\+ ओअं शब्द काल को जानो। सुन में शब्द पुरुष पहिचानो।
तीन लोक निर्गुन का घाटा। उन सब रोकि जीव की वाटा॥
—रत्नसागर, पृ० १५१।

* कुफरद बुंद हमारी आई। दूसर माया आन मिलाई।
पाँच तत्त तीनों गुन मिले। यह दस आपस में रले।।
रल मिल कर इन रचना कीनी। तीन लोक औ चारों खानी।
वेदांती अब किया विचार। नौ को छाँट लिया दस सार।।
दसवों वही बूँद मम अंस। छाँट ताहि लीन्हीं होय हंस।
—सार वचन, भाग २, पृ० ७८-७९।

जितने मत हैं जग के माही। इसी बुंद को सिंध बताहीं।।
वही, पृ० ७७।

कमल सातवें काल बसेरा। जोत निरंजन का वह डेरा।
वही, पृ०, ३६९।

संत दिवाली नित करें, सत्त लोक के माँहि।
और मते सब काल के, यों ही काल उड़ाहिं।। वही पृ० ३७१।

निरंजन को काल पुरुष कहना पहले पहल गीता के अनुकूल जान पड़ेगा। कृष्ण अपने आपको "कालोऽस्मि" कहते हैं।+ परन्तु उनका अपने आपको 'काल' कहने का अभिप्राय निरतिशय परब्रह्म पद से नीचे गिराना नहीं है। क्योंकि जहाँ उन्होंने अपने आपको 'काल' कहा है, वहीं क्षर और अक्षर दोनों से परे भी बतलाया है।× कृष्ण काल और अक्षरातीत दोनों एक साथ हैं।

कबीर आदि पहले संतों ने 'निरंजन' से गीता ही का सा अर्थ लिया है। किंतु आगे आनेवाले संतों ने अपने आपको निरंजन अथवा निरंजनी सम्प्रदाय से ऊँचा पहुँचा हुआ सिद्ध करने के अभिप्राय से निरंजन को उस ऊँचे पद से नीचे ढकेल दिया, यद्यपि वस्तुतः निरंजनी सम्प्रदाय और कबीर के तात्विक सिद्धांतों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। ऐसे ही कारणों से कबीर-पंथ की किसी एक शाखा ने निर्गुण-पंथ की द्वादश शाखाओं को कालकृत बताया है।× इस शाखा के अनुसार निरंजन ने कबीर से नाम-मंत्र चोरी से ले लिया था। और अब द्वादश पंथ खोलकर दीक्षा देता हुआ लोगों को तारने के बहाने से अपने अड्डे में ले जा रहा है। रहा इस प्रकार कबीर पंथ स्वयं कबीर की शिक्षाओं के विरुद्ध जा रहा था यह औरों से आगे बढ़े जताने की प्रवृत्ति का शिवदयाल में भी अभाव नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि निर्गुण संत सम्प्रदाय पर रामानन्द का बहुत बड़ा ऋण है। फिर भी रामानन्द तथा अन्य वेदान्तियों से इन निर्गुणी

+ कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

गीता, ११-३२।

× यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।

गीता, १५-१८।

१०. अवतार वाद

संतों का कुछ मतभेद भी जान पड़ता है। यदि आज-कल के रामानन्दी सम्प्रदाय के सिद्धांतों को रामानन्द जी के साथ जोड़ सकते हैं तो निस्संदेह अपने अद्वैती सद् वाद के साथ-साथ ये अवतार वाद के माननेवाले भी थे। उनके लिए दाशरथि राम साक्षात् परब्रह्म के अवतार हैं। परन्तु पैगम्बर हो या अवतार, दोनों में से कोई भी कबीर आदि संतों को ग्राह्य नहीं। कबीर ने रामानन्द से 'राम' मन्त्र लिया तो सही, किंतु उस 'राम' शब्द से उन्होंने दूसरा अर्थ लिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "दुनिया दशरथ के पुत्र को 'राम' कहती है, परन्तु राम का मर्म कुछ और ही है।"* 'राम' शब्द से निर्गुणियों का अभिप्राय विष्णु के अवतार-विशेष से नहीं है जिसे हिन्दू मानते हैं और जिसका तुलसीदास जी ने अपनी अमर वाणी से यशोगान किया है प्रत्युत परब्रह्म राम से। उनके मत में परब्रह्म किसी मनुष्य-विशेष के रूप में पृथ्वी पर नहीं उतरता। राम शब्द के अंतर्गत वे भी बहुत सूक्ष्म सगुण भावना का अस्तित्व मानते हैं, किंतु वह निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचने के लिए सीढ़ी मात्र का काम देता है, जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

अवतारवाद के वे बिल्कुल विरोधी थे। सब पूजा-अर्चा जिसका सम्बंध दृश्य पदार्थों से है, उनकी विचारधारा के प्रतिकूल पड़ती है। यदि रक्त-मांस के भौतिक शरीर का विचार किया जाय तो उनके मतानुसार कोई भी परमात्मा नहीं—दाशरथि राम भी नहीं, किंतु शरीर को छोड़कर यदि आत्मा की ओर दृष्टि डाली जाय तो सभी परब्रह्म हैं कोई भी इसका अपवाद नहीं, राम का शत्रु राक्षस-राज रावण भी नहीं। अतएव उनकी दृष्टि में किसी भी मनुष्य को परमात्मा मानना ठीक नहीं। राम

---

* दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥
—बीजक, सबद १०९।

आदि दशावतारों को भी परमात्मा के अवतार मानने के लिए उनकी दृष्टि में कोई उचित कारण नहीं है। जन्म मरण से अस्पृष्ट परब्रह्म को मनुष्य रूप में अवतरित होकर जन्म-मरण में पड़ने की कल्पना करना तर्क और ज्ञान का सर्वथा विरोध करना है।

कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्म, राम और कृष्ण आदि अवतारों के रूप में अवतरित हुआ ही नहीं। उन्हीं के शब्दों में—

ना जसरथ घरि औतरि आवा। ना लंका का राव सतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा। ना जसवै* लै गोद खिलावा॥
ना ग्वालन कै संग फिरिया। गोवरधन लै न कर धरिया॥
बावन होय नहीं बलि छलिया। धरनी वेद लै न उधरिया॥=
गण्डक, सालिगराम न कोला। मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बदरी बैसि ×ध्यान नहिं लावा। परसराम ह्वै खतरी न संतावा॥
द्वारामती सरीर न छाड़ा। जगन्नाथ लै प्यंड न गाड़ा॥÷

अन्य संतों ने भी इसी प्रकार स्पष्ट शब्दों में अवतारवाद को अस्वीकार किया है। दादू के शिष्य रज्जब ने कहा—"राम और परशुराम दोनों एक ही समय में हुए। दोनों आपस में एक दूसरे के द्वेषी थे। कहिये किसको कर्त्ता कहें। दत्तात्रेय, गोरखनाथ, हनुमान और प्रह्लाद ने न शास्त्र पढ़े, न शिक्षा पाई, फिर भी उन्हें सिद्ध शरीर प्राप्त हैं, वे अमर हो गये हैं, किंतु कृष्ण [व्याध के] एक ही बाण से मर गये।"+ रज्जब के गुरुभाई बषना कहते हैं कि इस प्रकार के स्वामी और

---

* यशोदा = मत्स्यावतार में × नारायण रूप में॥

÷ क० ग्रन्थ, पृ० २४२-३।

\+ परशुराम अरु रामचन्द भये सु एकै बार॥
तौ रज्जब द्वै द्वेषि करि को कहिए करतार॥
सर्वांगी ४२, २६ (साखी)

सेवक में किसी प्रकार का तात्विक भेद नहीं है। दोनों के कृत्रिम शरीर हैं। दोनों योनि के संकट में पड़ते हैं। दोनों में केवल मात्रा का भेद है। एक चींटी के समान निर्बल है तो दूसरा हाथी के समान शक्तिशाली।× दादू के अनुसार राम और कृष्ण दोनों माया के अंतर्गत हैं।÷ गुलाल ने कहा कि अन्य जीवधारियों की ही भाँति अवतारों को भी मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है, जब वे परमात्मा की भक्ति करें।= पलटू के अनुसार चौबीसों अवतार काल के वश में हैं। राम, परशुराम और कृष्ण को भी मरना पड़ा।⊥ तुलसी साहब ने तुलसीदास जी की निम्नलिखित

दत्त गोरख हणवंत प्रहलाद। सास्त्री पढिए न सुनिए वाद।।
(पाठ-साध ?)।।
मारे मरै न सिद्ध सरीरं। कृष्ण काल वस एकहि तीरं।।
—वही ४४, अंतिम साखी।।

× ठाकुर चाकर की किर्तम काया। जोनी संकट दोन्यो आया।।
एक कुंजर एक कीड़ी कीन्हा। एकहि शक्ति घणेरी दीना।।
ना सो बूढ़ा ना सो बाला। वपना का ठाकुर राम निराला।।
—वही, ४२, ८ (पद)

÷ माया बैठी राम ह्वै ताकूं लखै न कोइ।
सब जग मानै सत्त करि, बड़ो अचम्भौ मोहि।।१४४
माया बैठी राम ह्वै, कहै मैं ही मोहन राय।
ब्रह्मा विष्णु महेस लौं जोनी आवै जाइ।। १४३
—बानी, १ म, पृ० १२९

= सुर, नर, नाग मानुष, औतार, विनु हरि भजन न पावै पार।।
—म० बा० पृ० २२९।

⊥ दस चौदह औतार काल के बसि में होई।
पलटू आगे मरि रहो आखिर मरना मूल।
राम कृष्ण परसराम नें मरना किया कबूल। 'बानी', १ म, ५४, ११७।

चौपाई को साभिप्राय दृष्टि से उद्धृत किया है, जिसमें राम को भी मानना पड़ा है कि विधाता के लेख को कोई नहीं मिटा सकता—

हँसि बोले रघुवंश कुमारा। विधि का लिखा को मेटन हारा॥=
कर्म प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥

नानक ने भी इसी अभिप्राय का एक पद कहा है जो आदि ग्रन्थ में तो नहीं है पर 'मैकॉलिफ' के ग्रंथ में अनुवादित है—"राम ने लक्ष्मण और सीता के लिए विलाप किया। उन्हें हनुमान से सहायता लेनी पड़ी। मूर्ख रावण नहीं जानता था कि मेरी मृत्यु का कारण राम नहीं, परमात्मा है। हे नानक परमात्मा स्वतन्त्र है पर राम भाग्य के लेख को नहीं मिटा सके।"ꣳ सतयुग, त्रेता और द्वापर जिन्हें हिंदू कलियुग से बहुत अच्छा समझते हैं, तुलसी साहब को बुरे लगते हैं, क्योंकि उनमें अवतारों की अधिकता हुई जिन्होंने मारकूट करना सिखाया, परमपद की राह नहीं दिखाई।+

पिछले संतों की पर-प्रवृत्ति भी अवतारों के विरुद्ध पड़ती है। तुलसी साहब के अनुसार दस अवतार परमात्मा के नहीं, काल के हैं। जो जगत् को भ्रम में डालता है और पकड़ कर खाता रहता है।× जैसा

= "रत्नसागर", पृ० १८, "रामचरितमानस",

ꣳ मैकॉलिफ—"सिक्ख रिलीजन" १ म पृ० ३८२।

+ द्वापर त्रेता का यह लेखा। ये युग में औतार विशेषा॥
मारि निसाचर जग के माहीं। यह लीला उनने दरसाई॥
जीव जेहि घर से चलि आया। वहि घर राह नहीं दरसाया॥
मारकूट संग्राम सुनाया। आतम हति जिव मारन गाया॥
—"रत्नसागर", पृ० १२२।

× दस अवतार काल के जाना। जामे सारा जगत भुलाना॥
—"घट रामायण", पृ० २८०।

निरंजन शीर्षक स्तंभ में दिखलाया जा चुका है। शिवदयालजी और शिवनारायण जी दोनों इस सम्बन्ध में तुलसीसाहब से सहमत हैं।

अवतारों को माया के अंतर्गत मानना सैद्धांतिक दृष्टि से अग्राह्य नहीं। ईश्वर, त्रिदेव, अवतार सोपाधिक होने के कारण सब माया के ही अंतर्गत हैं। त्रिदेव को नानक आदि संतों ने स्पष्ट शब्दों में भी माया का पुत्र कहा है।= निरुपाधिक ब्रह्म इन सब से परे है। परन्तु इससे इन सबके वास्तविक महत्त्व में कोई कमी नहीं आती। जिस अभिप्राय से उनकी उद्भावना हुई है, उसकी ओर भी एकाध संत की दृष्टि गई है। गुलाब के शिष्य भीखा के शब्दों में ऐसे लोग बहुत कम हैं जिन्हें राम-कृष्ण आदि अवतारों का रहस्य ज्ञात है। केवल ब्रह्म तो एक ही है किंतु उपासना की दृष्टि से भिन्न-भिन्न देवता अस्तित्व में आये हैं।÷ जगजीवनदास का कहना है, "राम ने अवतार लेकर भक्तों का काम सँवारा और उनके लिए दुःख उठाया।"+ परन्तु अवतारों के प्रति यह सामंजस्य-दृष्टि सब संतों में नहीं मिलती।

काल कराल कृष्ण अवतारी, सब जग को धरि खावै।
—"शब्दावली", पृ० १२०।

= एका माई जुगत वियाई तिन चेले परवाण ॥
इक संसारी इक भंडारी इक लाये दीवाण ॥—जपजी
अक्षय वृक्ष इक पेड़ है निरंजन ताकी डार।—
त्रिदेवा साखा भये पात भया संसार ॥—कबीर वचनावली
पृ० १

÷ राम कृष्ण अवतार का विरला पावे भेव।
भीखा केवल एक ब्रह्म है, भेद उपासन देव ॥—म० व० पृ० ८८

+ देहीं धरि धरि नाच्यो राम।
भक्तन केर सँवारयो काम ॥—बानी, भाग २, पृ० ६९, ५।

पलटू ने सबसे बड़ा भक्त को, उसके बाद नाम को और उसके बाद दस अवतारों को मानकर अवतार का+ वास्तविक महत्व स्वीकार किया है। क्योंकि साधना दृष्टि से रखा गया है, (और इस कथन से अवतार का स्थान ब्रह्म के अनंतर आता है) निर्गुण सगुण नाम संत।

कुछ संतों में तो अवतार-विरोध यहाँ तक बढ़ा कि राम शब्द से उनको चिढ़ हो गई। और यहाँ तक देखा जाता है कि राम कबीर आदि पुराने संतों की वचनावली में से राम शब्द हटाकर 'नाम' शब्द उसके स्थान पर रखा गया। स्वयं कबीर-पंथ में यह विश्वास चला आ रहा है कि कबीर ने सत्य नाम का प्रचार किया। राम नाम का नहीं। परन्तु असल बात यह है कि जिस सत्य नाम का कबीर ने प्रचार किया वह राम नाम ही है। गुलाल ने कबीर के मत को 'राम-मत' कहा है।⊛ कबीर के कुछ अनुयायी, जो विशेषतया अयोध्या में रहते हैं, अपने को 'राम-कबीर' कहते हैं। फिर भी निर्गुणी संतों का अवतार-विरोध राम शब्द के बहिष्कार का कारण बना है।

अवतार-विरोध का एक प्रधान कारण यह भी हो सकता है कि उसके द्वारा नर-पूजा का विधान हो जाने के कारण धर्म में पाखंड को घुसने का मार्ग मिल जाता है। परंतु इसका कारण अवतार-वाद के मूल अभिप्राय को अच्छी तरह से न समझ सकना है। अवतार-पद कोई ऐसा अधिकार नहीं जो किसी व्यक्ति को इसी जीवन में प्राप्त हो जाय। वह तो एक अत्यंत पूर्णता तथा महत्व-युक्त जीवन को बिताने के पीछे अयाचित रूप से मिलनेवाला पुरस्कार मात्र है जो उन्हीं को मिल सकता है जिन्होंने सदैव सत् का पक्ष लेकर असत् के साथ घोर

+ सब से बड़ है संत, तब नाम है।
तिसरे दस औतार तिन्हे परनाम है—बानी, भाग ३ पृ० ७५, ७

⊛ कबिरा राम-मत सो लही। हिंदू तुरक सबकी कही॥
—म० बा०, पृ० ३१४।

शुद्ध करने में अपना संपूर्ण जीवन बिताया है, जिन्होंने किसी ईश्वरीय संदेश को अपने जीवन में कार्य रूप में परिणत किया है। वह ऐसे आदर्श जीवन के प्रति समस्त जाति की हार्दिक श्रद्धा और प्रेम की अंजलि है। कौन व्यक्ति इस पद के उपयुक्त है, जातीय मस्तिष्क इस बात का निर्णय तब तक नहीं कर सकता जब तक वह व्यक्ति स्वयं इस संसार में विद्यमान है। श्रद्धा की यह अंजलि किसी व्यक्ति विशेष को नहीं बल्कि उसकी स्मृति को अर्पित की जाती है। अतएव अवतार-पद को वह अपने स्वार्थ के लिए प्रयुक्त नहीं कर सकता।

यह भी बात नहीं कि सूक्ष्म अवतारवाद में ब्रह्म अथवा परमात्मा का सचमुच रक्त-मांस के मनुष्य के रूप में उतरना माना जाता हो। असल में निर्बल मनुष्य परमात्मा के हाथों को अपने बीच में काम करता हुआ देखना चाहता है। इससे उसको अप्रतिकार्य रक्षा की आशा होती है। स्वयं मनुष्यों के बीच में परमात्मा की अनुपस्थिति की कल्पना से मनुष्य को सुरक्षितता की भावना और हार्दिक तृप्ति होती है। अतएव मनुष्य अपने हृदय की तृप्ति और इस आशा के आधार की रक्षा के अर्थ सत् की रक्षा में किये गये महत्त्व के कार्यों में सदैव परमात्मा का हाथ देखता आता है। अतएव अवतार वास्तविक स्थूल रूप में नहीं, बल्कि सूक्ष्म रहस्य रूप में अवतार हैं। परंतु पीछे जब इस रहस्यमय भावना का त्याग हो गया और अवतार वास्तविक स्थूल अर्थ में अवतार समझे जाने लगे और यह माना जाने लगा कि परमात्मा शरीर धारण कर विशेष रूप से इन्हीं अवतारों के रूप में अवतरित हुआ है तो अवतारवाद का वह मूल तात्त्विक अर्थ नष्ट हो गया जो समस्त मानवजाति के सामने महत्त्व का अभिनव मार्ग खोले हुए था और उसके विरोध के लिए जगह निकल आई। जो लोग ईसा को शारीरिक अर्थ में ईश्वर का पुत्र मानते हैं उनके हाथों ईश्वर के पुत्रत्व की भी ऐसी ही दुर्गति हुई है। किंतु मूल अर्थ में अवतारवाद और ईश्वर की पुत्रता दोनों सिद्धांत नितांत उपयोगी हैं।

अवतारवाद के इस मूल सौंदर्य के सामने उसका खंडन करनेवाले ये निर्गुणी संत भी दृढ़ता के साथ खड़े नहीं रह पाये हैं। भक्तों को सूक्ष्म सामीप्य-सुख के लाभ की आशा देनेवाले सुकृतियों पर दया की वर्षा करनेवाले और पापी अत्याचारियों पर नाश का वज्र-निक्षेप करनेवाले अवतार उनको अत्यंत मनोमोहक जान पड़े। वस्तुतः स्वयं कबीर और अन्य कई संत इसी कारण अवतारों से बहुत आकृष्ट हुए हैं। दुर्योधन के राजप्रासाद के राजसी व्यंजनों और विलास की सामग्रियों को छोड़कर विदुर की झोपड़ी में मिलनेवाले रूखे-सूखे भोजन में सुख मानना कबीर को विशेष रूप से आकर्षक जान पड़ा।* उन्होंने नरसिंहावतार का भी खूब यशोगान किया है, जिसने बालक भक्त प्रह्लाद को अपने अत्याचारी पिता हिरण्यकश्यप के अत्याचारों से बचाया।+ दादू ने गोपियों के साथ नाना प्रकार से क्रीड़ा करनेवाले कृष्ण की स्तुति की है।× चरनदासियों के लिए कृष्ण समस्त सृष्टि का मूल कारण है। सतनामी सम्प्रदाय के पुनरुद्धार कर्ता जगजीवनदास के अनुयायी वाराह और वामन अवतारों की भक्ति करते बताये गये हैं, यद्यपि उनके

---

* राजन कौन तुमारे आवै।
ऐसो भाव विदुर को देख्यो, वहु गरीब मोहि भावै...
(दुर्योधन) हस्ती देखि भरम ते भूला हरि भगवान न जाना।
—क० ग्र०, पृ० ३१८, १७६।

\+ महापुरुष देवाधिदेव नरसिंह प्रगट कियो भगति भेव।
कहै कबीर कोइ लहै न पार। प्रहलाद उबार्यो अनेक बार॥
—वही, पृ० २१४।

× मुख बोलि स्वामी अंतरजामी, तेरा सबद सुहावै रामजी।
धेनु चरावन बेनु बजावन, दर्स दिखावन कामिनी।
विरह उपावन, तपत बुझावन, अंगि लगावन भामिनी॥

अनुयायियों की इस प्रथा के लिए जगजीवनदास की बानी में कोई आधार नहीं। जगजीवनदास का शिष्य दूलनदास तो अवतारों का ही नहीं हनुमान, देवी, गंगा आदि का भी भक्त था।

यही नहीं, निर्गुणियों ने एक प्रकार से साधुओं के विशेष कर गुरुओं के महत्व को बढ़ाने के लिए भी अवतारवाद का उपयोग किया है। साधु और गुरु पृथ्वी पर साक्षात् परमात्मा माने गये हैं। कभी-कभी तो गुरु परमात्मा से भी बड़ा माना जाता है। इस प्रकार अवतारों के संबंध में यह आक्षेप कि उससे नर-पूजा के लिए जगह निकल आती है, साधु-पूजा और गुरु-पूजा के संबंध में और अधिक उपयुक्त ठहरता है। क्योंकि साधुओं और गुरुओं को तो वह सम्मान जो अवतारों को मृत्यु के उपरांत मिलता है, इसी जीवन में मिल जाता है। इस लिए उनके द्वारा उसके दुरुपयोग की अधिक संभावना है। यह दूसरी बात है कि सच्चे साधु-संत इस पद का दुरुपयोग नहीं कर सकते। परन्तु जन-समुदाय तो सच्चे और झूठे संत की पहचान में हमेशा गलती करता ही रहेगा। बना हुआ साधु साक्षात् परमात्मा की तरह पुजता हुआ समाज का घोर अकल्याण कर सकता है। जब तक तो गुरुआई का आध्यात्मिक अनुभूति से संबंध रहता है, संभवतः उसका उतना दुरुपयोग न हो पर जब पीढ़ी से पीढ़ी अथवा शिष्य-परंपरा में वह चलने लगती है तब निश्चय ही गुरुओं में उससे अनुचित लाभ उठाने की प्रवृत्ति जाग उठती है क्योंकि आध्यात्मिक अनुभूति की परंपरा अपने आँचल में बाँध नहीं ले आ सकती।

कुछ कबीरपंथी रचनाओं के आधार पर कुछ लोगों का यह भी विचार है कि वे पैगंबर अथवा अवतार होने का दावा करते थे। परन्तु

संग खिलावन, रास बनावन, गोपी भावन, भूधरा।
दादू तारण, दुर्त निवारण, संत सुधारण राम जी॥
—'बानी', २, पृ० २८१

यह बात गलत है। वह अवतार अथवा पैगंबर के अर्थ में अपने आप को परमात्मा नहीं कहते थे बल्कि उन अर्थों में जिनमें सभी परमात्मा हैं। उन्होंने साफ शब्दों में कहा है कि मैं इस जगत् के वस्तुओं को देखने के लिए (सामान्य लोगों की भाँति जगत् में) आया था किंतु नजर में पड़ गया अनुपम परमात्मा।* लोगों ने कबीर को समझने में गलती की। इसका कारण यह है कि कबीर को तो अपनी पारमात्मिकता की अनुभूति हो गई थी पर अन्य लोगों को नहीं। परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि कबीर के समय में भी गुरुआई के कारण बहुत पाखंड फैल गया था। स्वयं कबीर के पदों से इस बात का समर्थन होता है। ऐसे ही गुरुओं के पाखंड को दृष्टि में रखकर उन्होंने कहा था, कि ज्ञानी मूल-ज्ञान को गँवा-कर स्वयं कर्ता हो बैठे हैं।+

यद्यपि कबीर आदि निर्गुणी संतों ने सिद्धांत रूप से अवतारवाद का खंडन किया है फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनके अनुयायियों ने उन्हें अवतार बना डाला और आप की पूजा करने के बदले वे उन्हें अवतार बनाकर उनकी स्मृति की पूजा करने लगे। कबीर-पंथ में कबीर पृथ्वी पर साक्षात् परमात्मा का रूप मान कर पूजे जाते हैं। निर्गुणियों के सिद्धांतों के आधार पर चलनेवाले प्रत्येक संप्रदाय और संप्रदाय-प्रवर्तक के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है। इस प्रकार जिस बात का इन संत-महात्माओं ने विरोध किया उनके नाम पर चलनेवाले संप्रदायों ने उस बात को उन्हीं के व्यक्तित्व के साथ जोड़कर प्रकारांतर से स्वीकार कर लिया।

---

* आया था संसार में देखन को बहु रूप।
कहै कबीरा संत हो, पड़ि गया नजर अनूप॥
—'क० ग्रं०,' १४, २४।

\+ ज्ञानी मूल गँवाइया, आपण भये करता। —वही, पृ० ४१, २७।

चतुर्थ अध्याय

निर्गुण-पंथ

आध्यात्मिक साधना के ईश्वरोन्मुख मार्ग में प्रगति का पुनरावर्तन के रूप में होना अनिवार्य है। जैसा कि पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है, मनुष्य विविध कोशों के स्तरों-द्वारा परिच्छिन्न कर दिया गया है और प्रत्येक आवरण का पड़ता जाना क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर उतरना सूचित करता है। इस अवतरण के लिए पारिभाषिक शब्द Hypostasis का प्रयोग किया जाता है। ऐसी कई भूमियाँ बन गई हैं जिनमें स्थूलता क्रमशः बढ़ती गई है और अंत में इसका स्तर इतना अधिक स्थूल हो गया है कि उसके द्वारा ढके हुए वा परिच्छिन्न आत्मा का आभास तक नहीं हो पाता और उसका ज्ञान तक लुप्त हो जाता है। परन्तु तो भी मनुष्य के भीतर इस आत्मा का अस्तित्व अवश्य है और वह अपनी पूर्ण ज्योति से प्रकाशित है; यद्यपि उस स्थूल आवरण के कारण उसका प्रकाश हमें लक्षित नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य उच्चतम स्तर में रहता हुआ भी सभी नीचे के स्तरों में भी तब तक वर्तमान रहता है, जब तक उसके ऊपर उठ नहीं जाता। फिर भी यह मान लेना आवश्यक नहीं कि भिन्न-भिन्न भूमियों में रहने के लिए आत्मा को भौतिक शरीरों की भाँति भिन्न-भिन्न कलेवर धारण करना चाहिए। साधक के सामने यह प्रश्न नहीं रहता कि हमें भौतिक शरीर को त्यागकर किसी छायात्मक वा तेजोमय शरीर में प्रवेश करना है। यह वर्तमान शरीर ही सब प्रकार की अनुभूतियों के अनुरूप आवश्यक साधनों से सम्पन्न हो जाता है। ऊँची से ऊँची भूमि भी जो, वास्तव में सभी भूमियों से परे की स्थिति है, इसकी अनुभूति से बाहर नहीं। निर्गुणी दृष्टिकोण के अनुसार भौतिक शरीर की सहायता के बिना ऊँची भूमियों तक पहुँचना असंभव है। यदि अंतिम मोक्ष की प्राप्ति के पहले ही किसी का देहांत हो जाय तो, उसे छोड़े हुए

१. प्रत्यावर्तन की मात्रा

स्थान से प्रारंभ करने के लिए एक बार फिर जन्म लेना पड़ता है।

वेदांत ने, आध्यात्मिक जीवन को लक्ष्य में रखकर, शरीर के विविध व्यापारों को क्रमशः कम होती जानेवाली स्थूलता के अनुसार भिन्न-भिन्न कोशों में विभाजित किया है। जिसका अन्त सभी व्यापारों के केन्द्र आत्मा होता में है। ऊपर से नीचे वा भीतर की ओर स्थिति के अनुसार इन्हें (१) अन्नमयकोश अर्थात् अन्न-द्वारा पोषित आवरण (२) प्राणमयकोश अर्थात् प्राणों वा प्राणवायुओं का आवरण (३) मनोमयकोश अर्थात् मन का आवरण (४) विज्ञानमय कोश अर्थात् बुद्धि का आवरण और (५) आनन्दमय कोश अर्थात् आनन्द का आवरण कहा जाता है। छोटे सुंदर-दास ने इस बात को एक कवित्त में बतलाया है और कहा है कि अन्न-मयकोश प्रत्यक्ष भौतिक शरीर है, प्राणमयकोश विभिन्न प्राणवायुओं की रचना है, मनोमयकोश पंच कर्मेन्द्रियों की आधार स्वरूप वासनाओं का बना हुआ है और विज्ञानमयकोश पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निर्मित है। ये चार कोश जाग्रत एवं स्वप्न की अवस्थाओं में रहते हैं, आनन्दमय कोश में गाढ़ी और निर्वाधित सुषुप्ति की अवस्था रहती है। और इन पाँचों कोशों के द्वारा आवृत रहकर ही आत्मा जीव वा जीवात्मा कहलाता है। सुंदरदास ने इन बातों के लिए शङ्कराचार्य के शारीरिक भाष्य का प्रमाण दिया है और वे कहते हैं कि इसका वर्णन सांख्य में भी किया गया है।*

---

* अन्नमय कोश सोतो पिंड है प्रगट यह,
प्राणमय कोश पंच वायू बखानिए।
मनोमय कोश पंच कर्म इन्द्री है प्रसिद्ध,
पंच ज्ञान इन्द्रिय विज्ञानमय कोश जानिए॥
जाग्रत सुपन विषै कहिए चत्वार कोश,
सुषुप्ति माहिं कोश आनन्दमय मानिए।
पंचकोष भावना के जीव नाम कहियत,
सुंदर शंकर भाष्य सांख्य में बखानिए॥ 'सुंदर विलास', ११६।

यह मानना ठीक नहीं कि ऊपरवाली भूमियों के व्यापार नीची श्रेणी की भूमि की सहायता के बिना सम्पन्न हो सकते हैं। यदि नीची श्रेणी के व्यापार विरोध करें और नियमोल्लंघन करके विकृत रूप धारण कर लें तो ऊँची श्रेणीवाले कुछ कर न सकेंगे। अतएव उन्हें इस प्रकार सुधार लेना चाहिए कि ऊँचे व्यापारों में बाधा उपस्थित करने अथवा उन्हें प्रभावित करने की जगह उन्हें स्वेच्छापूर्वक सहायता पहुँचाने लगें। जब इस प्रकार सभी व्यापारों के बीच, चाहे वे सबसे नीचे वा सबसे ऊँचे के हों एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित हो जाता है तो उसी दशा में आत्मा अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त होता है।

विलियम किंग्सलैंड, जिन्होंने रहस्यवाद के विषय में वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया है, अपने 'सायंटिफ़िक आइडिलिज़्म' ग्रन्थ में बतलाते हैं कि हमारी प्रकृति के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए कम से कम चार भूमियों का मान लेना आवश्यक होगा और उनके अनुसार ये भूमियाँ नीचे से ऊपर अथवा बाहर से भीतर के क्रम से, भौतिक, प्राणात्मक, मानसिक और आध्यात्मिक हैं।*

अनुभव की इन वैज्ञानिक भूमियों तथा वेदान्त-निरूपित कोशों में एक विचित्र समानता देख पड़ती है। भिन्नता केवल यही है कि, हिंदुओं के आध्यात्मिक शास्त्रों में व्यक्त प्राण सम्बन्धी महत्ता के कारण, वेदान्त ने किंग्सलैंड वाली भौतिक भूमि को अन्नमय एवं प्राणमय नामक दो भिन्न-भिन्न कोशों में विभाजित कर दिया है। इसके सिवाय, यह भी ध्यान में रख लेना आवश्यक है कि वेदान्त के अनुसार जीवात्मा के अंतिम अभीष्ट की पूर्त्ति आनन्दमय कोश-द्वारा भी नहीं हुआ करती। भूमि की भावना अपने विशुद्ध रूप में आत्मा से नितान्त भिन्न है। किंग्सलैंड की आध्यात्मिक भूमि के अन्तर्गत आनन्दमय कोश एवं

* पृ० २३३.

निरुपाधिक अवस्था इन दोनों का ही समावेश किया जा सकता है, यद्यपि इस बात का पता नहीं कि इनका अपना अभिप्राय ऐसा था या नहीं।

इन विभिन्न भूमियों तथा व्यापारों-द्वारा स्थलान्तर से, आध्यात्मिक मार्ग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का भी बोध हो सकता है और बहुधा उन्हें ऐसा ही मान भी लिया जाता है। परन्तु इन अवस्थाओं की संख्या, साधक-विशेष के अनुसार बदलती रहती है और उसका निश्चय, केवल कर्मों के वर्गीकरण-द्वारा नहीं वरन् उन्हें परिष्कृत करने की प्रगति-द्वारा किया जा सकता है। क्योंकि व्यापारों के केवल वर्गीकरण-द्वारा ही इसका निर्णय नहीं किया जा सकता, बल्कि उन भागों में के विस्तारानुसार ही होता है जिन्हें साधक उन व्यापारों को विकारहीन बनाने के भूतल में उठा सकता है। इसी कारण हम देखते हैं कि निर्गुण संप्रदाय के भिन्न-भिन्न संतों ने उक्त भूमियों की भिन्न-भिन्न संख्याएँ निर्धारित की हैं। शिवदयाल साहब ने तथा कुछ कबीर-पंथियों ने भी पंद्रह भूमियाँ बतलाई हैं, उनके शिष्यों ने अठारह, तुलसी साहब ने बाईस शून्यों की कल्पना की है और कतिपय अन्य कबीर-पंथियों ने छब्बीस लोक (जिसमें सात पाताल, सात आकाश, सात शून्य और पाँच निरुपाधिक भूमियाँ आती हैं) ठहराये हैं।

किन्तु, स्थिति जैसी भी हो, इतना स्पष्ट है कि, यदि किसी को वह उपाधिरहित स्थिति पुनः प्राप्त करनी है तो, उसे अपने को इन स्थूल भूमियों से क्रमशः अलग करते हुए, उन सीमावर्ती आवरणों को भी दूर कर देना होगा जिनके भीतर वह पड़ा हुआ है। इसी कारण निर्गुणियों ने अपने ईश्वरोन्मुख मार्ग की, अनलपक्षनामी काल्पनिक पक्षी के बच्चे की, अंडे से बाहर होने की क्रिया के साथ तुलना की है जो पृथ्वी से स्पर्श होने के पहले ही समाप्त हो जाती है और वह फिर आकाश की ओर वहाँ तक उड़ जाता है जहाँ उसकी माँ ने वह अंडा

दिया था। उन्होंने उसे मछली के उस तैरने के समान कहा है जो नदी की धारा के विरुद्ध उसके मूल स्रोत की ओर बढ़ते समय दीख पड़ता है अथवा उसे मकड़ी के अपने उस केन्द्र की ओर फिर लौटने के सदृश बतलाया है जहाँ से उसने जाले का तानना आरम्भ किया था। उदाहरण-स्वरूप कबीर ने कहा है—गुरु ने अगम की ओर से आती हुई धारा से परिचित करा दिया, उस धारा को उलट कर और उसके साथ स्वामी को मिलाकर उसका स्मरण करो।* यहाँ पर धारा से तात्पर्य Hypastasis की उस धारा से है जिसके द्वारा स्वामी ने मनुष्य का रूप धारण किया है।

इस प्रकार प्रत्येक भूमि की स्थिति में हमारी दशा अनेकरूपिणी हो सकती है क्योंकि एक तो हमें उस भूमि का अनुभव होगा जिसमें हम वर्तमान में स्थित हैं और साथ ही उन भूमियों का भी जो उससे परे की हैं। कारण यह है कि, अपनी वर्तमान स्थिति का अनुभव करते हुए भी हम अपनी प्रथमावस्था से कभी अलग नहीं हो सकते। अपनी वर्तमान स्थिति की विशेषताएं हमें सदा प्रभावित हो करती रहेंगी। अपने भीतर वासनाओं को प्रश्रय देते हुए भी हम अपने ईश्वरत्व का परित्याग नहीं कर सकते, जैसा कि शिवदयाल ने कहा है कि "मेरा राधास्वामी मानसिक भूमि की अवस्था में वासनाओं का अभिलाषी हो गया है।"× इस प्रकार हमारी बाह्य दशा हमारी निम्नतर स्थिति, तथा आन्तरिक दशा उच्च स्थिति हुआ करती है और हमारी स्थिति की नीची छोर स्थूल जगत् को तथा ऊँची छोर आध्यात्मिक भूमि को सदा स्पर्श किये रहती है।

---

* कबीर धारा अगम की सतगुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो, स्वामी संग मिलाय॥
(सं० बा० सं०, पृ० ७)

× मनके घाट हुए अनकामी। असमेरे प्यारे राधास्वामी॥
सार वचन १, पृ० १२।

दादू के शब्दों में "प्रत्येक शरीर में दो दिलों का निवास है जिनमें से एक खाक का बना है और दूसरा ज्योतिर्मय है तथा जिस प्रकार खाक वाला सदा अन्धा होता है उसी प्रकार प्रकाशवाले में सदा भगवान् बसा करते हैं।×

मानवीय स्थिति, कोरी भौतिक भूमि से कुछ भूमियों की ऊँचाई पर है। हममें से बहुत लोग अभी तक उसी भूमि पर हैं जिसे किंग्सलैंड ने सुविस्तृत भूमि कहा है और जिसे सर्व-साधारण मानसिक भूमि कहेंगे। इस भूमि पर हमारे चित्त की स्थिति हमारी सभी प्रकार की कमियों के समष्टि रूप में हुआ करती है जिसमें अधिक स्थूल भौतिक सीमाएँ नहीं पाई जातीं और हमारी आध्यात्मिकता भी बनी रहती है। इन सीमाओं के रहते हुए भी हम लोगों को अपनी उस शुद्ध प्रकृति अथवा उपाधि-रहित तत्व का मानों स्मरण बना रहता है, जो हमारे जीवन-काल के अधिकांश भाग में उपाधियों द्वारा दबा रहता है क्योंकि मन का यह स्वभाव ही है कि वह हमारी स्थिति के दैवी मार्ग के उच्चतर वा आध्यात्मिक अंश को सदा स्पर्श करता रहे। निर्गुणियों के अनुसार इसी स्मरण शक्ति के लिए पारिभाषिक शब्द 'सुरति' है।

यदि हमें अपने प्रत्यावर्तन या आभ्यंतरिक यात्रा में सफल होना है तो हमें चाहिए कि मन को उन उपाधियों से नितांत रहित कर दें जिनकी उसने सृष्टि कर डाली है।

मन में, इस प्रकार, दोनों पक्षों की शक्ति गुप्त रूप से वर्तमान है। कबीर के शब्दों में "मन पर अधिकार न रख सकने के कारण ही हमारी हार होती है। और उस पर विजय प्राप्त कर लेने पर ही विजय होती

× देहीमाहे दोइ दिल, एक खाकी एक नूर।
खाकी दिल सूझै नहीं, नूरी मंझ हजूर॥
सं० बा० सं० पृ० ६२।

है। इसलिए, कबीर कहते हैं कि अपने प्रियतम की उपलब्धि श्रद्धान्वित मन के द्वारा ही संभव है।"※

मनुष्य यदि प्रयत्नशील रहे तो वह अपने मन की सहायता से आध्यात्मिक भूमियों तक ऊपर उठ सकता है, किंतु यदि सावधान न रहा तो इच्छा न रहते हुए भी उसका अधःपतन शीघ्र हो सकता है। भौतिक तत्वों का संसर्ग होने के कारण मन में जड़ता आ जाती है और वह तब तक नीचे की ओर गिरता चला जाता है जब तक इसकी गति को रोककर उसकी दिशा बदलने की चेष्टा न की जाय। इसलिए उस 'खाक'-द्वारा निर्मित मन के लिए आवश्यक है कि वह "ज्योति निर्मित मन को जाग्रत किये जाने के पहले ही मर कर नष्ट हो जाय। वृक्ष बहुत ऊँचा है, उसके फल आकाश में लगे हुए हैं और उन्हें चुने हुए पक्षी ही खा सकते हैं; उनका रसास्वादन केवल वही कर सकता है जो जीता ही मृतक हो जाय।"+ इसी प्रकार मलूकदास भी कहते हैं—बहुत से दिखावटी पीर जो पीरों के भेष में रहा करते हैं, किंतु सच्चा दरवेश वही है जो भगवान् के कोपस्वरूप इस मन को मार डाले।× मन को भगवान् का कोप इसलिए कहा है कि यह मन ही हमें निकृष्ट भौतिकता

※ मन के हारे हार है, मनके जीते जीत।
परमातम को पाइये, मन ही के परतीत॥
क० वा०, पृ० ६६, ६८५।

+ ऊँचा तरुवर गगन फल, बिरला पंछी खाय।
इस फल को तो सो भखै, जीवत ही मरि जाय॥
—सं० वा० सं. १, पृ० ४।

× बहुतक पीर कहावते, बहुत करत हैं भेस।
यह मन कहर खुदास का, मारै सो दुरवेस॥
वही पृ० ९९।

के गर्त में हमारा अधोमुख पतन करा देता है। आत्मा ने अपने ऊपर उपाधियों का आवरण उनसे होकर वा उनके द्वारा कार्य करने के निमित्त चढ़ा रक्खा है। अतएव इसे आत्मा की शक्ति के लिए साधना-स्वरूप होना चाहिए। किंतु जब इसे स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है तो यह काम करना छोड़कर इन्द्रियों को अपनी ओर से उन्मुक्त कर देता है जो वासनाओं-द्वारा उसको भी जाकर इस स्वर्गमयी भूमि को नरक रूप में परिणत कर देता है। कबीर ने कहा है—"मन पाँच कर्मेन्द्रियों के वश में रहा करता है वे इसके वश में नहीं। जिधर देखता हूँ उधर ही दावानल जल रहा है और जहाँ कहीं भी भागना चाहता हूँ, वहीं आँच लगती है।"=

दैवी मन जिसका अधिकार खाक के मन पर नहीं रह जाता अपनी वर्तमान गति से असन्तुष्ट होकर अपने स्वभाव के अनुकूल वस्तुओं की चाह में सदा रहा करता है, किंतु खाक का बना मन अपने स्वभाव के प्रतिकूल बनी वस्तुओं से ही असन्तोष को दूर करने में प्रयुक्त रहता है इसलिए सन्तोष हो भी तो कैसे? इसी बात से उद्विग्न होकर कबीर ने अभिशाप के रूप में कहा है—"इस मथुरानगरी (अर्थात् शरीर) पर वज्रपात हो जाय जहाँ से कृष्ण (आत्मा) को निर्वासित वा असन्तुष्ट होकर जाना पड़ता है।"÷ यद्यपि इस प्यास के बुझाने के साधन हमारे भीतर विद्यमान हैं तो भी आश्चर्य है कि हम उसका उपयोग पूर्ण रूप से नहीं कर पाते; जैसा कि तुलसी साहब ने कहा है—"पानी में रहती हुई भी मछली मर रही है, इस बात को केवल

= मन पाँचों के वसि परा, मन के वस नहि पाँच।
जित देखूँ तित दौ लगी, जित भागूँ तित आँच॥ ६६२॥
'क० की बानी' पृ० ६७।

÷ वजर परौ इहि मथुरा नगरी, कान्ह पियासा रे॥ ७६॥
क० ग्रं०, पृ० ११२।

कुछ चुने हुए तल्लीन संत ही जानते हैं।”>प्यास या असन्तोष तभी जा सकता है जब मन हमारे वश में पूर्ण रूप से आ जाय, जब वह इन्द्रिय जन्य जीवन की दृष्टि से मार दिया जाय और आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से भली भाँति जागरूक रहे तभी स्वयं भगवान् आकर हृदय को अपना निवास-स्थान बना लेते हैं। दादू का कहना है कि, “जब मन भौतिक तत्व की दृष्टि से मृतक बन जाता है और इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं; तभी हमारा मन शरीर के सारे गुणों से रहित होकर निरंजन में लग जाता है।”× कबीर ने भी अपने स्वाभाविक ढंग से कहा है कि जब मन मर जाता है और शरीर शक्तिहीन हो जाता है तो मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ वहीं हरि ‘कबीर-कबीर’ पुकारते पीछे लगे फिरते हैं।√

अतएव यह बहुत आवश्यक है कि मन की प्रवृत्तियों को बहिर्मुख से अंतर्मुख करा दिया जाय। सभी प्रकार की बाह्यपूजाएँ जिनके द्वारा बहिर्मुख वृत्तियों को सहायता व उत्तेजना मिल सकती है इसी कारण बन्द ही नहीं, वरन् पूर्णतः तिरस्कृत की जानी चाहिए। जब उस धर्म के द्वारा, जिसका मुख्य प्रयोजन मनोनिहित विषयों पर विजय प्राप्त करना है, मन पर और भी बन्धन होने लगे तो हम उसकी मुक्ति की आशा क्या कर सकते हैं? मूर्ति की गणना तो उस सूची में की गई है जो निकृष्ट

> पानी में मीन पियासी। जानत कोई संत बिलासी॥
शब्दावली २, पृ० १६८।

× जब मन मृतक ह्वै रहै इन्द्री बल भागा।
काया के सतगुरु तजै, नीरंजन लागा॥ १२८॥
बानी १ म, पृ० ११४।

√ कबीर मन मिरतक भया, दुरबल भया सरीर।
पाछे लागे हरि फिरै, कहै कबीर कबीर॥
सं० बा० सं०, भा० १, पृ० ४८

पदार्थ है और उसके अनन्तर ही पैगंबरों व अवतारों के नाम आते हैं। जो धार्मिक संप्रदाय वाह्य विधानों को महत्त्व दिया करते हैं उन्हें भी निर्गुण पंथ ने नहीं छोड़ा है। संन्यासियों की इस प्रथा को लक्ष्य कर कि वे बालों को मुड़ा लिया करते हैं, कबीर ने कहा है कि "यदि बाल मुड़ाने से ही भगवान् की प्राप्ति हो तो सभी मुड़ाकर उसे पा सकते हैं, किन्तु भेड़ें बार-बार मुड़ाई जाने पर भी स्वर्ग तक नहीं पहुँच पातीं। बालों ने अपराध ही क्या किया है, जो उन्हें बार-बार मुड़ाते हैं, उस मन को ही क्यों नहीं, मूंड़ते जो विकारों से भरा हुआ है।* इसी प्रकार धरनी भी कहते हैं—"जबतक मन वास्तविकता को भली भाँति ग्रहण नहीं कर लेता तब तक कुमति का द्वार टूट नहीं सकता और न तुम्हें मुक्त करने के लिए भगवत्कृपा का प्रयोग ही हो सकेगा। तबतक तुम व्रतपालन अथवा तीर्थयात्रा के भ्रम में पड़ कर अपने को क्यों भटकाते फिर रहे हो? तुम अपने मन को पूजागृह, मूर्ति एवं मसजिद में लगाकर धोखे में डाल रहे हो। केवल दान देने, प्रतिदिन पुराणादि सुनने से ही तुम्हें भवसागर पार करने में सहायता नहीं मिल सकती। धरनी कहते हैं कि नावरूपी वास्तविक ज्ञान का मन में प्रवेश करना ही केवल तुम्हें पार लगायेगा। यदि तुम भक्ति के साथ उसका आश्रय ग्रहण करोगे"।+ दादू के शब्दों

---

* मूँड़ मुँड़ाए हरि मिलें, सब कोई लेइ मुँड़ाय।
बार-बार के मूँड़ते भेड़ न बैकुंठ जाय॥ ३६१॥
केसन कहा बिगाड़िया, जो मूँड़े सौ बार।
मन को क्यो नहिं मूड़िये, जा मे भरे विकार॥ ३६२॥
क० की बानी, पृ० ३६।

\+ जौलों मन तनु नाहि पकरै।
तौलों कुमति विकार न टूटै, दया नहीं उघरै॥
काहे को तीरथ बरत भटकि मरै भ्रम थकि थकि थहरै।

में "मन्दिर वा मसजिद में जाने की कोई भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वास्तविक मन्दिर और मसजिद अपने हृदय के ही भीतर हैं जहाँ भगवान् की सेवा या सिजदा किया जा सकता है" ।× इसी प्रकार मन भौतिक प्रवृत्तियों से रहित होकर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने योग्य बनेगा। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार आत्मा ने देश-काल एवं कार्य-कारण के नियमों की मर्यादा अपने ऊपर डालकर अपने को माया में फँसा रक्खा है उसी विपरीत ढंग से उसे क्रमशः मुक्त कर अपने मूलरूप में लौटा जाना होगा। दादू ने भी कहा है कि "सुरति को परिवर्तित कर उसे आत्मा के साथ मिला दो।"+

अपने से ऊँची अवस्था में भी हमें सुरति की सहायता अपेक्षित है। वहाँ भी हमें चाहिए कि इसे पकड़े रहें, क्योंकि वहाँ भी मर्यादाएँ, जो सापेक्षरूप से कम ही क्यों न हों, अवश्य वर्तमान हैं और उन्हें भी उसी प्रकार पार करना पड़ेगा जिस प्रकार यहाँ नीचे की ओर हमें स्थूल परिस्थितियों को पार करना पड़ता है। प्रत्येक भूमि की अवस्था में हमें दुहरी स्थिति का अनुभव होता है और यदि हम सुरति को भूल जायेंगे जो वास्तव में ईश्वरीय स्थिति का बोधक है, तो हमारा ऊपर का उठना अवश्य बंद हो जायगा। और सम्भव है कि हम नीची भूमियों तक गिरें

मंडप महजित मुरति सुरति करि धोखहि ध्यान धरै ॥
दान विधान पुरान सुनै नित तो नहि कांज सरै।
धरनी भव जल तत्तु नावरी चढ़ि चढ़ि भक्त तरै ॥
बानी, पृ० २३।

× यहु मसीत यहु देहरा, सतगुरु दिया दिखाइ।
भीतर सेवा बंदगी, बाहरे काहे जाइ ॥ ५४ ॥
बानी भा० १, पृ० १७४।

+ सुरति अपूठी फेरि करि, आतम माहे आणि ॥
सं० बा० सं०, भा० १, पृ० ८१।

भी जायँ। इस प्रकार जब तक धीरे-धीरे ऊपर उठते हुए हमें उस स्थिति की अनुभूति न होने लगे जहाँ पर सुरति केवल स्मृति के रूप में ही न रहकर उस भगवत्तत्व की पूर्णता में विलीन हो जाती है, तबतक सुरति की उपेक्षा उचित नहीं कही जा सकती। सुरति के अभ्यास और अनुशीलन में ही हमारा वास्तविक कल्याण है।

इन्द्रिय परक जीवन से मुक्ति पाने की आवश्यकता आध्यात्मिक जीवन वा प्रत्यावर्त्तन की मात्रा को हमारे लिए कबीर के अनुसार इतना कठिन बनाती है जितना सूली के ऊपर नटविद्या का

२. मध्यममार्ग

अभ्यास करना है क्योंकि उसमें यदि खिलाड़ी पृथ्वी पर गिर पड़े तो, उसे दर्शकों द्वारा नष्ट कर दिया जाना तक सम्भव हो सकता है।* क्योंकि साधक यदि आदर्श शुद्ध जीवन व्यतीत न कर पाये तो, उसे निश्चय ही अपनी उन संसारी काल्पनिक वासनाओं का शिकार होना पड़ेगा जो उस पर अचानक टूट पड़ने की ताक में रहा करती हैं और, यदि ऐसा हो जावे तो, आध्यात्मिक जीवन का नाश अवश्यम्भावी है।

अनेक सम्प्रदायों ने उक्त स्थिति से बचने के लिए बड़े विषम साधनों की व्यवस्था की है। इन्द्रिय परक जीवन से अपने मन को दूर करने के लिए तप के अभ्यास और सांसारिक प्रलोभनों से विरत होकर आश्रमों वा वनों में गमन का आश्रय लिया जाता है। मध्ययुगीन ईसाई संतों के लिए कहा जाता है कि वे अपने शरीर को बड़ी निर्दयता के साथ पीड़ित करते थे। हिन्दू लोग तो ऐसी मृत्यु तक का आवाहन करते थे जो आरों द्वारा शरीर के दो टुकड़ों में चीरने के कारण होती हो और वह स्थान जहाँ पर यह कार्य कीस

---

* कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरिनाम।
सूली ऊपर नटकला, गिरनो नाही ठाम॥
क॰ ग्रं॰, ०७, २९

लेकर किया जाता था आज भी काशी में दिखलाया जाता है। मनुष्य की विष्ठा, खाने तथा उसके मूत्र का पान कर जाने की क्रिया एवं पात्र की जगह मनुष्य की खोपड़ी में भोजन करने की प्रथा जो अघोर-पंथियों में प्रचलित है, वह भी इन्द्रियों का दमन करने के लिए ही चली थी। हाँ, ऐसा कठोर शासन उन पर इसलिए किया जाता था कि वे अपने पूर्ण अधिकार में आ जायँ और घृणित से घृणित वस्तु भी उनके द्वारा गर्हणीय न जान पड़े।

इसके विपरीत ऐसे सम्प्रदायों की भी कमी नहीं, जो इससे नितांत प्रतिकूल मार्ग का अवलम्बन करते हैं और इन्द्रियपरक जीवनयापन के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की व्यवस्था देते हैं क्योंकि उनके मंतव्यानुसार कभी न कभी वह भी समय आ सकता है जब हम कह उठें कि "अब पूर्ण तृप्ति हो गई, अधिक नहीं।" इस प्रकार के संप्रदायों का उद्देश्य उनके प्रति,अतिरेक-द्वारा ही अरुचि उत्पन्न करना होता है। इन संप्रदायों में कुछ तांत्रिक मत भी हैं जो अपने अस्तित्व के लिए आज कुछ अन्य बहाने भी निकालने लगे हैं।

परन्तु सत्य का अनुभव अति मात्राओं में कभी नहीं हुआ करता और उक्त दोनों में से कोई एक भी अतिरेकता हमें सत्य तक पहुँचाने में सहायक नहीं हो सकती। दूसरी अति मात्रा की असत्यता तो स्वयं सिद्ध है और यह हास्यास्पद भी है। इससे तो "वृद्धा वेश्या तपस्विनी" अर्थात् बूढ़ी वेश्या का तपस्विनी बन जानेवाली संस्कृत कहावत का स्मरण हो आता है। ऐन्द्रिक जीवन में कोई भी अतिपूर्ति का अनुभव नहीं कर सकता जब तक इन्द्रियाँ निरर्थक नहीं हो जातीं और इन्द्रियपरक जीवन के यापन करने का उस समय महत्त्व ही क्या रह गया जब अपनी इच्छा के अनुसार हम उसका उपभोग नहीं कर सकते और न इस प्रकार अपने आध्यात्मिक जीवन में उसका कोई उपयोग ही सिद्ध होता है। कोई भी नहीं चाहेगा कि मैं अपनी आध्यात्मिक दशा को अशक्त वा जीर्ण-शीर्ण

रूप में परिणत कर दूँ। दोष इन्द्रियों में ही नहीं वल्कि उस मन के भीतर है जो सारी वासनाओं की उत्पत्ति का मूल स्थान है और जो इन्द्रियों को दुष्कर्म करने के लिए सदा प्रेरित किया करता है।

पहली अति मात्रा भी, जो यद्यपि बहुत व्यवहार्य जान पड़ती है, सत्य से कहीं दूर है। यह मुख्य समस्या का हल उसकी ओर से आँख बचा कर करना चाहती है, प्रलोभनों से भाग कर ही उनसे अछूता रहना चाहती है और वासनाओं के उत्पादक मन का केवल अनुसरण मात्र करनेवाली इन्द्रियों को अशक्त बनाकर ही इन्द्रियपरक जीवन से मुक्त होना चाहती है। किन्तु ये मार्ग सर्वथा निष्फल हैं। वनों में भाग निकलना या आश्रमों का आश्रय ग्रहण करना धोखा देना है। कोई भी बिल्ली किसी तोते को केवल इसीलिए मारने से नहीं रुक सकती कि तोते ने आगामी संकट की ओर से अपनी आँखें मूँद ली हैं। जब किसी को किसी वस्तु के सम्मुख आने का ही अवसर नहीं आया तो उसका उस पर विजय लाभ कर लेना कैसे कहा जा सकता है, सम्भव है कि वह उनके द्वारा अधिक सुगमता के साथ अभिभूत हो जाय यदि उनके समक्ष आने का कभी अवसर आ जावे। प्रलोभनों-द्वारा किसी के अस्पृष्ट रह जाने तथा स्थूल इन्द्रियों की सीमा के बाहर जाने की मुख्य पहिचान तभी हो सकती है जब हम इन प्रलोभनों के बीच रहते हुए भी इनसे अछूते रह जायँ।

अतिमात्राओं की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ लगानेवाले लोगों के प्रति सर्वप्रथम महात्मा गौतमबुद्ध ने बतलाया था कि सत्य का पाना उनके द्वारा नहीं, बल्कि मध्य मार्ग-द्वारा ही सम्भव है। उन्होंने कहा था कि वीणा के तारों को यदि अधिक कस दिया जाय तो वे टूट जायँगे और यदि उन्हें ढीला रक्खा जाय तो उनसे कोई स्वर नहीं निकल सकता। इसलिए उन्होंने दोनों अति मात्राओं का परित्याग करने की सलाह दी थी। अत्यधिक खिंचाव अथवा अधिक ढीलापन न रहने पर ही वह

अजम्य स्थिति आ सकती है जिससे वीणा के तारों द्वारा संगीत का स्वर संवादन निकल सके और यही दशा हमारे विपंची रूपी इस शरीर की भी है, यदि इस मंत्र द्वारा आध्यात्मिक स्वरैक्य को जाग्रत करना है तो न तो इसे उपवासों वा क्लेशों द्वारा नष्ट कर देना आवश्यक है और न कुत्सित इन्द्रिय-जन्य विषय-भोगों का साधन होने देना है। इस बात में निर्गुणियों का गौतमबुद्ध के साथ पूरा मतैक्य है। दादू कहते हैं—"हमारा उच्च विचार तो इस प्रकार का है कि हम सांसारिक बातों को न ग्रहण करें और न परित्याग कर दें, हम लोग मध्यमार्ग पकड़ कर ही मुक्ति के द्वार तक पहुँचना चाहते हैं।" ×

यह मध्य वा बीच का मार्ग, जिसे हम जानते हैं कि निर्गुण संप्रदाय-वालों ने बौद्ध धर्म के सिद्धांतों से लिया था, स्वभावतः वज्र के साथ युद्ध करने के समान है। यह मार्ग इतना मानकर चलता है कि जगत् का सापेक्ष्य दृष्टि से अस्तित्व अवश्य है और उसके विरुद्ध हमें कार्य करना है। जगत् के स्वप्निल रूप के कारण किसी को धोखा न होना चाहिए कि इसके विरुद्ध हमें तैयार नहीं रहना है। स्वप्न भी जब तक वर्तमान रहता है, किसी न किसी दृष्टि से सच्चा ही कहलायेगा। सापेक्षिक सत्यता का प्रभाव हमारे ऊपर तब तक वर्तमान रहता है जब तक हम अंतिम सत्य को साक्षात् नहीं करते। हाँ, जब अंत तक लड़कर हम लोग जगत् संबंधी सचाई की सापेक्षता सिद्ध कर लेते हैं और इस प्रकार शाश्वत् सत्य को उपलब्ध भी कर लेते हैं तो उस समय जगत् का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। किंतु तब तक हमारा युद्ध चलता ही रहेगा। पलायन वृत्तिवालों को कबीर ने नीचे लिखे शब्दों द्वारा

× ना हम छाड़ें ना ग्रहैं, ऐसा ज्ञान विचार।
मद्धि भाव सेवै सदा, दादू मुकति दुवार।।
बानी भा० १, पृ० १७०।

फटकारा है—"तुम एक क्षण के लिए भी जगत् के समक्ष न आकर असत्य के बंधन का ही निर्माण कर रहे हो; तुम्हारी बातें धोखे से भरी हैं और वासनाओं से लदी हैं, जब तक तुम इन्हें सिर पर लिये हो तब तक इनसे भिन्न प्रकार हो सकते हो। अपने भीतर सत्य, अनासक्ति और प्रेम के भाव सदा जाग्रत रक्खो।*

पलायन वृत्तिवालों का मार्ग कायरों का मार्ग है और भगवान् के मार्ग का अनुसरण करनेवालों के लिए नितांत अनुचित है। इस मार्गवालों को जगत् के आमने-सामने रहकर उसे निरपेक्ष भाव से देखना और उससे लड़ते हुए मुक्ति की ओर आगे बढ़ना है। उसके भीतर का अंतर्द्वंद्व बाहर युद्ध करनेवाले शूरवीर की लड़ाई से कहीं अधिक भयानक होता है। इस शरीर के भीतरी युद्धक्षेत्र में काम, क्रोध, मद एवं लोभ के साथ निरंतर युद्ध चल रहा है, वह युद्ध सत्य, संतोष व पवित्रता के राज्य में हो रहा है और जिस तलवार की झंकार सबसे अधिक सुन पड़ती है वह भगवन्नाम की है। सत्य की खोज करने वाली यह लड़ाई बहुत कड़ी और थका देने वाली है क्योंकि सत्य के खोजी का प्रण किसी शूर-वीर या सती के प्रण से दृढ़ हुआ करता है। शूर-वीर केवल कुछ ही क्षणों के लिए युद्ध करता है, और सती का युद्ध मृत्यु के साथ समाप्त होता है, किंतु सत्यान्वेषी की लड़ाई रात-दिन तब तक चलती रहती है और बंद नहीं होती जब तक उसका जीवन वर्तमान है।×

निर्गुणी का काम वास्तव में, एक शूर-वीर का काम है। चरनदास के शब्दों में उसे यहाँ संसार में उसी प्रकार रहना है जिस प्रकार कमल कीचड़ व पानी में उत्पन्न होकर भी उससे लिप्त नहीं होता बल्कि

---

* टैगोर: 'हंड्रेड सांग्स आव् कबीर', ६१।

×-टैगोर: हंड्रेड सांग्स, ३७।

अछूता रह जाता है।* उसे वर्ड्सवर्थ के उस बुद्धिमान वर्ग में गिनना चाहिए जो ऊँचे उड़ते हुए भी कभी इधर-उधर नहीं भटकते और अपने घर एवं स्वर्ग इन दोनों के प्रति समान रूप से सच्चे होते हैं। एक प्रकार से सभी निर्गुणी संतों ने गार्हस्थ्य जीवन ही व्यतीत किया। नानक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "सतगुरु की इस बात में बड़ी महत्ता है कि मैंने बाल-बच्चों में रहते हुए भी मोक्ष पा लिया।"+

जिसके विचार में संसार और उसके प्रलोभनों के विरुद्ध वैराग्य वा अनासक्ति से अभिप्राय बाहरी जीवन के कतिपय विधानों जैसे, गेरुए वस्त्र का पहनना, मठों में रहना, आदि से ही है वे इस बात पर हँस देंगे। परंतु वास्तव में, अनासक्ति का तात्पर्य बाहरी रहन-सहन नहीं, बल्कि अपने मन की एक प्रवृत्ति विशेष है। यह एक आभ्यंतरिक दशा है जिसमें इस प्रकार के विहित वैराग्य से भी अनासक्ति रहा करती है। विहित वैरागी को भी संसार से उतनी ही निश्चित आसक्ति हो सकती है जितनी एक गृहस्थ को होगी और एक गृहस्थ भी उतना ही अनासक्त रह सकता है।= वास्तव में वही यथार्थ रूप से अनासक्त कहला सकता है जो आसक्तियों के बीच रहता हुआ भी अपनी अनासक्ति कायम रख सके।

---

* जग माहीं ऐसे रहो, ज्यौं अम्बुज सर माहि।
रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नाहि॥
सं० बा० सं० भा० १, पृ० १४८

\+ सतिगुरु की असी वड़ाई, पुत्र कलत्र विचै गति पाई।
—'ग्रन्थ साहब' पृ० ३५७

= गावणही में रोवणा, रोवण ही में राग।
एक वैरागी ग्रह में, इक ग्रही में बैराग॥
क० ग्रं०, पृ० ५६

बाबालाल ने इसकी पुष्टि में मौलाना रूमी को उद्धृत किया है। संसार क्या है ? वस्त्र, धन, स्त्री और बच्चे नहीं, किंतु परमात्मा का विस्मरण ही संसार है।* ये हमको बंधन में नहीं डालते बल्कि इनके प्रति हमारी प्रवृत्ति ही ऐसा करती है। यदि हम अपने हृदय को ईश्वर में लगाये रहें और इनके प्रति शुद्ध मनोवृत्ति रख सकें तो ये हमारे आध्यात्मिक विकास में बाधा नहीं पहुँचा सकेंगे। जैसा दादू ने कहा है, 'अपने शरीर को संसार में रखते हुए भी अपने मन को राम में लगा दो, कष्ट, विपत्ति अथवा मृत्यु की ज्वाला कोई भी तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकेंगे।×

परंतु यद्यपि निर्गुणी अपने परिवार का त्याग करने को बाध्य नहीं तो भी उसे पारिवारिक जीवन का उपभोग नहीं करना चाहिए। वह अपने पुत्र-कलत्र के साथ रहे। उसे अधिक संतति की वृद्धि करना इष्ट नहीं है। यदि वह ऐसा करता है तो वह अनासक्त नहीं और न वह वीर्यरक्षा के महत्व को ही समझता है जिसके लिए निर्गुण संप्रदाय ने इतना जोर दिया है। प्रलोभनों के बीच रहते हुए उनसे अभिभूत न होना निस्संदेह एक कठिन काम है। संसारी माया के आकर्षण नित्य-भिन्न और दुर्निवार्य हुआ करते हैं। हमारे कानों में वह सदा कहा करती है, 'जरा इधर देखो, जितना सोना चाहो ले लो, सुन्दरी स्त्री ले लो, सभी विद्याओं में निपुण पुत्र ले लो, और यदि इच्छा हो तो, सारी पृथ्वी का राज्य अथवा अष्टसिद्धियाँ भी ले लो, तुम्हारे लिए नवो निधियाँ भी प्रस्तुत हैं। मै इन्हें तुम्हें बिना माँगे ही दे देती हूँ। ये मनुष्यों व देवताओं के लिए भी दुर्लभ हैं और इनके लिए प्रार्थना करने पर त्रैलोक्य

---

* विल्सन हिन्दू रिलीजस सेक्ट्स, पृ० ३५०।

× देह रहै संसार में, जीव राम के पास ॥
दादू कुछ व्यापै नहीं, काल झाल दुख त्रास ॥
सं० वा० सं० भा० १, ९२।

के राजा लोग भी नहीं पा सकते।"* ऐसे प्रलोभनों के बीच निवास करते हुए भी इनसे अछूता रह जाना अलौकिक शक्ति-द्वारा ही संभव हो सकता है। किंतु वह शक्ति निर्बल मानव को कहाँ से उपलब्ध हो सकती है?

निर्गुणी तुरंत उत्तर देगा, 'राम की भक्ति और उनकी शरण में संभव है'। पहले यह काम इतना कठिन जान पड़ता है मानों नितांत असंभव सा है। किंतु ऐसी बात नहीं है, जब निरंतर अभ्यास करते-करते हमारी स्मृति अथवा आदिम आध्यात्मिक पिपासा संयोग के लिए तीव्र अभिलाषा में परिणत हो जाती है, तब यह भीतरी युद्ध आसानी से जीत लिया जाता है, क्योंकि सारी चेतन शक्ति प्रेमपात्र की ओर ही केन्द्रित हो जाती है और इन्द्रियाँ आपसे आप आज्ञापालन में निरत होने लगती हैं।× इसलिए निर्गुणी अपने हृदय को अभिलाषा की अग्नि द्वारा प्रज्वलित कर देने का प्रयत्न करता है। राधास्वामी संप्रदाय की प्रार्थना-मण्डलियों में जिसमें प्रत्येक उपस्थित व्यक्ति अभिलाषा की उत्कट दशा में लीन रहता है, एक विचित्र दृश्य दिखलायी पड़ता है जिससे कोई दर्शक बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता। कबीर के निराले शब्दों में यह वही तीव्र

---

* नैक निहारि हो माय बीनती करै।
दीन वचन बोलै कर जोरै फुनि-फुनि पाइ परै॥
कनक लेहु जेता मन भावै, कामिनि लेहु मन हरनी।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब धरनी॥
अठ सिधि लेहु तुम हरि के जना, नवे निधि तुम्ह आगे।
सुर नर सकल भुवन के भूपति तेऊ लहै न मागे॥
सं० बा० सं०, पद २६६, पृ० १८०।

× बिरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, पंच पुकारै पीव॥
वही, पृ० ८२, दादू।

उत्कंठा है जो साधक को परब्रह्म के तेज तक पहुँचाकर उसे उसमें लीन कर देने का आश्वासन देती है और जिसके कारण प्रत्येक रहस्यवादी मत, बलपूर्वक इन्द्रियों का दमन करना आवश्यक समझने वाले सम्प्रदायों से कहीं श्रेष्ठ समझा जाता है। घोर नियंत्रणों से प्रतिक्रिया-स्वरूप घोर उपद्रवों का उठ खड़ा होना भी संभव है। उनके द्वारा कुछ समय तक इंद्रियों की भोगने की शक्ति भले ही कम हो जाय, उनसे उन वासनाओं का अंत नहीं हो सकता जो इन्द्रियों को सदा भोगने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। किसी भी आध्यात्मिक साधना की पूर्णता के लिए आवश्यक है कि वह बाह्य लक्षणों के निवारण की चेष्टा करने की जगह उनके मूल रोगों की जड़ को ही दूर करने की चेष्टा करे। कबीर का कहना है कि 'जड़ में पानी दो, सारी शाखाएँ ही पियेंगी।'* और इसी परिपूर्ण भक्ति-प्रणाली के आधार पर उनका दावा उसके फल स्वरूप, परमात्मा को प्राप्त करने का है।+

निर्गुण मत आत्मपीड़न को नहीं पसंद करता। शरीर को कष्ट पहुँचाना भक्तिमार्ग में एक स्पष्ट रुकावट है और इसी कारण, पाप समझा जाता है। शरीर को अपने उद्देश्य की पूर्ति का साधन समझ उसे सुरक्षित रखना नितांत आवश्यक है।= एक भूखा मनुष्य पूरी सेवा नहीं कर सकता। जिस प्रकार कबीर कहते हैं उसी प्रकार नानक का भी कहना

---

* भूखे भगति न कीजे, अपनी माला लीजे।

ग्रंथ, पृ० ३५३।

+ सींचो मूल पिवै सब डारी।

स० बा० सं०, पृ० १२५, ११५।

= कबीर भये है केतकी, भँवर भये सब दास।
जहँ जहँ भक्ति कबीर की, तहँ तहँ राम निवास॥

—क० ग्रं०, पृ० ५३, ११।

है कि जो भोजन नहीं करता और न उसका स्वाद जानता है, वह निर्बुद्धि-भरे द्वैतपन के कारण महान् कष्ट भोगता है। जो वस्त्र नहीं पहनता अथवा, मौन व्रत के कारण, आंतरिक वेदना सहकर अपने को नष्ट करता है वह गुरु-विहोन होकर सोया हुआ है। उसका जागरण किस प्रकार होगा ?* हमें मानव-शरीर से पूर्ण लाभ उठाना चाहिए। कदाचित् हमें वह फिर न मिल सके इस कारण उसे जीर्ण-शीर्ण न कर देना चाहिए। तो भी हमें उसके प्रति अत्यंतानुराग दिखलाना और उसकी सारी भ्रमात्मक प्रवृत्तियों में दत्तचित्त रहना उचित नहीं। इसे अपने वश में भली भाँति रखना आवश्यक है। जैसा कि मनोविश्लेषण के सिद्धांत-वालों का कहना है, वास्तविक निग्रह के निमित्त इनके मूलभूत विकृत मानव स्वभाव को शुद्धतर मार्गों से ले जाकर भगवान् की ओर मोड़ देना अधिक श्रेयस्कर होगा। जो धर्म मनुष्य के इस विकृत स्वभाव का विचार नहीं करता वह सार्वभौम धर्म की श्रेणी तक पहुँचने योग्य नहीं है। उसके सदस्यों की संख्या अधिक हो सकती है, किंतु उसके सच्चे अनुयायी कम ही होंगे।

निर्गुणपंथ इस बात को नहीं भूलता। इसके मूल-स्रोत एवं प्रेरणा दोनों का स्थान हृदय है। निर्गुणी का भगवत्प्रेम शुष्क सिद्धांत नहीं, अपितु स्थायी प्रवृत्ति है। कोई भी सिद्धांत का सच्चा अनुसरण नहीं कर सकता जब तक उसका पूर्ण अनुराग उसके साथ नहीं है। भगवान् से वह उसी तीव्रता के साथ प्रेम करता है जिससे स्त्री अपने पति को, उसी निश्छल भाव से चाहता है जिससे एक बच्चा अपने माता-पिता को

---

* अन्न न खाइआ, सादु गँवाइआ,
वहु दुख पाइआ दूजा भाइआ।
बसत्र न पहिरै, निसि दिन कहिरै,
मौन विगूता, क्यूँ जागै गुरु बिन सूता।
ग्रंथ०, पृ० २५३।

तथा उसी भक्ति के साथ सेवा करता है जैसे एक सच्चा सेवक अपने स्वामी की। उसके इस प्रेम में आत्माभिमान तथा आत्मप्रतिपादन को कोई स्थान नहीं। एक सच्ची और कर्तव्य परायणा स्त्री की भाँति उसे अपने स्वामी की दया में अटूट विश्वास है। जिसे अकथनीय विपत्तियाँ तक दूर नहीं कर सकतीं। उसके अनुसार संसार के प्रपंचों में उसका फँस जाना उसी के कर्मों का फल है। भगवान् अपनी कृपा-द्वारा सभी योग्य सेवकों को गले लगाने के लिए उत्सुक हैं। किंतु हमें अपनी भक्ति के लिए कोई बदला न चाहना होगा। जब तक स्वर्ग की अभिलाषा बनी हुई है तब तक किसी को भी हरि चरणों की शरण प्राप्य नहीं।* जो कोई आशा को निराशा में परिणत कर देता है उसे नानक के अनुसार भगवान् की प्राप्ति हो जाती है।+ वास्तव में 'योग्य बनो, इच्छुक न बनो' ही निर्गुणी का नियम है। निर्गुणी इसी अविचल व एकांतिक प्रेम से अपने स्वामी को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और उसकी कृपा-द्वारा सत्य का प्रत्यक्षीकरण करा लेता है जिसके परिणाम स्वरूप भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य साधन वह ईश्वरीय स्मृति वा सुरति है जिसके साथ कोई व्यक्ति जन्म लिया करता है। बच्चे में वह सबसे अधिक निर्मल समझी जाती है और अंग्रेज दार्शनिक कवि वर्ड्सवर्थ ने उसी की निर्दोषता में इसे प्रतिबिंबित पाया था।

३. आध्यात्मिक वातावरण

जब निर्गुणी फिर से बालक हो जाने की चर्चा करता है तो उसकी दृष्टि में यही तत्व निहित रहता है। जैसे-जैसे मनुष्य सांसारिक स्वार्थपरक कार्यों में निरत होता जाता है वैसे-वैसे आयु के साथ धीरे-धीरे यह स्मृति भी क्षीण होती जाती है। बालकों के

* जब लग बैकुंठ की आसा, तब लग न हरि चरण निवासा॥
क० ग्रं०, पृ० ६६, २४।

+ आसा माहि निरास बुलाये। निहचै नानक करते पाये।
ग्रन्थ, पृ० ४८९।

सरल चित के लिए घास की साधारण पत्तियाँ, तुच्छ फूल जिनका प्रौढ़ मनुष्यों के समक्ष कोई भी मूल्य नहीं और जो उनके पैरों तले कुचल दिये जाते हैं, छोटी-छोटी तितलियाँ, घने-घने कुंज व अन्य ऐसी वस्तुएँ भी सौंदर्य से पूर्ण रहती हैं और उनमें बरबस अतुलनीय आनन्द का उद्रेक उत्पन्न करती हैं। किंतु उसके बाद यह बात नहीं रहती। मनुष्य के हृदय के तार अत्यंत ढीले पड़ जाते हैं और तब प्रत्येक स्पर्श के अनंतर वैसी ही झंकार पैदा नहीं करते और न वह मधुर संगीत ही निकलता है। 'अपने गृह, परमात्मा के निकट से हम लोग ऐश्वर्यमय बादलों की भाँति क्रमशः बढ़ते चले आते हैं। हमारे बचपन में स्वर्ग हमारे चारों ओर घेरे रहता है और ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता जाता है त्यों-त्यों कारागार की छाया उसे आच्छादित करती हुई दीख पड़ती है।' (वर्ड्सवर्थ)।

प्रौढ़ मनुष्य इस कारागार को अपना नैसर्गिक निवास-गृह मानने लगता है, परन्तु वहाँ भी वह कभी-कभी उस ईश्वरीय स्मृति की झलक पा लेता है और उसे उस रहस्यमयी शक्ति के साथ अपने संबंध का एक धुँधला आभास मिल जाता है जो सर्वव्यापिनी शक्ति के पीछे अप्रत्यक्ष रूप से काम किया करती है और इस दशा में वह अपने को संसार के भीतर आत्माभिभूत सा अनुभव करने लगता है। ये झलकें कई कारणों से प्राप्त हो सकती हैं। कभी कभी तो सांसारिक आनंदों का अस्थायित्व और विपत्तियों की क्रूरता इधर प्रेरित करती हैं, किंतु इसकी प्रकृति के अनुकूल वातावरण के अभाव में यह फिर भी विस्मृति में विलीन हो जाती है। ईश्वरीय स्मृति को जाग्रत करने के लिए सांसारिक कष्टों व विपत्तियों की प्रतीक्षा करना बुद्धिमानी का काम नहीं है। संभव है कि इस प्रकार बिगड़े यंत्र द्वारा वह अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ ग्रहण न की जा सके।

उन लोगों के ही साथ का संपर्क सुरति को निश्चित रूप से

जाग्रत करने वाला होता है, जिन्होंने स्मृति की चिनगारी को अग्नि-शिखा के रूप में प्रज्वलित कर रक्खा है तथा जिन्होंने अपने कारागार स्वरूपी संसार की दीवारों को उसके द्वारा जला डाला है। ये साधु लोग हैं। साधुओं के साथ संपर्क होने से एक ऐसे वातावरण की उपलब्धि होती है जो आध्यात्मिकता से ओतप्रोत है और इस कारण आध्यात्मिक विकास के लिए नितांत उपयुक्त है। साधु वस्तुतः ऐसे केन्द्र होते हैं जहाँ से आध्यात्मिकता का स्फुरण हुआ करता है और निर्गुणी लोग इसी कारण उनके विषय में और उनके संग के सम्बन्ध में प्रशंसा की बातें करते हैं। केवल निर्गुणियों की ही बात नहीं, प्रत्येक देश व काल में साधुओं को लोग आध्यात्मिक प्रभाव फैलानेवाले समझते आये हैं। शेख जियाउद्दीन अबू नजीबवास के विषय में प्रसिद्ध है कि खिफत मीना की मसजिद में तवाफ़ करते समय वे सब उपस्थित लोगों के ऊपर दृष्टिपात करते और उनकी दशा की जाँच करने तथा उसपर विचार करने में हद कर देते थे। उन लोगों के पूछने पर कि आप क्या कुछ ढूँढ रहे हैं वे उत्तर दे दिया करते कि खुदा के बंदों पर नजर डालने से खुशी हासिल होती है, मैं उनकी निगाहों की तलाश में हूँ।>

साधु के साथ सत्संग करने में बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति समझी जाती है। जिस प्रकार चंदन का वृक्ष अपने निकटवर्ती वृक्षों को भी सुगंधि व शीतलता प्रदान करता है अथवा भृंगी नाम का कीड़ा, जिस प्रकार, गाकर दूसरे कीड़ों को भी अपना रूप दे देता है उसी प्रकार साधु भी अपने निकट आने वालों को अपना स्वरूप दे देते हैं। कबीर ने कहा है—"साधु के दर्शन से भगवान् का स्मरण हो आता है, अतएव केवल वे ही क्षण अपने जीवन-काल के अन्तर्गत गिनने योग्य हैं, दूसरे

> दि अवारिफ़ुल मआरिफ़, पृ० २७।

तो व्यर्थ ही हैं।"* और फिर—"साधु की देह निराकार के दर्पण की तरह है, यदि अलख को तुम्हें लखना है तो उसे यहीं पा सकोगे।"+ दादू ने भी कहा है कि "साधुओं के प्रसंग-द्वारा परमपद तक हमारे निकट आ जाता है और हम वहाँ सरलतापूर्वक पहुँच सकते हैं। उनका सत्संग कभी निष्फल नहीं जाता।"× और "केवल साधुओं के सत्संग में ही सच्चे प्रेम का स्वाद मिलता है अन्यत्र कहीं ढूँढने पर भी मुझे वह उपलब्ध नहीं हुआ। यदि तुम राम के मिलन के लिए उदास हो तो उन्हीं के निकट खोजो, राम वहीं रहा करते हैं।=

निर्गुणी लोग सचमुच किसी संयोग से साधु के संपर्क में आ जाने को भगवान् की दया का प्रारम्भ समझा करते हैं। दादू का कहना है कि—"साधु के संपर्क में आने पर ही अपने हृदय में भगवान् के प्रति

---

* कबीर दरसन मात्र का साईं आवै याद।
लेखे में सोई घड़ी बाकी के दिन वाद॥ २०॥
सं० बा० सं०, पृ० २८।

+ निराकार की आरती साधोंही की देह।
लखा चहै जो अलखको इनही में लखि लेह॥ १९ वही।

× दादू नेड़ा परम पद, साधू संगति माँहि।
दादू सहजैं पाइए, कबहूँ निरफल नाँहि॥ १४॥
बानी, पृ० १५९।

= दादू पाया प्रेम रस, साधू संगति माँहि।
फिरि फिरि देखे लोक सब पाया कतहूँ नाँहि॥ ३३॥
वही, पृ० १००।

राम मिलन के कारणे, जो तू खरा उदास।
साधू संगति सोधि ले, राम उन्ही के पास॥ ११५॥
वही पृ० १६८।

प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, साधु की संगति साहिब की कृपा का ही परिणाम है।"÷

इस प्रकार इहलौकिक मानव के लिए साधुओं के महत्त्व का बहुत बड़ा विस्तार है। साधु भगवान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। "साधु का दर्शन स्वयं भगवान के ही दर्शन के समान है, दोनों में कुछ भी अंतर नहीं। साधु एवं साहिब ये दोनों मनसा वाचा कर्मणा एक ही है।"× और कबीर फिर और जोरों के साथ कहते हैं कि– "हरि से प्रेम करने की अपेक्षा हरिजन से ही प्रेम करो। हरि तुम्हें धन दौलत देंगे, किन्तु हरिजन तुम्हें स्वयं हरि को ही दे देगा।"ꕥ

ऐसे भी लोग हैं जो किसी आकृति के बिना काम नहीं चला सकते, उन्हें वंदन व पूजन के लिए मूर्ति की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे लोगों के लिए कबीर का उपदेश है कि वे मूर्ति की जगह साधु को ही समझ लेवें।+ इस प्रकार, उनके अनुसार, उन्हें उस रूप की उपलब्धि

÷ साधु मिलै तब ऊपजै, हिरदै हरि का हेत।
दादू संगति साधु की कृपा करे तब देत॥ १६॥
वही पृ० १५६।

× साधु मिले साहिब मिले, अन्तर रही न रेख।
मनसा वाचा कर्मना, साधू साहिब एक॥ २१॥
सं० बा० सं०, पृ० २८।

ꕥ हरि से तू जनि हेत कर, करि हरि जन सो हेत।
माल मुलुक हरि देत है, हरिजन हरि ही देत॥ १८॥
वही पृ० २८।

+ जो चाहै आकार तू साधू परतिप देव।
निराकार निज रूप है, प्रेम भक्ति से सेव॥ ३४६॥
कबीर बानी, पृ० ३५।

हो जायगी जिसकी आवश्यकता का वे अनुभव किया करते हैं और साथ ही उनके समक्ष एक आध्यात्मिक शक्ति का संचालन करनेवाला यंत्र भी विद्यमान रहेगा जिससे वे अपने अभीष्ट बल का संचय कर सकेंगे। मूर्ति व बाह्य पदार्थों की उपासना-द्वारा मन की बहिर्मुखी वृत्ति जाग्रत रहा करती है और इसी कारण उसका अभ्यास ठीक नहीं कहा जा सकता, किंतु साधु सारी मानसिक प्रवृत्ति को जड़ता को हिलाकर दूर कर देता है और उसे अंतर्मुखी भी बना देता है। इतना ही नहीं, वे इस भूतल पर भगवान् के अवतार भी माने जाते हैं। यदि सारे बाहरी विधान एक में मिला दिये जायँ तो भी वे साधु की संगति के प्रभाव की बराबरी नहीं कर सकते। जैसा दयाबाई ने कहा है—साधु का सत्संग करोड़ों यज्ञों, व्रतों व नियमों के समान है, वह विषय-वासना को पूर्णतः दूर कर शांति का सुख देता है।"* लोग तीर्थयात्रा के लिए व्यर्थ ही जाया करते हैं; दादू कहते हैं कि—"शरीर में अगणित कर्मों को धोने के लिए तुम पवित्र स्थानों पर जाया करते हो, किन्तु जो कर्म तुम वहाँ करते हो उसे कहाँ धोओगे?"= परन्तु पलटू को तीर्थयात्रा में एक लाभ दीख पड़ता है उनका कहना है कि—"तीर्थ-यात्रा करना तो अपराध है किन्तु, यदि उससे कोई लाभ है तो इतना ही कि उसके द्वारा तुम्हें साधुओं की संगति मिल सकती है।"×

---

* कोटि यज्ञ व्रत नेम तिथि, साध संग में होय।
विषय व्याधि सब मिटत है, सांति रूप सुख जोय।
मं० बा० सं० १, पृ० १७८।

= कायाकर्म लगाय करि, तीरथ धोवै जाइ।
तीरथ माँहि कीजिए, सो कैसे कहि जाइ। १२७ बानी, पृ० १५९

× पलटू तीरथ के गए, बड़ा होत अपराध।
तीरथ में फल एक है, दरस देत है साध॥
सं० बा० सं० १, पृ० २१८।

इस प्रकार तीर्थ-यात्रा की सफलता वहाँ पर साधुओं के साथ सत्संग करने पर ही अवलंबित है, नहीं तो उससे स्पष्ट हानि है। जिस जगह पर साधु रहा करते हैं वहीं स्थल पवित्र है और वहीं पर लोगों को तीर्थ-यात्रा के लिए जाना चाहिए। दादू कहते हैं कि "साधुलोग उस बड़े दरबार की ओर से उपहार वितरण करते हैं इसलिए जहाँ कहीं भी ये रहें वहीं पर तुम राम-रस का स्वाद पा सकते हो।"×

परन्तु सच्चे साधू को पहचानने में एक व्यावहारिक कठिनाई आ पड़ती है। साधू इसलिए साधू नहीं समझा जा सकता कि वह कुछ विशेष ढंग के वस्त्र या चिह्न धारण किये है, बल्कि, केवल इस कारण कि, उसने आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त कर लिया है जो ऊपर से लक्षित होने की बात नहीं है। किन्तु निर्गुण लोगों ने कुछ स्पष्ट चिह्न भी बतला दिये हैं जिनके द्वारा हम एक सच्चे साधू को झूठे साधू से अलग कर सकते हैं।

सबसे पहला विलक्षण भाव साधुओं में यह पाई जाती है कि वे अपनी स्थूल प्रकृति पर विजय प्राप्त कर एक मानसिक संतुलन की स्थिति में पहुँच जाते हैं जिसके सामंजस्य में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। वह किसी प्रकार भी सांसारिक प्रलोभनों-द्वारा प्रभावित नहीं होता। वह मेरा और तेरा के स्तर से ऊँचा होता है और स्तुति एवं निन्दा उसके लिए एक समान हैं। न तो वह प्रशंसा सुनकर आह्लादित होता है और न निंदा से नाराज ही होता है। उसमें धैर्य की अपार शक्ति रहा करती है जिस कारण केवल शारीरिक कष्ट ही नहीं, अपितु, अनेक अपमानों को भी वह सहन कर लेता है। किसी पाखंडी को जो बिना आवश्यक अनुभव के भी अपने को साधु होना प्रदर्शित करता है और जिसमें सहिष्णुता की शक्ति नहीं, कबीर ने संबोधित करके कहा है

× दादू दत दरबार का, को साधू बाँटै आइ।
तहाँ राम रस पाइए, जँह साधू तहँ जाय ॥ १०१ ॥
बानी १, पृ० ६७।

कि–"मैने समझा था कि तुम प्रेमरस में मग्न हो और भगवान् में लीन रहा करते हो, किंतु देखता हूं कि यह सच नहीं है ; तुम तो मेरे मुँह से निकली हुई हल्की साँस के स्पर्श से ही सर्प की भाँति जग उठे हो।"=

दूसरों की धारणा को अपने प्रतिकूल कर देने की यह प्रवृत्ति जो मनुष्य में जनित होती है, कबीर के अनुसार सिद्ध कर देती है कि, उसे अपनी वासना, इच्छाशक्ति एवं कल्पना पर अधिकार नहीं है जिससे स्वयं अपने ही बन्धन के लिए वह एक जाल सा बुन लिया करता है। सच्चा साधू वही है जिसने इन शक्तियों को अपने वश में कर लिया है। ऐसा साधू ही सबके साथ समान व्यवहार कर सकता है चाहे कोई उसके निकट सद्भाव और सम्मान लेकर आवे और चाहे ईर्ष्या वा अपमान प्रदर्शित करने की नीयत से कीचड़ उछालता हुआ। दूसरे लोगों के लिए दोनों प्रकार के व्यवहारों में महान् अन्तर जान पड़ता है, किन्तु सच्चे साधू की दृष्टि में इनका कोई भी महत्त्व नहीं। साधू दोनों के प्रति समान सद्भाव प्रदर्शित करता है। यह दूसरी बात है कि जो मनुष्य विक्षेप की भावना के साथ आवेगा वह उससे कोई लाभ न उठा सकेगा। यह उसका दुर्भाग्य है कि यद्यपि उसके समक्ष स्वर्गीय ऐश्वर्य पड़ा हुआ है तो भी वह उसमें से एक साधारण अंश का भी उपभोग नहीं कर सकता। कबीर का कहना है कि–'साधू को रत्नों से भरा हुआ समुद्र समझो, अभागे उसमें हाथ डालते हैं तो उन्हें बालू व कंकड़ ही मिला करता है।'÷

= हम जाना तुम मगन हो, रहे प्रेम रस पागि।
रंचक पवन के लागते, उठे नाग से जागि॥ ३६५॥
क० वा०, पृ० ३७।

÷ साधु समुंदर जानिए, याही रतन भराय।
मंद भाग मूठी भरै, कर कंकर भरि जाय॥ ३४३॥
वही पृ० ३५।

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ पहुँचता है उसे आध्यात्मिक भोज में सम्मिलित होने का आनन्द मिलता है किंतु जो कोई बिना श्रद्धा के आता है उसे परमार्थतः भूखा ही लौट जाना पड़ता है। इसमें साधु का कोई दोष नहीं, क्योंकि उसका जीवन तो अनवरत दान का ही जीवन है। कबीर कहते हैं कि—"साधु लोग बादलों की भाँति उपकारी हुआ करते हैं। वे दयाकी वृष्टि करके दूसरों के तापों को अपने संसर्ग-द्वारा शान्त कर देते हैं।× वृक्ष अपने फलों को आप नहीं खाया करते और न नदी अपने उपभोग के लिए पानी ही रक्खा करती है। ऐसे ही साधु दूसरों के लिए ही शरीर धारण करते हैं।"※

साधु को स्वयं किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह अपने भीतर एवं चारों ओर सर्वत्र भी उसके अस्तित्व का अनुभव करता है जो सबका दाता है। उसे इसी कारण किसी भी आर्थिक लाभ की अभिलाषा नहीं। "द्रव्य की लालसा में इधर-उधर भटकने वाला कभी साधु नहीं कहला सकता।"+ साधु कभी उस यश के लिए भी नहीं मरता जो मिल्टन के अनुसार उदार चेताओं तक की दुर्बलता का कारण बन जाता है। वह इस बात के लिए बहुत सचेष्ट नहीं होता कि उसके

× साधु बड़ परमारथी, घन ज्यों बरसे आय।
सपन बुझावै और की, अपनो पारस लाय॥ ३२६॥
वही, पृ० ३२।

※ वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥ ३२७॥
—वही, पृ० ३३।

+ साधु भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं।
धन का भूखा जो फिरे, सो तो साधू नाहिं॥
वही, पृ० ३४।

इर्द गिर्द अनेक शिष्यों का जमवट एकत्रित हो जाय और इस प्रकार उसके बड़प्पन व प्रभाव में वृद्धि किया करे। उच्च से उच्च ज्ञान एवं श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न होता हुआ भी वह जान-बूझकर इस प्रकार रहता है जैसे कोई अज्ञानी व शक्तिहीन व्यक्ति हो। उसको विनयशील बनकर जीवन व्यतीत करना ही उचित है। उसके अन्दर अभिमान व गर्व को कोई स्थान नहीं। दरिया का कहना है कि—"साधू स्वभावतः पानी के समान होते हैं, क्योंकि वे ऊपर की जगह नीचे की ओर ही बहा करते हैं।"×

साधू बाह्य रूप से ही यहाँ निवास करते हैं, और उनका शारीरिक अस्तित्व उनके वास्तविक रूप का केवल प्रतिबिंब रूप है। जिस प्रकार, पक्षी के ऊपर आकाश में उड़ते समय भी, उसकी छाया पृथ्वीतल पर दीख पड़ती है उसी प्रकार साधुओं के शारीरिक कार्यों को ही दुष्टजन यहाँ देखा करते हैं। किस प्रकार कोई जान सकता है कि संत लोग कहाँ तक पहुँचे हुए रहते हैं।= स्वभावतः कुछ ही लोग इस परीक्षा में खरे सिद्ध हो सकते हैं। सभी उस ऊँचाई तक पहुँचकर अमृतपान नहीं कर पाते; बहुत लोग नीचे गिरकर नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण कबीर ने बतलाया है कि "सिंह झुंड में नहीं रहा करते और न हंस ही पंक्तियों में उड़ा करते हैं। रत्न बोरियों में नहीं मिला करता और न साधू ही जमातों

× साधू जल का एक अंग, बरतै सहज सुभाव।
ऊँची दिसा न संचरै, निवन जहाँ ढलकाव॥
सं० वा० सं० १, पृ० १२६।

= ज्यूं खग छाँह धरा पर दीसत, सुंदर पंछि उड़ै असमानै।
त्यूं सठ देहिन के कृत देखत, संतनि की गति क्यूं कोउ जानै॥६॥
'सुंदरविलास' अंग २६।

में दीख पड़ते हैं।"÷ ऐसे ही साधुजनों की संगति में आने पर सुरति-रूपिणी स्वर्गीय स्मरणशक्ति जाग्रत हुआ करती है और उसके तीव्रता प्राप्त कर लेने पर आत्मा को अंतर्मुखी वृत्ति की उपलब्धि होती है तथा प्रपंचों के संकुचित होने पर आत्मा फिर से उन्मुक्त हो जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र का बड़ी से बड़ी साध्य बातों का द्वार साधकों के लिए खुल जाया करता है।

परन्तु इन (पुनर्जन्म धारी) साधुओं की संगति में आने का अर्थ उन लोगों के संसर्ग से अपने को बचाना भी हो सकता है जो इनसे विपरीत स्वभाव के व्यक्ति हैं अथवा जो असाधु व पतित कहे जाते हैं। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो जिन प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक सम्पर्क दबाना चाहता है वे समय पाकर उभड़ जाया करेंगी और, संभव है, कि जो कुछ लाभ प्रथम दशा में प्राप्त हुआ रहेगा वह नष्ट हो जाया करेगा। इसलिए तुलसी साहब ने कहा है कि "जो कोई संतों के समक्ष आता है और दूसरी ओर नहीं जाता उसी का संबंध स्वामी के साथ सुरत की डोरी-द्वारा जोड़ा जा सकता है और वही वास्तव में, जहाँ से आया था वहाँ फिर पहुँच पाता है।"ॐ किंतु सुरति को केवल जाग्रत कर उसे तीक्ष्ण मात्र बना देने से ही काम नहीं चल जाता इसे साथ ही स्थायी एवं शिक्षित बनाने की भी आवश्यकता पड़ती है।

साधक चाहे जितने भी साधुओं का सत्संग करे उसे अपनी

÷ सिंहों के लेहड़ नहीं, हंसों की नहिं पाँति।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलै जमाति॥
सं० बा० सं० १, पृ० २८।

ॐ जो सनमुख रहै संत के, अत कहूँ नहि जाइ।
सूरत डोरी जा लगै जहँ को तहाँ समाइ॥
सं० बा० सं० १, पृ० २३०।

आध्यात्मिक-शक्ति में उत्तेजना लाने के लिए उनके साथ केवल कभी-कभी संसर्ग में आने से ही काम नहीं चल सकता। उन्हें एक ऐसे डायनमो की आवश्यकता है जो उन्हें अनवरत रूप में अभीष्ट विद्युत् शक्ति की धारा पहुँचाता रहे। उसे चाहिए कि किसी एक साधू विशेष के साथ सदा के लिए संबंध स्थापित कर ले जिससे वह अपनी आध्यात्मिक साधना में बाधा उपस्थित होने की कभी आशंका आने पर, पथ-प्रदर्शन की सहायता प्राप्त कर सके। साधुओं की सगति को 'सत्संग' का नाम दिया जाता है और वह वस्तुतः गुरु अथवा मार्ग-प्रदर्शक की खोज में ही किया जाता है। बिना गुरु की सहायता के कोई प्रत्यावर्तन की यात्रा कर ही नहीं सकता, क्योंकि साधक को इस बात की कौन सी गारंटी है कि वह ठीक राह पर चल रहा है जब तक उसे कोई व्यक्ति निश्चित मार्ग से विपथ होते समय बतला न दे। उसके साथ सदा एक ऐसा व्यक्ति रहना चाहिए जो उक्त यात्रा को स्वयं पूर्ण कर चुका हो और जो उसके कष्टों तथा सुखों से अभिज्ञ भी हो—"यदि कोई वस्तु किसी एक स्थान पर पड़ी हो और तुम उसे दूसरी ओर ढूंढ रहे हो तो तुम्हें वह कैसे मिल सकेगी। तुम उसे तभी पा सकते हो जब तुम्हारे साथ एक ऐसा मनुष्य रहे जो उसके रहस्य से परिचित हो।"* "अध्यात्म का बीज जो धरती में पहले से मौजूद है तभी फूल ला सकेगा और फल भी देगा जब गुरु बादल की भाँति आकर उस पर अवसर के अनुकूल अपने उपदेशों की वृष्टि कर दे।"×

४. पथ-प्रदर्शक गुरु

---

* वस्तु कहीं ढूढ़े कहीं, केहि विधि आवै हाथ।
कह कबीर तब पाइए, भेदी लीजे साथ ॥३१४, क० वा०, पृ० ३२।

× गुरु आये घन गरज करि, सबद किया परकास।
बीज पड़ा था भूमि मैं, भई फूल फल आस।
स० बा० सं० १, पृ० १२५।

गुरु या पथ-प्रदर्शक में इस बात की योग्यता होनी चाहिए कि वह मार्ग में आगे आने वाली कठिनाइयों से परिचित करा दे ताकि वह उनका सामना करने के लिए पहले से ही तत्पर हो जाय। किंतु, यदि पथप्रदर्शक बनावटी मात्र होगा और उसे मार्ग का कुछ भी ज्ञान न होगा तो केवल 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' ! की ही कहावत चरितार्थ होगी और उसका परिणाम दोनों के पतन के अतिरिक्त दूसरा क्या हो सकता है—अगुआ और अनुयायी दोनों ही कुएँ में गिर पड़ेंगे।

गुरु को इसी कारण, जो कार्य करना है उसके लिए पर्याप्त रूप से योग्य होना चाहिए ? उसे साधुओं के सभी गुणों से संपन्न होना चाहिए और इसके साथ ही उसे ऐसा भी होना चाहिए जो नौसिखिये के हृदय में श्रद्धा व विश्वास जाग्रत कर सके ताकि उसके बतलाये हुए मार्ग पर वह बिना किसी संदेह या अविश्वास के अग्रसर होने लगे। आध्यात्मिक अभ्यास के पथ पर चलने वाले के लिए हिचकिचाहट और संशय ये दोनों सबसे बड़ी बाधाएँ मार्ग में आती हैं। इनका निराकरण तभी संभव हो सकता है जब कोई सच्ची आध्यात्मिक प्रगति वाला पुरुष उसका पथ-प्रदर्शक मिल जाय।*

जो मनुष्य केवल इसीलिए गुरु बनना चाहता है कि वह गुरु कहला सके अथवा इसलिए कि ऐसा होने से उसकी प्रतिष्ठा और प्रभाव में वृद्धि होगी अथवा जो भीतर ही भीतर अपने अनेक चेलों को देखकर गर्व का अनुभव करता है वह गुरु के रूप में स्वीकृत करने योग्य नहीं ? क्योंकि एक तो उसे सच्चा अनुभव ही नहीं और दूसरे वह उन वासनाओं-द्वारा प्रभावित भी रहा करता है, जो मनुष्य के निम्नतर संस्कारों में सम्मिलित की जाती हैं, और जो उसकी उच्चतर स्थिति अथवा सुरति के नितांत

---

* संसै खाया सकल जग, संसा किनहुं न खद्ध।
जे बेधे गुरु अष्षिरा, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध ॥ २२ ॥
क० ग्रं०, पृ० ३।

विरुद्ध पड़ती है। यदि ये नीचेवाले संस्कार आध्यात्मिक स्तर तक ले जाये जायँ तो इनके कारण वहाँ एक भयंकर परिणाम उपस्थित हो सकता है और अज्ञान एवं वंचना के भाव घटने की जगह बढ़ने लग सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि गुरु को चुनते समय कितना सावधान रहने की आवश्यकता पड़ती है। और इसी प्रकार गुरु को भी किसी को शिष्य रूप में स्वीकार करते समय सावधानता रखनी पड़ती है। गुरु को भी इस बात का निश्चय हो जाना चाहिए कि जिस व्यक्ति के समक्ष वह अपना रहस्य प्रकट करने जा रहा है वह उसके योग्य है या नहीं। उसे उसके उस अभिप्राय से पूर्ण परिचित हो लेना चाहिए जिससे प्रेरित होकर वह उसकी शरण में आ उपस्थित हुआ है। क्या यह गृहस्थी के झंझटों से बचने और साधुओं का आरामतलब जीवन व्यतीत करने का केवल एक बहाना मात्र तो नहीं है अथवा वह वास्तव में, सच्ची आध्यात्मिक जिज्ञासा द्वारा प्रेरित होकर आया है। यदि पहली बात हो तो गुरु का उसे शिक्षा प्रदान करना सूअर के सामने मोती बिखेरने के समान होगा। क्योंकि उन उपदेशों के महत्व को वह समझ नहीं सकेगा, बल्कि उनका दुरुपयोग भी कर सकता है। अतएव, गुरु को न तो चाहिए कि किसी को शिष्य बनाने में शीघ्रता करे और न शिष्य को ही चाहिए कि किसी को शीघ्र गुरुवत् मान लेवे।

परन्तु जब नौसिखिया एवं गुरु को यह निश्चय हो जाय कि एक दूसरे का शिष्य और दूसरा गुरु होने योग्य है तो दोनों के बीच पूर्ण निश्छलता एवं स्पष्टता के भाव आ जाने चाहिए। शिष्य को चाहिए कि वह अपने गुरु के प्रति पूरी श्रद्धा रखे तथा उसके ऊपर पूर्णरूप से विश्वास करे। उसे अपने गुरु के सामने अपना हृदय खोलकर अपनी त्रुटियों और की गई उन्नतियों की सच्ची-सच्ची सूचना देनी चाहिए, और इसके साथ ही गुरु को भी चाहिए कि उसके लिए प्रेम एवं सद्भाव प्रदर्शित करे तथा

ऐसा कोई भी उपाय उसे बतलाने में न चूके जो उसके शिष्य के लिए किसी परिस्थिति में उपयोगी सिद्ध हो सकता हो।

न केवल शिष्य को गुरु में पूरी श्रद्धा होनी चाहिए और उसके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करनी चाहिए, बल्कि उसका यह भी कर्तव्य है कि अपने गुरु के चरणों में वह अपना सर्वस्व अर्पित कर देवे और तन-मन-धन से उसकी सेवा में लग जाय। शिवदयाल ने अपने सार वचन * में इन सेवाओं का एक विस्तृत विवरण दिया है, जिसे बड़ा होने पर भी पूर्णतः उद्धृत करना अनुचित न होगा।

शिवदयाल का कहना है कि "शिष्य को चाहिए कि गुरु के चरणों को दबावे, उसे पंखा करे, उसका आटा पीसे, पानी भरे, नाबदान साफ करे, चौके के लिए मिट्टी लावे, उसे दातून करावे, हाथ धुलावे, पेशाब के पात्र को धोवे, नहलावे, शरीर पोंछे, धोती पहनावे, धोती-अँगौछा साफ करे, थाल माड़ दे, कपड़े पिन्हा दे, ललाट पर टीका कर दे, रसोई बनाकर परस दे, पानी पिला दे, हुक्का भर दे, सेज लगा दे, पीकदान लेकर उससे पीक करावे, उसका किया हुआ पीक स्वयं पी जाय, संक्षेप में उसे चाहिए कि अपने गुरु की सेवा सभी प्रकार से करे। अपने गुरु के लिए नीच से नीच काम भी बिना विलंब करे और उसकी आज्ञाओं का पालन करे।" यह शारीरिक सेवा है जिसमें निम्न श्रेणी का परिश्रम हुआ करता है।

धन की सेवा वह सेवा है जो गुरु के लिए द्रव्य व्यय करके की जाय और उसकी आवश्यकता इस प्रकार बतलायी गई है—"गुरु को धन की भूख नहीं रहा करती क्योंकि उसे भक्ति का धन प्राप्त रहा करता है, किंतु वह तुम्हारी भलाई चाहता है और द्रव्य को, भूखे को अन्न तथा प्यासे को पानी देने में व्यय करना चाहता है। यदि तुम उसे प्रसन्न कर देते

---

* भा० १, पृ० २३५-७।

हो तो उसकी दया के पात्र बिना मोल के ही हो जाते हो। उसका प्रसन्न होना बड़े लाभ की बात है क्योंकि वह सत्पुरुष है और उसकी दया उसके हाथ की ही बात है।"

मानसिक सेवा गुरु के दर्शन करना, उसकी बातों को श्रवण करना और उपलब्ध बातों को सावधानी के साथ सुरक्षित रखकर उन पर मनन करना है। गुरु ने अच्छी बातों को चुन लेकर और बुरी बातों का त्याग कर उनका सार निकाल रक्खा है और उन बातों को अपने मन-द्वारा ग्रहण कर लेने पर, जिनसे पुष्टि प्राप्त करना नितांत आवश्यक है, संसार के सारे भय तथा लज्जा के भाव सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं।"

इसमें संदेह नहीं कि शिष्य को ये सारी सेवाएँ जो उपर्युक्त उद्धरण में कही गई हैं करनी होंगी और उनमें से, यदि केवल वह छोड़ दी जाय जो गुरु की पीक पी जाने से सम्बंध रखती है तो भी गुरु उन सेवाओं की कोई अपेक्षा न करे और न उनके लिए किसी प्रकार की आज्ञा ही प्रदान करे। जब वे सेवाएँ की जाने लगें तो गुरु को चाहिए कि उन्हें स्वीकार करने से भरसक इंकार करे और ऐसा करते समय अपनी अच्छी मनोवृत्ति का ही परिचय दे। उसे अपने शिष्य को इस बात का भी उपदेश देना चाहिए कि वह अपने धन का किस प्रकार सदु-पयोग करे। शिष्य को गुरु के द्वारा व्यय कराने की आवश्यकता नहीं। जो गुरु उक्त सेवाओं को अपने शिष्य से स्वीकार कर लेता है और चाहता है कि वे उसके लिए की जायँ वह, वास्तव में, सच्चा आध्यात्मिक गुरु न होकर एक विचित्र जीव है जिसमें आलस्य, लालच व अभिमान की मात्रा भरी हुई है जिनके कारण वह अपने शिष्य का जीवन-लहू एक राक्षस के रूप में चूसा करता है।

अतएव गुरु एवं शिष्य दोनों को ही त्याग-वृत्ति के साथ रहना चाहिए। शिष्य का कर्तव्य है कि वह अपना सारा ऐश्वर्य, मान एवं धनादि को, जो उसके पास में हो अपने गुरु के चरणों में चढ़ा दे, किंतु उधर

गुरु के लिए भी यह आवश्यक है वह शिष्य से कुछ भी प्राप्त करने की अभिलाषा न करे। केवल उसे निस्वार्थभाव से उपदेश देने का ही प्रयत्न करता रहे। "शिष्य सर्वप्रथम अपना शिर, हृदय और मन को समर्पित करे और तब गुरु अपनी ओर से शिष्य को नामरूपी भेंट प्रदान कर देवे।"*

गुरु एवं शिष्य की उक्त मनोवृत्तियाँ नितांत आवश्यक हैं। उन्हें अर्पित करके शिष्य भगवान् के प्रति अपने को समर्पित कर देना सीखता है और उसे स्वीकार न करके गुरु यह दिखलाता है कि किस प्रकार गुरु अपनी मर्यादा को नष्ट होने एवं ज्ञान को भ्रष्टाचार होने से बचा सकता है।

गुरु को अपने शिष्य के प्रति दयालु होना परमावश्यक है। उसे अपनी कृपा प्रदर्शित करते समय, बहुत सावधान रहना चाहिए और देखते रहना चाहिए कि शिष्य के अंदर किसी त्रुटि का प्रवेश तक न होने पावे। जब उसे ऐसी किसी त्रुटि का पता चल जाय तो उसे चाहिए कि उसे शीघ्र दूर कर देवे और ऐसा करते समय उसका कठोर बन जाना अनावश्यक है परन्तु यदि वह अपने व्यवहार में कुछ रूखा भी हो जाय तो, शिष्य को उसे हर्षपूर्वक सहन कर लेना चाहिए। क्योंकि गुरु ने वास्तव में उसी के हित की भावना से वैसा किया था। "गुरु कुम्हार और शिष्य घड़े की भाँति होते हैं। गुरु वर्तन की बुराइयों को ठोक-ठोक कर सुधारता रहता है, भीतर से वह अपने हाथ का सहारा देता है और ऊपर चोट भी मारता जाता है।"+

---

* पहले दाता सिष भया, जिन तन मन अरपा सीस।
पीछे दाता गुरु भये, जिन नाम दिया बकसीस॥
सं० बा० सं०, पृ० २५।

\+ गुर कुंभार सिप कुंभ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट।
अंतर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥ सं० बा० सं०, पृ० २।

गुरु को इस बात में सदा सावधान रहना चाहिए कि उसके उपदेश जिनके अनुसार वह अपने शिष्य को चलने की शिक्षा देता है स्वयं उसके भी अपने कार्यों के साथ मेल में रहें ताकि उसका शिष्य उसकी सचाई के प्रति किसी प्रकार संदेह में न पड़ जाय। इसके साथ ही साथ शिष्य के लिए यह भी समझ लेना आवश्यक है कि उसका गुरु उससे कहीं ऊँची श्रेणी का व्यक्ति है और जो कुछ वह करता है वह उस शिष्य की वर्तमान प्रगति की स्थिति में, कदाचित् बाध्य न होगा। अतएव चरनदास ने सलाह दी है, "जो कुछ गुरु कहता है उसे करते जाओ, किंतु जो कुछ वह करता है उसकी नकल करने का प्रयत्न न करो।"=

परन्तु यहाँ इस बात का भय है कि धूर्त लोग इस उपदेश से नितांत विपरीत अभिप्राय निकाल लेंगे। इसके द्वारा कभी-कभी वैसे कई कार्यों के करने का बहाना मिल सकता है और मिला भी होगा जिसे एक साधु के लिए करना उचित नहीं और इस धारणा के कारण कि गुरु परमेश्वर का अवतार होता है, अनेक प्रकार के अनर्थों की वृद्धि हो सकती है। मैंने अंतिम अध्याय के अवतारवाले प्रकरण में इस विषय पर कुछ विचार किया है। मानव-पूजा के परिणाम-स्वरूप होनेवाली हानि के अतिरिक्त, निर्गुण पथ के अनुसार गुरु के सर्वोच्च पद ग्रहण करने में एक यह भी भय बना रहता है कि उसका कहीं दुरुपयोग न हो जाय। बहुत से धूर्त, गुरुवत् आचरण करने के लिए केवल इसी कारण प्रवृत्त होते हैं कि उसके द्वारा बहुत बड़ा लाभ उठायें। इसमें संदेह नहीं कि ऐसी बात अनेक बार हुई होगी। ऐसा भी इसके कारण, हुआ होगा कि बहुत से लोग जिन्हें पंथ के प्रति सहानुभूति रह सकती थी इसके विरुद्ध हो गये होंगे। पलटू ने जान पड़ता है, ऐसी ही घटनाओं की ओर संकेत करते हुए कहा है—"ज्ञान या ध्यान के विषय में किंचित्मात्र

= गुरु कहें सो कीजिये, करें सो कीजे नाहि ॥

वही, पृ० १४४।

अनुभव न होने पर भी, जो लोग दूसरों को फुला-फुला कर शिष्य बनाया करते हैं वे गुरु मेहतर और शिष्य चमार के समान होते हैं।"*

इस पर कहा जा सकता है कि जब इस विषय में हानि की इतनी संभावना है तो फिर गुरु का एकदम त्याग ही क्यों न करा दिया जाय? क्योंकि कबीर जैसे बड़े संतों ने अपनी साखियों और शब्दों के अंतर्गत उच्च से उच्च सिद्धांतों को भर दिया है और वे रचनाएँ हमें उपलब्ध भी हैं। हमलोग क्यों न उन्हीं को अपने पथ प्रदर्शक बना लें। हम लोग इस प्रकार वह सभी ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे जो हमें गुरुओं द्वारा उपलब्ध होता है और कतिपय गुरुओं की धूर्तता के कारण उत्पन्न होनेवाली हानि से भी बच सकेंगे। इसी प्रकार की धारणा ने कदाचित्, सिक्खों के गुरु-गोविन्दसिंह को उनकी गुरु-परंपरा समाप्त कर देने के लिए प्रेरित किया था जिस कारण उन्होंने गुरुओं के स्थान पर 'ग्रंथ' को आसन प्रदान किया। इसके सिवाय जान पड़ता है कि गुरु-गोविंदसिंह ने यह भी सोचा था कि शिष्यों की संख्या बराबर बढ़ती जाने की स्थिति में किसी गुरु के लिए यह संभव नहीं कि वह प्रत्येक को अपने व्यक्तिगत संसर्ग द्वारा लाभान्वित करे—और वास्तव में यही कारण है जिससे समय पाकर सभी संप्रदायों की वह मौलिक आध्यात्मिकता जाती रहती है जो उनकी प्रमुख विशेषता रह चुकी थी। अतएव हो सकता है कि सिख धर्म ने इस परिवर्तन के कारण अपना धर्मत्व नहीं खोया। परन्तु जब प्रश्न आध्यात्मिक अभ्यास का है तो फिर पुस्तकों के अध्ययन मात्र पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता।

सिख धर्म में भी गुरु उन ज्ञानियों के रूपों में लौट आया है जो गुरु-बानी के रहस्यों को सर्व साधारण पर प्रकट करने योग्य, वैसी शक्ति रखने

---

* ज्ञान ध्यान जाने नहीं, करते सिष्य बुलाय।
पल्टू सिष्य चमार सम, गुरुवा मेस्तर आय॥
वही, पृ० २२४।

वाले समझे जाते हैं। प्रभावशालिनी आध्यात्मिक शक्ति का सदा निकट वर्त्तमान रहना कोरे उपदेशों से कहीं अधिक लाभदायक हुआ करता है। केवल उपदेश मात्र नहीं बल्कि गुरु के मुख से निकलनेवाली शिक्षा ही ऐसी होती है जिससे शिष्य की हृदयगत मूल प्रेरणा को या तो हानि पहुँच जाय, सहायता मिल जाय अथवा उसकी प्रतिकूल शक्ति के सँभालने में किसी प्रकार का संकेत मिल जाय। किसी माध्यम द्वारा उपलब्ध उपदेश अभीष्ट फल प्राप्त कराने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। दादू ने इस बात का विरोध करते हुए कहा भी है कि "केवल कागज व स्याही के भरोसे पर ही कोई इस संसार से मुक्त किस प्रकार हो सकता है?"+ तुलसी साहब का भी कहना है "साखी व शब्द जब तक कागज पर लिखे हुए हैं तब तक उसका कुछ भी प्रभाव नहीं। बिना साधुओं के साथ सत्संग किये वे समझ में नहीं आ सकते।× चाहे तुम उसके रहस्यों से परिचित होने के लिए आमरण प्रयत्न करते रह जाओ।"

अतएव साधुओं में से अपने गुरु को खोज निकालना इस मार्ग पर अग्रसर होनेवाले का प्रथम कर्तव्य है और यही सबसे कठिन और महत्वपूर्ण भी है। इसके द्वारा आध्यात्मिक जगत् में आगे प्रवेश पाने की कुंजी हाथ लग जाती है। यदि किसी को सच्चा गुरु मिल जाय तो आगे की सफलता निश्चित हो जाती है और यही कारण है जिससे निर्गुण संप्रदाय में उसे इतना महत्त्व दिया जाता है। गुरु को परमेश्वर स्वरूप कहा जाता है। "कबीर ने कहा है कि गुरु एवं गोविंद में कोई

+ मसि कागद क आसरे, क्यों छूटे संसार।

बानी पृ० १०१।

× गुप्त मता संतन ने भाखी, कागद में मिलिहै नहि साखी।
साखी सब्द ग्रंथ जो गावे, बिन सत्संग समझ नहि आवे॥
ये झूठ कागद के माहीं, ढूंढ ढूंढ सब जनम सिराई॥

'घट रामायन' पृ० २४६।

अंतर नहीं, केवल आकार मात्र से ही भिन्नता लक्षित होती है, अपने अहंभाव को त्याग करके जीते जी मर जाओ और तभी तुम्हें वह परमेश्वर प्राप्त हो सकेगा।"*

नवीन साधकों के लिए तो गुरु परमेश्वर से भी बढ़ा हुआ करता है क्योंकि गुरु-कृपा द्वारा ही शिष्य भगवत्कृपा की ओर उन्मुख होना सीख पाता है और तभी उसके मार्ग में वह अपने को प्रवृत्त भी कर सकता है। कबीर कहते हैं कि "वे लोग अंधे हैं जो गुरु के विषय में कुछ और कहा करते हैं। यदि परमेश्वर रुष्ट हो जाय तो गुरु तुम्हें बचा सकता है, किंतु यदि स्वयं गुरु ही रुष्ट हो जाय तो फिर अपनी रक्षा की कोई भी आशा नहीं रह जाती।"+ और फिर "गुरु और गोविंद दोनों ही हमारे समक्ष खड़े हैं, मैं किसके चरणों पर गिरूँ? मैं तो अपने गुरु की ही बलिहारी जाऊँगा जिसने मुझे गोविंद के दर्शन करा दिये थे।"×

गुरु के विद्यमान रहने मात्र से ही आध्यात्मिक आकर्षण का अनुभव होने लगता है और संसार की ओर से एक प्रकार की विरक्ति भी आ जाती है जिसे वैराग्य या विरति कहा करते हैं। यदि ऐसा न हो तो

---

* गुरु गोविन्द तो एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवत मरै, तो पावै करतार॥ २६॥
क० ग्रं०, पृ० १।

+ कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥ ४॥
वही, पृ० २।

× गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पायँ।
बलिहारी गुरु आपणे, जिन गोविंद दिया बताय॥
सं० बा० सं०, पृ० २-१२।

निर्विवाद है कि प्राथमिक दशा का अभी अंत नहीं हुआ और गुरु के लिए अभी खोज करना शेष रह गया है।

योग्य शिष्य के लिए गुरु जो भीतरी शिक्षा दिया करता है वह नाम-सुमिरन अथवा भगवत् नाम के स्मरण से संबंध रखती है और उसका अभ्यास कतिपय योग-साधनाओं की सहायता से किया जाता है और दोनों को इसी कारण शब्दयोग भी कहा करते हैं। इस प्रकरण में हम केवल नाम के संबंध में ही कुछ कहेंगे और अन्य साधनाओं का प्रसंग आगेवाले प्रकरण के लिए छोड़ देंगे।

५. नाम-सुमिरन प्रार्थना

नाम-सुमिरन को संसार के सभी धर्मों ने एक विशेष स्थान दिया है। योग-संबंधी सभी हिंदू संप्रदायों ने कुछ शब्दों के बार-बार दुहराने में एक बहुत बड़ी शक्ति का अभ्यास पाया है और सबसे अधिक शक्ति-संपन्न ॐकार को बतलाया है। प्रतिदिन सहस्रों हिंदुओं द्वारा पाठ किये जानेवाले 'विष्णु-सहस्र नाम' के अंतर्गत विष्णु के सहस्र नामों की एक तालिका मात्र मिलती है। बहुत से लोग एक ही मंत्र का सहस्रों बार जप किया करते हैं। सूफियों को भी इसके लाभप्रद होने में विश्वास है और इस साधना को 'जिक्र' कहा करते हैं। परन्तु निर्गुण पंथ की भाँति कोई भी नाम-सुमिरन को महत्त्व प्रदान नहीं करता।

नाम-सुमिरन संसार के सभी दुखों को दूर करने के लिए 'राम बाण' के समान प्रभावशाली औषध है। जिस किसी ने नाम को अपने हृदय में स्थान दे दिया वह अपनी मुक्ति के लिए निश्चिंत हो गया और वह दूसरों को भी मोक्ष प्राप्त करने में सहायक बन सकेगा। राम का नाम स्मरण करनेवाले पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, किंतु इसके बिना सत्कर्मों का भी कोई परिणाम नहीं मिल सकता।

बखना ने कहा है—"सतगुरु ने जिस 'सत्यनाम' औषध का मुझे पता बतला दिया है वह संसार के सारे दुखों के निवारण के लिए

महौषध रूप है। जिसने इसे ग्रहण कर बतलाये हुए संकेतों का अनुसरन किया उनकी सारी वेदना जाती रहेगी।"× और नानक ने भी इसी प्रकार कहा है, "नाम का जप हृदय से करनेवाले के सभी परिश्रम सफल हो जाते हैं और उसका मुख उज्ज्वल हो जाता है, नानक का कहना है कि उसके संसर्ग में आकर दूसरे भी मुक्त हो जाते हैं।"÷ कबीर ने भी यों कहा है कि "नाम का एक अणुमात्र भी हृदय में आ जाने पर, करोड़ों कर्मों का जाल एक क्षण में ही, नष्ट हो जाता है। परन्तु बिना राम के युगों तक पुण्य करते जाने पर भी, कोई लाभ नहीं।"= राधास्वामी संप्रदाय के अनुयायियों के अनुसार नाम-स्मरण हमारे जीवन के लिए प्राणों के समान महत्त्व रखता है।

यद्यपि कबीर ने अनन्त के नाम भी असंख्य बतलाये हैं, किंतु सबसे बढ़कर उन्होंने सुमिरन के लिए 'राम' नाम को ही माना है और इसे ही स्वीकार भी किया है। उन्होंने सबके लिए यही उपदेश दिया है कि तुम 'रा' का टोप और 'म' का बख्तर पहना करो जो, शरीर के प्रभातवेला के

× सतनाम निज औषधी, सतगुरु दई बताय।
औषधि खाय रु पथ रहै, तौ वपना बेदन जाय॥

'सर्वांगी', पृ० १७-३७।

सं० बा० सं० १, पृ० ५ पर यह दोहा कुछ परिवर्तन के साथ कबीर के नाम से दिया हुआ है।

÷ जिनी नामु धिआइआ, गए मसकति घालि।
नानक ते मुख ऊजले, केती छुटी नालि॥

'जपजी' (अंतिम पद्य)।

= कोटि करम पेलै पलक मे, जे रंचक आवै नाउं।
अनेक जुग जो पुंनि करे, नहीं रांम बिनु ठाउं।

क० ग्रं०, पृ० २०।

नक्षत्रों के समान, लुप्त हो जाने पर भी नष्ट नहीं होते।* गुलाल साहब ने भी भीखा साहब को उपदेश दिया था कि राम के एक होने पर भी नाम अनेक हैं, किंतु उन्हें राम के अतिरिक्त और कोई भी उतना पसंद नहीं।+ तुलसी साहब एवं शिवदयाल के अतिरिक्त प्रायः सभी निर्गुण-पंथियों ने सुमिरन के लिए 'राम' शब्द को ही स्वीकार किया है। उक्त दो महात्माओं ने इस नाम को इस कारण पसंद नहीं किया कि इसका संबंध हिंदुओं के रामावतार से है। तुलसी साहब ने इसी कारण 'सन्त नाम' को अपनाया था और शिवदयाल ने उसी प्रकार 'राधा स्वामी' को पसन्द किया था। 'राधास्वामी' शब्द कबीर की रचनाओं में कहीं भी नहीं देख पड़ता, किंतु 'राधास्वामी' के अनुयायियों का कहना है कि उन्होंने इसे कबीर के उपदेशों से ही ग्रहण किया है। इसके प्रमाण में वे नीचे लिखी साखी उद्धृत करते हैं—

कबीर धारा अगम की, सतगुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो, स्वामी संग लगाय॥

---

* ररा करि टोप ममा करि बख्तर।
ग्यान रतन करि खागि रे। ३५०।

क० ग्रं०, पृ० २०६।

परभाते तारे खिसहिं, त्यों इहि खिसै सरीर।
पै दुइ अक्खर ना खिसहिं, सो गहि रहा कबीर॥१०॥

वही, पृ० २५६।

+ राम सो एक नाम बहुतेरा।
नाम एक रमिता को फेरा।
सतगुरु शब्द सुने जो सरना।
रामनाम परे नाम न जाना।

'महात्माओं की वानी', पृ० २०१।

जिसका अभिप्राय है कि सद्गुरु ने अगम से आती हुई आध्यात्मिक धारा को प्रत्यक्ष कर दिया, उसे उलट कर स्वामी के साथ मिला दो और उसी का सुमिरन करो। परन्तु 'राधास्वामी' के अनुयायियों का कहना है कि 'धारा' के दोनों अक्षर यहाँ पर बदल देने चाहिए। जिससे यह शब्द 'राधा' बन जाय और उसमें 'स्वामी' शब्द जोड़ कर पूर्ण 'राधा-स्वामी' का स्मरण करना चाहिए। जो हो इसमें संदेह नहीं कि स्मरण में ईश्वर का कोई न कोई नाम चुन लेना पड़ता है।

परन्तु अन्य कई सम्प्रदायों के विपरीत, निर्गुणपंथी नाम-स्मरण का अर्थ कोई बाह्य साधना नहीं समझते और न इसे किन्हीं पवित्र शब्दों की भाँति मंत्रवत् दुहराने को ही सब कुछ मानते हैं। ऐसे मांत्रिक दुहराने के प्रति उन्हें बड़ी घृणा है। उन पंडितों के विरुद्ध, जो नाम को उसे वास्तविक हृद्गत भावों का प्रतीक मात्र होने के अतिरिक्त स्वयं विशिष्ट शक्ति सम्पन्न होना भी मानते हैं, कबीर ने कहा है—"पंडित व्यर्थ की बकवाद करते हैं, यदि 'राम' कहने मात्र से ही संसार को मुक्ति मिल जाय तो 'खाँड' शब्द के कहने मात्र से ही हमारा मुँह भी मीठा हो सकता है। यदि 'आग' कहने मात्र से ही पाँव जलने लगें अथवा 'पानी' कहने मात्र से ही प्यास जाती रहे तथा 'भोजन' कहने मात्र से ही भूख मिट जाय तो सभी मुक्ति के भागी हो सकेंगे। परन्तु केवल ऐसे मांत्रिक स्मरणों से वास्तव में कोई भी लाभ नहीं।" जैसे कबीर ने फिर भी कहा है "मनुष्य के साथ-साथ तोता भी हरि का नाम लेता है, किंतु वह ईश्वर के प्रताप से अनभिज्ञ रहता है और यदि किसी प्रकार जंगल में फिर उड़कर चला गया तो उसे वह नाम विस्मृत भी हो जाता है।"*

---

* पण्डित वाद वदंते झूठा।
　राम कह्याँ दुनिया गति पावै, खाँड कह्याँ मुख मीठा।
　पावक कह्याँ पाँव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।

राम का नाम जपता हुआ भी मनुष्य काल से अपने को बचा नहीं सकता।÷ ऐसा उन्होंने अन्यत्र भी कहा है।

निर्गुणपंथियों के लिए नाम-स्मरण एक ऐसी प्रेम-साधना है जो कभी निष्फल नहीं जाती। जैसा कि अंडरहिल ने भी कहा है—"रहस्य-वादी निरपेक्ष के साथ किसी गौण रूप से प्रेम नहीं करता और न वह वैसी भावुकतामात्र के ही प्रभाव द्वारा करता है, बल्कि उसका प्रेम उस गंभीर एवं मार्मिक ढंग से उत्पन्न होता है जो किसी भी परिस्थिति में विकसित होता जाता है और प्रत्येक साधन द्वारा जोखिम उठाते हुए भी अपने प्रियतम से मिलना चाहता है। (मिस्टीसिज़्म, पृ० ८५) संसार में भी हम देखते हैं कि सच्चे प्रेमी के लिए अपने प्रियतम का नाम ही एक मात्र आधार हुआ करता है, चाहे वह परिस्थिति के कारण उससे कितना भी अलग क्यों न रहता हो। निर्गुणी लोगों ने भी सुमिरन को उसी भाव के साथ अपनाया है। यह वास्तव में एक आभ्यंतरिक दशा है जिसमें हृदय अपने आराध्य की ओर अभिमुख रहता है। अतएव कबीर ने, ऐसे जप को जिसमें माला हाथ में फिरा करती है, जीभ मुँह में घूमती है और मन चारों ओर भ्रमण करता रहता है स्वीकार नहीं किया है।= क्योंकि सुमिरन का उद्देश्य भगवान् की सुरति के साथ अपने को मिला देना है।

भोजन कह्यां भूख जे भाजै, तौ सब कोइ तिरि जाई।
नर के साथि सुमा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कहूँ उड़ि जाय जंगल मैं, बहुरि न सुरतै आनै॥ ४॥
क० ग्रं०, पृ० १०१।

÷ रामहि राम कहंतड़ा काल घसीटा जाइ॥ १८॥
वही, पृ० ३७।

= माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहि।
मनुवाँ तो दुहुँ दिसि फिरै, सो तो सुमिरन नाहि॥
सं० बा० सं०, पृ० ६।

वास्तव में इसे प्रारम्भिक दशा में वाह्य साधना के रूप में रहना ही पड़ेगा परन्तु वहाँ भी हृदय का सच्चा होना परमावश्यक है। जीभ मुँह के भीतर अवश्य घूमा करेगी, किन्तु मन चारों ओर भ्रमण नहीं कर सकता। क्रमशः जीभ एवं कण्ठ जैसी शब्दोच्चारण की इन्द्रियों का व्यवहार छूटने लगता है। मुख्य उद्देश्य हृदय को वाह्य जीवन के प्रपंचों से विरत कर आभ्यन्तरिक जीवन के अत्यन्त मार्मिक प्रदेश की ओर उसके द्वार खोल देना है। जैसा कबीर ने कहा है—"सुरति के द्वारा स्मरण करते चलो मुँह खोलने की आवश्यकता नहीं, वाहरवाली खिड़कियों को बन्द कर अन्दर के पट को खोलो।"*

स्मरण के संबंध में साधक के लिए आदर्श उदाहरण पनिहारी का दिया जा सकता है यद्यपि वह मार्ग पर चलती हुई बातचीत भी करती जाती है, किंतु उसका मन सदा अपने सिर पर रखे हुए भरे घड़े की ओर ही लगा रहता है। इसी प्रकार साधक को भी चाहिए कि अपने को उस पनिहारिन की स्थिति में रखे और वाह्यरूप से संसार में व्यवहार करता हुआ भी अपनी सुरति को सदा ईश्वर में ही लगाये रहे। उसका सारा जीवन ही उसी ईश्वरीय केन्द्र की अनवरत स्मृति में निरत रहना चाहिए। बिना उस स्मृति के एक श्वास-प्रश्वास का भी समय न व्यतीत होना चाहिए।

जब साधक उस स्थिति तक क्रमशः पहुँच जाता है जो प्रार्थनात्मक मनोवृत्ति की चरम सीमा है, तो उसका होठों वाला जाप छूट जाता है और उसके जीवन के 'जाप' का प्रारम्भ होता है, जिसे हमारे संतों ने 'अजपाजाप' अर्थात् जीभ या माला की आभ्यन्तरिक साधना बिना होने

---

* सुमिरन सुरति लगाइ के, मुख तें कछू न बोल।
वाहर के पट देइ के, भतीर के पट खोल॥
वही, पृ० ६६।

के कारण अव्यक्त जाप का नाम दिया है। इसके द्वारा स्वयं आत्मा उद्‌बुद्ध हो जाती है और भीतरी ईश्वरीय भावना के समक्ष अपने आपको प्रत्यक्ष एवं अबाधित रूप से समर्पित कर देती है। जब मन में मस्ती आ गई तो फिर मुख से शब्दोच्चारण की आवश्यकता ही कहाँ रह गई? क्योंकि यदि सचमुच प्रेम ने हृदय और आत्मा पर अधिकार कर लिया तो प्रत्येक छिद्र ईश्वर का गुणगान आपसे आप करने लगेगा।*

जब यह दशा दृढ़ तथा स्वाभाविक हो जाय और दूसरे शब्दों में यही जीवन का एक मात्र उद्देश्य अथवा जीवन का भी जीवन बन जाय तो समय पाकर, वह अनहद शब्द भी सुन पड़ने लगता है जो स्वयं ईश्वर स्वरूप है और व्यक्ति इस बात का अनुभव करने लगता है कि यद्यपि उसने भगवान् को भुला दिया है किन्तु उसने मुझे विस्मृत नहीं किया है, क्योंकि वह सदा उसके भीतर शब्दोच्चारण करके उसे अपना स्मरण दिला रहा है। जैसा मलूकदास ने कहा है—"मैं राम कहने के लिए न तो माला का प्रयोग करता हूँ और न जीभ ही हिलाता हूँ, मुझे मेरा मालिक स्वयं स्मरण करता है और मैंने अब विश्राम ले लिया है।"+ और तब सुरति स्मरणेन्द्रिय के रूप में नहीं रह जाती, बल्कि अपने को

---

* मन मस्त हुआ तब क्या बोले।

सं० बा० सं०, भा० २, पृ० १७।

अंतर्गति हरि हरि करै, मुख की हाजति नाहिं।
सहज धुन्न लागी रहै, दादू मन ही माहिं॥

सं० बा० सं०, भा० १, पृ० ४४।

+ माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहों न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै, मै पाया विश्राम॥

वही, पृ० १००।

भीतरी ईश्वरीय भावना में मग्न कर देती है और अब साधक उसे अपनी वस्तु समझ लेता है जो वास्तव में सदा उसके साथ रही थी। इसी को निर्गुणी लोग 'लौ' कहते हैं जो लय शब्द का विकृत रूप है।

इस प्रक्रिया में उस स्वतः निर्देश (आटो-सजेशन) का भी सिद्धान्त निहित है जिसको आधुनिक स्पिरिटवादी (जिन्हें हम अध्यात्मवादी कहने में संकोच करते हैं) बड़ी दृढ़ता के साथ प्रतिपादित करते हैं और जो लययोग का भी आधार स्वरूप है, किन्तु जिसकी व्याख्या बहुधा इसके प्रधान ग्रन्थों में नहीं पायी जाती। परन्तु अध्यात्मवाद की पुस्तकें 'स्वतः निर्देश' (आटो-सजेशन) के महत्व को स्वीकार करती हैं। एक प्रसिद्ध शास्त्रीय कहावत है कि 'जाकी जैसी भावना, ताकी तैसी सिद्धि।'×

इससे भी अधिक स्पष्टरूप में योग-वाशिष्ट के अंतर्गत कहा गया है—"हे महाबाहो! अन्य बातों को भूलकर जिस प्रकार कोई अपने विषय में अनुभव करता है, वैसा ही वह हो भी जाता है।"& नाम-सुमिरन भी उसी प्रकार प्रभावित करता है। आराध्य को स्मरण करते-करते आराधक उसके द्वारा इतना भरपूर हो जाता है कि वह उसकी जगह ले लेता है। कबीर कहते हैं कि "तुझे स्मरण करता-करता मैं तू बन गया; अब मुझमें मैं नहीं रह गया। अब मैं तुझ पर न्योछावर होता हूँ, मैं जिधर देखता हूँ तू ही तू दीख पड़ता है।"+

× यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

& भावितं तीव्र संवेगादात्मनायत्तदेव स।
भवत्याशु महाबाहो विगतेतर संस्मृतिः॥
योग वाशिष्ठ।

+ तू तू करता तू भया, मुझमे रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूं तित तूं॥ ९॥
क० ग्रं०, पृ० ५।

इस मग्न हो जाने की क्रिया-द्वारा अन्तिम मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है, जिस दशा में व्यष्टि अपने को समष्टि के अन्तर्गत फिर से प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार अपने स्वामी को पाते ही उसके अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है जिसके लिए वह आज तक सचेष्ट रहा है। कबीर का कहना है—'मेरा मन जब राम का स्मरण करता है तब वह राममय हो जाता है इस प्रकार जब मन राम ही हो गया तो फिर मैं किसके सामने अपना शिर झुकाऊं?"* स्मरण रहे कि अभीष्ट की यह सिद्धि निर्गुणियों के प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करती है जैसा कि हम उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा करते समय पिछले अध्याय में देख आये हैं।

इस प्रकार सुमिरन तीन प्रकार का होता है, (१) 'जाप' जो कि बाह्य क्रिया होती है, (२) 'अजपा जाप' जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यंतरिक जीवन में प्रवेश करता है और (३) 'अनाहत' जिसके द्वारा साधक अपनी आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है जहाँ पर अपने आप की पहचान के सहारे वह सभी स्थितियों को पार कर अंत में कारणातीत हो जाता है। इन क्रमों की ओर कबीर ने इस प्रकार संकेत किया है—'जाप मर जाता है अजपा-जाप भी नष्ट हो जाता है और अनाहत भी नहीं रह जाता, जब सुरति शब्द में लीन हो जाती है तब उसका जन्म व मरण के चक्कर का भय छूट जाता है।×

---

* मेरा मन सुमिरे राम को, मेरा मन रामहि आहि।
जब मन रामै ह्वै रहा, सीस नवावों काहि॥ ८॥
क० ग्रं०, पृ० ५।

× जाप मरे अजपा मरे, अनहद हू मरि जाइ।
सुरत समानी शब्द में, ताहि काल नहि खाइ॥ ३॥
सं० बा० सं०, पृ० ८७।

दैनिक जीवन में किसी को कभी प्रार्थना की आवश्यकता नहीं पड़ती जबतक उसे किसी कमी का अनुभव न हो अथवा उसपर कोई आपत्ति न आ पड़े। मनुष्य ईश्वर का नाम तभी स्मरण करता है जब उसे जान पड़ता है कि बिना उसकी सहायता के उसे अपने ऊपर आये हुए दुख से छुटकारा नहीं मिल सकता। कर्मकांड-प्रेमी धर्मों ने अपने नियमानुसार इस प्रकार की मनोवृत्ति को दृढ़ता प्रदान कर दी है और वे अपने अनुयायियों को ईश्वर का नाम-स्मरण इसलिए कराते हैं कि उसके द्वारा उन्हें धन-संपत्ति मिलेगी और शारीरिक सुख भी प्राप्त होगा। इसमें संदेह नहीं कि प्रार्थना ने मनुष्य को वे लाभ पहुँचाये हैं जिन्हें वे स्वप्न में भी पाने की आशा नहीं कर सकते थे। किंतु इस प्रकार की पटुकौशल वास्तविक प्रार्थना नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसमें प्रार्थी बहुधा ईश्वर से कहीं अधिक उस वस्तु से ही अनुराग रखता है जिसकी उसे चाह रहा करती है और यदि वह उसे बिना ईश्वरीय सहायता के उपलब्ध हो सके तो वह उसे स्मरण करने का कभी नाम भी न लेगा। परंतु प्रार्थना की सच्ची वृत्ति में आकर कोई कभी ईश्वर से अधिक किसी अन्य वस्तु को नहीं समझ सकता।

सुमिरन एक प्रकार की प्रेम साधना है, वह कभी अपने प्रियतम से किसी वस्तु की मात्र माँगने के उद्देश्य से नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रेमी को तो अपने प्रियतम का नाम ही प्यारा हुआ करता है। यदि कुछ माँगना ही हो तो वह स्वयं अपने प्रियतम को ही माँगेगा। कबीर का कहना था कि हे स्वामी मैं तेरे सिवाय और कोई भी वस्तु नहीं चाहता। नानक भी कहते हैं "हे कर्ता तू मेरा यजमान है और मैं तुझसे अपनी दक्षिणा माँगता हूँ तू मुझे अपना नाम दे दे।"* दादू का भी अनुरोध है 'हे स्वामी, यह शरीर तेरा है; यह आत्मा भी तेरी है और ये सारे प्राण व

* करता तू मेरा जजमान। एक दक्षिना माँगौं, देहु अपणा नाम।
'ग्रंथसाहब' पृ० ७१६।

पिंड भी तेरे ही हैं। सब कुछ तेरा है किंतु तू मेरा है और, यही मेरा ज्ञान है।*

यदि सच पूछिये तो उसे कुछ माँगने की आवश्यकता ही नहीं रहती क्योंकि यदि नाम-स्मरण को भौतिक दुख वा सुख के क्षेत्र में किसी प्रकार की शक्ति उपलब्ध है तो उस मनुष्य के लिए जो अभी तक स्वास्थ्य व आनन्द से युक्त है ईश्वर का नाम और भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है। दुख उस दशा में हमारे ऊपर कोई प्रभाव ही नहीं डाल सकता। कबीर कहते हैं कि "प्रत्यक मनुष्य भगवान् को दुख में स्मरण करता है सुख में कोई भी सुमिरण नहीं करता। यदि सुख में भी वह स्मरण करने लगे तो फिर दुख का अवसर ही उसे क्यों उपलब्ध हो" ?× जब निर्गुणी को यह आदेश मिल गया कि 'चाहे हम बैठे हों, चलते हों, खाते हों, पीते हों अथवा और भी कोई काम करते हों, प्रत्यक दशा में हमें चाहिए कि भगवान् को अपने हृदय में विद्यमान समझते हुए उसे स्मरण किया करें, + तो फिर उसे किसी दुख वा कमी के अनुभव करने की अवश्यकता ही कहाँ रह जाती है। परन्तु ईश्वर को सदा स्मरण करते रहने का यह उद्देश्य निर्गुणियों के अनुसार कभी नहीं है।

---

* तन भी तेरा मन भी तेरा तेरा पिंड पराण।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादू का ज्ञान ॥
सं० वा० सं० पृ० ९१।

× दुख में सुमिरण सब करे, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरण करे, दुख काहे को होय ॥

\+ बैठे लेटे चालते, खान पान व्यवहार।
जहाँ तहाँ सुमिरण करै, सहजो हिये निहार ॥
स० वा० स० १५३।

उनके लिए, यद्यपि यह एक साधना मात्र है किंतु तो भी यह उनके लिए अपने अभीष्ट से किसी प्रकार कम नहीं। यह दूसरी बात है कि इसके द्वारा उसे ईश्वर के साथ संयोग होता है और उसे सांसारिक दुःखों से निवृत्ति भी हो जाती है। प्रेमी अपने प्रियतम का नाम लेने में उतना अनुरक्त रहा करता है कि उसे उस बात की ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता कि उसका परिणाम उसके लिए क्या होगा? यही कारण है कि उसे सांसारिक दुःखों का अनुभव नहीं हुआ करता। उसकी इच्छाएँ और उसकी आशाएँ सभी अपने प्रियतम में केन्द्रित रहा करती हैं। उसके अतिरिक्त उसे कोई भी अभिलाषा वा आशा नहीं और दुःख भी अतृप्त वासनाओं और भग्न आशाओं के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है?

नाम सुमिरन जिसे हम 'मन्त्र योग' भी कह सकते हैं 'सुरति शब्द योग' का ही एक दूसरा रूप है और इस प्रकार वह सारे योगों का भी योग है। भक्तियोग, राजयोग, मंत्रयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग एवं ज्ञानयोग भी उसी के विविध रूपांतर कहे जा सकते हैं। सभी के आधारभूत सिद्धान्त इसके भीतर आ जाते हैं। अपनी प्रारंभिक दशा में यह मंत्रयोग है जो राजयोग-द्वारा अनुप्राणित रहा करता है और अपनी अंतिम दशा में यही ज्ञानयोग है जिसमें उस निर्विकार के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त होती है। इसके लिए उस निरपेक्ष परमात्मा की सत्ता में अपनी सत्ता का भान करना पड़ता है। 'लययोग' यह है जिसे निर्गुणी 'लौ' की संज्ञा देते हैं। अब तक कही गई बातों-द्वारा पूर्णतः स्पष्ट हो गया होगा कि इन सब की सिद्धि एक प्रकार की प्रेम-साधना-द्वारा होती है। यही भक्तियोग है जिसे दुहराने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। इसके हठयोग एवं कर्मयोग वाले रूपों के विषय में अब हम इस अध्याय के अगले प्रकरणों द्वारा विस्तार के साथ प्रकाश डालेंगे।

जिस प्रकार आदि व अन्त का भान शब्द के द्वारा हुआ करता है और इस काल की ही सीमा की भाँति, जिस प्रकार दिशा एवं कार्य-कारण के अनुभवों की भी उत्पत्ति, उसी शब्द से ही मानी जाती है, उसी प्रकार इन सभी सीमाओं को अतिक्रमण करने के लिए फिर से उसी शब्द में उनका लीन हो जाना भी आवश्यक होगा। शिवदयाल ने कहा भी है कि "शब्द को ही सबका आदि व अंत भी समझना चाहिए" * वह योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है और उक्त सीमाएँ शब्द में फिर से लीन हो जाती हैं ; शब्दयोग अथवा सुरति शब्दयोग कहलाता है और वह शब्द सर्वप्रथम भगवन्नाम के रूप में मुँह से निकलता है और अंत में स्वयं शब्द रूप ब्रह्म हो जाता है। इसे सहजयोग भी कहा जाता है क्योंकि इसकी सहायता से भी प्रत्यभिज्ञान का उदय होता है।

६. शब्द योग

इस अवस्था में निर्गुणियों का लक्ष्य शुद्ध सत्तारूप हो जाना है जो वह मूलतः पहले से भी है, किंतु जिसका यह अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी अनुभूति एवं सत्ता के बीच प्रकृति का व्यवधान आ जाता है। यह तभी संभव है जब उस प्रकृति का अतिक्रमण कर दिया जाय जो हमारी सत्ता को आवृत किये रहती है और इसके लिए हमें उस प्रकृति को ही भली भाँति समझ लेना पड़ेगा और उसके रहस्यों को भी जान लेना होगा जैसा कि ज्ञयोगसंहिता तंत्र में कहा गया है "ब्रह्म (पुरुष) से उत्पन्न होने के कारण प्रकृति अर्थात् पिंड व ब्रह्माण्ड एक ही समान हैं। वे समष्टि एवं व्यष्टि के संबंध रूपी बन्धनों द्वारा बँधे हैं। यद्यपि, देव एवं पितृ लोग पिंड में रहा

---

* सबका आदि शब्द को जान। अन्त सभी का शब्द पिछान।
'सारवचन' पृष्ठ १६१।

करते हैं और ग्रह नक्षत्र एवं राशियाँ ब्रह्माण्ड में रहा करती हैं। अतएव पिंड के ज्ञान-द्वारा ब्रह्माण्ड का ज्ञान भी संभव है। और पिंड का ठीक ठीक ज्ञान गुरु से प्राप्त करने के लिए प्रकृति को पुरुष में लीन कर देना आवश्यक होगा।[१] इस प्रकार वास्तविक योग की उपलब्धि के लिए प्रत्येक साधना में इस प्रश्न पर दोनों ओर से विचार करना पड़ेगा। उस सत्ता के साथ तद्रूप हो जाने के लिए पूर्ण अभिलाषा होनी चाहिए और इस बात के लिए भी भूख होनी चाहिए कि किस प्रकार प्रकृति के ज्ञान-द्वारा उसका अतिक्रमण कर देवे। आधुनिक पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार–पहले को रहस्यवाद और दूसरे को 'डिकल्टिज्म' (Decul tism) कहेंगे और जैसा कि अंडर-हिल को वस्तुस्थिति से बाध्य होकर मानना पड़ा है, दोनों एक दूसरे के विपरीत है। परंतु निर्गुणियों के विचार से, यह बात नहीं है, क्योंकि वे इनको एक दूसरे का पूरक समझते हैं। यदि कोई मत इनमें से किसी एक की उपेक्षा करता है तो, समझना चाहिए कि वह परमात्मा की ओर निर्दिष्ट किये गये मार्ग की सभी आवश्यकताओं का पूर्ति कर सकने में असमर्थ है। ईसाई रहस्यवाद, जिसने अस्तित्व वा सत्ता को संसृति की नितांत उपेक्षा कर के, उपलब्ध करने का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार भयानक भूल का दोषी कहा जा सकता है। जिस प्रकार आधुनिक 'डिकल्टिज्म' (Decultism) जो कि संस्टति के रहस्य का सत्ता से पृथक व भिन्न अर्थ में प्रयोग करना अपना लक्ष्य मानता है। किंतु निर्गुणी संतों के शब्दयोग में, आध्यात्मिक साधना की पूर्ति दोनों के सहयोग से होती हुई दीख पड़ती है। नाम सुमिरन जिसकी चर्चा पिछले प्रकरणों में की जा चुकी है शब्दयोग के सभा वाले अंश को सूचित करता है। उसका ससृतिवाला अंश जिसका सम्बन्ध विश्व का सृष्टि से है, आगे के पृष्ठों में बतलाया जायेगा।

१—'लययोग संहिता' पृ० १-२।

इस प्रकार के ज्ञान के विषय में, इसके सभी मानने वाले सहमत हैं। साधारण रूप से स्वीकार कर लिया जाता है कि ब्रह्मांड अर्थात् शब्द शरीर वा निरंजन तथा पिंड में न्यूनाधिक पूर्ण सादृश्य है। ईसाइयों की यह धारणा भी कि ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप रचा था, इसी दृष्टि से समझ में आ सकती है। मानव शरीर, प्रत्येक गूढ़ विद्याओं-द्वारा विश्व का सूक्ष्म रूप अथवा सूक्ष्म जगत माना जाता है और निर्गुण पंथ वालों का यह एक साधारण कथन है "कि जो कुछ ब्रह्मांड में है, वह पिंड में भी है।"⊛ तुलसी साहब ने कहा है कि "यह शरीर ही मसजिद है जिसमें चौदहों तबक विद्यमान हैं।"× परंतु इन चौदहों के अन्तर्गत निचले लोकों की भी गणना की गई है। ऊपरी लोकों के विषय में भी वे इसी प्रकार कहते हैं और उनकी संख्या आठ ठहराते हैं। "वे महल भीतर हैं जहाँ पर सन्त लोग विलास करते हैं। सन्त लोक, सत पुरुष का स्थान है जिसका ध्यान पूर्ण रूप से सुरति के साथ करना चाहिये सद्गुरु के लोक तक पहुँचने के लिए सत गगन को पारकर ऊपर जाना पड़ता है। नीचे के तीन लोक निर्गुण के निवासस्थान हैं।" +

परंतु पिंड व ब्रह्मांड के इस सादृश्य को भली भाँति समझने के पहले हमें परमात्मा के इस मंदिर के रहस्यमय व्यवच्छेद की भी एक धारणा

⊛ जो पिंडे सो ब्रह्मांडे जानि, मान सरोवर करि असनान ॥ १२८ ॥

क० ग्रं०, पृ० १९९।

× साँची मसजिद तन को जानो, जामें चौदह तबक समाना।

'घट रामायण' पृ० ८७।

+ आठ महल अंदर के माँही, संत विलास करें तेही ठाही।

सत्तलोक सत पुरुष का, करे सुरति से ध्यान।

सात गगन ऊपर चढ़े, जहं सतगुरु का अस्थान॥

'रत्न सागर' पृ० १५।

बना लेनी चाहिए। मानव शरीर से महत्वपूर्ण स्नायुकेन्द्रों या संस्थानों का अस्तित्व बतलाया जाता है जिन्हें योगी व निर्गुणी लोग चक्र अथवा कमल कहा करते हैं और जिनमें ईश्वरीय शक्ति के गुप्त रूप से किंतु क्रमशः बढ़ते हुए परिमाण में वर्तमान रहने में, विश्वास किया जाता है। योगियों की भाँति, अधिकतर निर्गुणी भी यही मानते हैं कि मानव शरीर की रचना, उसके अंतर्गत, इनमें से छः कमलों के साथ हुई है, वे उसके भिन्न-भिन्न भागों में बने हुए हैं और उन सबके ऊपर एक शीर्ष कमल की प्रधानता है।

गुदास्थान एवं जननेन्द्रिय के बीच, जिसे योनि भी कहते हैं और जो स्त्रियों की गुप्तेन्द्रिय की जगह पड़ता है, "मूलाधार" नाम का कमल है जिसे निर्गुणी लोग बहुधा केवल मूल नाम से अभिहित करते हैं, और जिसके चार दलों में एक सूर्य निवास करता है। 'स्वाधिष्ठान चक्र' (वा स्वाद) छः दलों का कमल है जो जननेन्द्रिय के मूल में अवस्थित है। 'मणिपूर' वा नाभिचक्र दस दलों का है जिसका स्थान नाभि-प्रदेश है और इसी प्रकार बारह दलों का 'आवाहन' व हृदयचक्र हृदय में, सोलह दलों का 'विशुद्ध' वा कंठचक्र कंठस्थान में तथा 'आज्ञा' वा आकाश चक्र, जो केवल दो दलों का है, दो भौंहों के बीच वर्तमान है। मस्तिष्क प्रदेश के अन्तर्गत वह शीर्षकमल है जो 'सहस्रार' कहलाता है और उसमें सहस्र दल हैं जैसा कि उसके नाम से भी प्रकट होता है।

बनारस के निकट सारनाथ में जो बुद्ध की मूर्तियाँ रखी हुई हैं उनमें से कुछ में पहले ऐसा जान पड़ता है कि उनके शिर पर एक छोटी सी वालदार टोपी बनी हुई है, किंतु उनमें जो उक्त टोपी के आकुंचित अधोभाग जान पड़ते हैं वे वस्तुतः इस कमल के दल ही हैं। निर्गुणियों को भी इन चक्रों के अस्तित्व में विश्वास है किंतु वे सभी इनके दलों की संख्या एक ही समान नहीं ठहराते। कबीर व अन्य बहुत से निर्गुणी, उक्त साम्प्रदायिक धारणा से, संख्या के विषय

में पूर्ण सहमत हैं किंतु शिवदयाल साहब के अनुसार योगशास्त्रों द्वारा बतलाये गये छहों चक्र उनके स्थूल रूपों को ही प्रकट करते हैं और उनका पिंड अथवा मुख्य शरीर भाग से संबंध है, उनके अतिरिक्त अन्य ऐसेही चक्रों के तीन और भी समूह हैं जिनमें से प्रत्येक में क्रमशः बढ़ती हुई सूक्ष्मता के साथ तीन-तीन चक्र वर्तमान हैं। इन तीनों अन्य समूहों में से सबसे नीचेवाले का संबंध ब्रह्मांड से है (जो अंडाकार विश्व का प्रतिरूप होने के कारण, मस्तिष्क का ही एक नाम है) और जिसमें सहस्रदल कमल, त्रिकुटी एवं दशम द्वार वर्तमान हैं। ब्रह्मांड के आगे वाले मध्य-वर्ती समूह में अचिंत्य कमल, भवँर गुफा व सत्यपद हैं। कहा जाता है कि योगियों को भी ब्रह्मांड के इन चक्रों का केवल एक धुँधला सा ही दर्शन होता है। संत अथवा निर्गुणी महात्मा ही सत्यपद तक पहुँच सकते हैं। अंतिम तीन पदों का ज्ञान केवल शिवदयाल साहब को अथवा उन लोगों को ही है जिन्हें उन्होंने बतलाने की कृपा की होगी।*

शिवदयाल के अनुयायियों ने पिंड, ब्रह्मांड तथा उसके परेवाले समूह के सादृश्य को पूर्ण करने के विचार से इन ऊपरवाले समूहों की संख्या को घटा कर दो कर दिया है और, इस प्रकार चक्रों की कुल संख्या को तीन मान लिया है। इसलिए ऊपर के जो दो चक्र-समूह मस्तिष्क के भूरे एवं श्वेत भाग में पड़ते हैं उनमें से भी प्रत्येक में उनके अनुसार छः चक्र ही बने हुए हैं। उन लोगों ने, मानव शरीर एवं विश्व में सादृश्य दिखलानेवाले अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय आधुनिक शरीर-विज्ञान व खगोल विद्या-संबंधी अपने ज्ञान का भी प्रयोग करने की चेष्टा की है। विश्व-रचना-विषयक उनकी धारणा नितांत अपनी है। उनके अनुसार इसके तीन बड़े-बड़े भाग हैं जो, हमारे सौर संप्रदाय के प्रधान नक्षत्रों को लेकर, चक्रों के स्थूलतम समूह की जगह पर हैं और जिनमें

---

* 'सारवचन' भाग २, पृ० २६८-९।

भौतिक व आध्यात्मिक जगत् दोनों ही वर्तमान हैं किन्तु जहाँ आत्मा के ऊपर भौतिक तत्वों की प्रधानता है। अभी देखना यह है कि कोई इससे भी आगे बढ़कर, उक्त सादृश्य में कैप्टेन (Kaptiyn) शैनली (Shanly) और डि सिल्टर (De Silter -नामक पिंडों को भी स्थान दे देता है या नहीं, जिनका पता उन नामोंवाले महान् ज्योतिषियों ने अन्वेषण करके संसार को बतला दिया है। उन प्रदेशों के दो अन्य भी बड़े-बड़े भाग हैं। इनका सादृश्य वे चक्रों के उन दो सूक्ष्म समूहों के साथ ठहराते हैं जो मस्तिष्क के क्रमशः भूरे एवं श्वेत अंशों में बतलाये जाते हैं और जिनमें से प्रत्येक में उन चक्रों के चिह्न-स्वरूप छः छिद्रों का होना भी कहा जाता है। कबीर के भी एक पद में, जो स्पष्ट रूप में क्षेपक है, इस प्रकार के तीन विभागों की चर्चा की गई है जिनमें से प्रत्येक में सात प्रदेश हैं और जिनके आगे भी अन्य पाँच अलौकिक लोक हैं। बड़े विभाग के सबसे नीचेवाले प्रदेश को पाताल कहा गया है, बीचवालों के नाम आकाश दिये गये हैं और सबसे ऊपरवाले सुन्न कहे गये हैं। मेरे विचार से ऐसा करना रहस्यवादी-शरीर-विज्ञान के क्षेत्र में दार्शनिक परात्पर वाद को ला जोड़ना है। परंतु जैसा कि मैंने अन्यत्र भी कहा है, प्रदेशों की इस अनियमित संख्या-वृद्धि का एकमात्र आधार वा प्रमाण अनुभव के क्षेत्र में ही ढूँढ़ा जा सकता है। जो हो, इतना स्पष्ट है कि कबीर के छः चक्रों तथा यदि सहस्रार को शीर्ष-चक्र कहा जाय तो उसके भी अतिरिक्त और अधिक नहीं माना था और कुछ नाम, जो उक्त परात्परवादियों द्वारा उनके बतलाये गये उच्च स्थानीय चक्रों को दिये गये हैं, वे नीचेवाले प्रदेशों को ही देते हैं। उदाहरण के लिए भवँर गुफा को उन्होंने अनाहत चक्र में तथा त्रिकुटी को आज्ञाचक्र में स्थान दिया है।

इन चक्रों से वस्तुतः सम्बन्धित होने पर भी, बहुसंख्यक पदों को अपना अस्तित्व सिद्ध करने के लिए नितांत भिन्न स्थान ग्रहण करना पड़ेगा। उक्त षटचक्र नियामक प्रेस-बटनों वा उन कुंजियों के समान

होते हैं, जिन्हे यदि काम में लाया जाय तो उस शरीर के सारे स्पंदनों का नियंत्रण जिन्हें अन्यत्र कोश कहा गया हैं, प्रत्येक प्रकार के स्थूल वा सूक्ष्म स्तर के क्रम से किया करते हैं। इन्हीं स्तरों को क्रमान्वित कर लेने पर, पदों की संज्ञा दी जाती है। इसमें संदेह नहीं कि क्रमों की संख्या उन प्रयोगों पर ही आश्रित है जो हम उक्त नियामक घटनों का कर सकते हैं।

योग शास्त्रानुसार ये षट्-चक्र उस सुषुम्ना नाड़ी के भीतर भिन्न-भिन्न अवस्थान माने जाते हैं, जिसके निम्न सिरे अर्थात् मूलाधार कमल में प्रकृति वा आध्यात्मिक शक्ति अपनी साढ़े तीन कुंडलियों द्वारा उससे तथा उसके वाम भाग में अवस्थित इड़ा, एवं दाहिनी ओर की पिंगला नाड़ियों से जो उसके साथ उसके ऊपर वाले छिद्र वा ब्रह्मांध्र के पास पुरुष के निवास स्थान सहस्रार में मिलती है, सर्पिणी कुंडलिनी के रूप में लिपटी रहती है। 'जययोग संहिता तंत्र' में कहा गया है कि 'कुंडलिनी मूला-धार में सुप्त रहती है और सहस्रार में नित्य-पुरुष का वास है। जब तक कुंडलिनी सोती रहती है बाह्य सृष्टि चलती रहती है। जब योग साधना की भिन्न-भिन्न युक्तियों द्वारा वह जागृत की जाती है तो बाह्य सृष्टि का उस पुरुष में लय हो जाता है।"* सहस्रार के सहस्रदलों में वर्तमान चन्द्र अमृतस्राव करता है जो इड़ा नाड़ी द्वारा बहा करता है और चार दलों के मूलाधार में वर्तमान सूर्य उसे सोख लेता है तथा, उसकी जगह, विषमय रस प्रवाहित करता है जो शरीर में भिन जाता है और जिसके कारण उसमें समय के पहले ही ह्रास होने लगता है। योगीलोग, चन्द्र द्वारा निकलने वाले उस अमृत का पान कर उसे शरीर में व्याप्त कर देना तथा उसकी सहायता से उक्त विषैले रस के प्रभावों से मुक्त हो जाना चाहते हैं।

---

* पृ० २।

चन्द्रमा सत्ता अथवा हमारे मौलिक अमरत्व का प्रतीक है और इसी प्रकार सूर्य भी विकास या हमारे उस पक्ष का द्योतक है जो परिवर्तनशील व नाशमान है। अमरत्व के रस का पिघले रस में परिवर्तित होकर इस प्रकार के नाश का कारण बन जाना भी सत्ता से विकास में परिणत होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। भौतिक पक्ष में उत्पादन भी परिवर्तन के तत्त्व का ही व्यक्त व बाह्यरूप है। शरीर में स्रावित होनेवाला उसमें संचित जीवन-तत्त्व का ओजस नामक परिणाम है जिसके द्वारा ईश्वरीय गुणों की उपलब्धि होती है और योगियों का शरीर एक प्रकाश-मंडल से परिवृत हो जाता है। मूलाधार-स्थित सूर्य द्वारा रस के न निकलने की दशा में प्रत्येक व्यक्ति उस ईश्वरीय शक्ति का अनुभव कर सकता है जिससे योगियों को अमरत्व मिला करता है। जीवन तत्त्व के रस के शरीर के बाहर सूर्य कहे जाने वाले कतिपय मांसपिंडों द्वारा, निकलने को ही लाक्षणिक ढंग से पिघले रस का शरीर में प्रवाहित होना कहा जाता है। जीवन-तत्त्व वाले रस को जो सूक्ष्म बिंदु व सत्ता का ही स्थूल रूप है निर्गुण मत के अनुसार भी सुरक्षित रखना आवश्यक है।

ऊपर के उन आध्यात्मिक पदों तक पहुँचने के लिए जिसमें अनाहत नाद या परमात्मा शब्द सुन पड़ता, तथा अमृत रस का स्वाद मिलता है यह आवश्यक है कि ये आध्यात्मिक शक्ति के केन्द्र भी सक्रिय हो जायँ। योग साधना की शास्त्रीय पद्धति का अष्टाङ्ग योग भी इसी बात को लक्ष्य करता है। इसका मुख्य साधन प्राणायाम या श्वास का नियमन करना है। श्वास एक प्रकार से शब्द का ही सूक्ष्मतम रूप है। योग पद्धति में श्वास-विज्ञान अपनी पूर्णता तक पहुँच गया है। जब श्वास कुछ समय तक बायें नथने से चलता है तो इसका इड़ा अथवा चन्द्रनाड़ी से होकर चलना कहा जाता है। और इसी प्रकार जब यह दाहिने नथने से जाता है तो इसका पिंगला या सूर्यनाड़ी से होकर चलना बतलाया जाता है और जब कभी यह दायें तथा बायें नथने से बारी-बारी होकर चला करता है

तो इसका प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी से हुआ करता है, जहाँ पर चन्द्र एवं सूर्य की उक्त दोनों नाड़ियाँ आपस में मिल जाती हैं। इसे अग्नि नाड़ी भी कहते हैं। ये नाड़ियाँ क्रमशः गंगा जमुना एवं सरस्वती भी कहलाती हैं। आज्ञाचक्र से होकर जाते समय इंगा वरुण कही जाती है। और पिङ्गला को असी का नाम दिया जाता है तथा इसी कारण उस चक्र को भी वाराणसी या काशी कहा करते हैं। प्राणायाम से अभिप्राय धीरे धीरे भीतर की ओर दीर्घ श्वास लेना और इस क्रिया को बारी-बारी दोनों नथनों द्वारा करना, वायु को जब तक संभव हो रोक रखना तथा अंत में उसे दूसरे नथने से बाहर निकाल देना होता है! श्वास के भीतर ले जाने को पूरक, बाहर निकालने को रेचक तथा रोक रखने को कुंभक नाम दिये गये हैं रोक रखने की अवधि को क्रमशः धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिये! विश्वास किया जाता है कि प्राणायाम का लगातार अभ्यास उस यौगिक शक्ति को जागृत करता है जिसका प्रतीक सर्पाकार कुंडलिनी है जो मूलाधार के भीतर प्रसुप्त समझी जाती है और जो ऊपर को चढ़ती हुई, अन्य केन्द्रों को भेदन कर उनमें निहित शक्ति को उद्‌बुद्ध कर देती है। ज्यों-ज्यों उन केन्द्रों का भेदन होता जाता है त्यों-त्यों साधक अनुभव के उच्चतर स्तरों तक पहुँचता जाता है। अद्‌भुत दृश्य देखा करता है और अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेता है। कुछ लोग इसे ही परमात्मा का दर्शन मान लेते हैं, किन्तु साधक को चाहिए कि वह इस प्रकार के प्रलोभनों से अपने को बचाता चले। जब आज्ञाचक्र अथवा दोनों भवों एवं नाक का मध्यवर्ती केन्द्र जो त्रिकुटी भी कहा जाता है प्राप्त हो जाता है तब कहीं सच्चे आध्यात्मिक जीवन का आरंभ होता और जब कुंडलिनी ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाती है तब मन पूर्णतः शांत हो जाता है तथा विषयों से विनिवृत्त होकर अंतर्मुख बन जाता है। इस स्थिति को उन्मन दशा या अति चेतनावस्था कहते हैं। इसी दशा के प्राप्त हो जाने पर अनाहत नाद या ईश्वरीय शब्द सुन पड़ता है जिससे अमृत रस का स्वाद

मिलने लगता है और परमात्मा के प्रकाश का दृष्टि-गोचर होना भी संभव बन जाता है। यह वही दशा है जिसे वेदान्ती तुरीयावस्था कहते हैं और जो बहुधा दशवें द्वार का खुलना भी कहलाता है।

नीचे दिये गये प्रतिनिधि निर्गुण सन्त कवियों के उद्धरणों द्वारा इन योग संबंधी विश्वासों तथा अभ्यासों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

> उलटि पवन कहं राखिये कोई मरम बिचारे।
> सांधे तीर पताल को फिर गगनहि मारे ॥५४॥
>
> क० ग्रं०, पृ० १३८।

अर्थात् लौटने पर प्राणवायु को कहां पर संचित किया जाय इसके रहस्य पर कुछ ही लोगों ने विचार किया होगा। तीर को, सर्वप्रथम पाताल की ओर लक्ष करो और तब उसे आकाश की ओर छोड़ो। तीर यहाँ प्रसंगानुसार प्राणवायु ही हो सकता है इसमें संदेह नहीं।

> प्रकट प्रकास ग्यान गुर गमि थैं ब्रह्म अगिन परजारी।
> ससिहर सूर दूर दूरतर, लागी जोग जुग तारी॥
> उलटि पवन चक्र षटबेधा, मेर डंड रस पूरा।
> गगन गरजि मन सुंनि समाना, बाजी अनहद तूरा॥ ६॥
>
> क० ग्रं०: पृ० ९०।

अर्थात् गुरु के संकेतों का अनुसरण करने पर मुझे प्रकाश के दर्शन हुए और उसने ब्रह्माग्नि प्रज्वलित कर दी। चन्द्र व सूर्य आपस में दूर रहते हुए भी योग में मिल गये। श्वास के उलटने से षटचक्र का भेदन हो गया और मेरुदंड व सुषुम्ना अमृत रस से भर गई। मन समाधि में लीन हो गया, गगन गर्ज रहा है और अनाहत भी बज रहा है।

> अवधू गगन मंडल घर कीजे।
> अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजे॥

मूलं बाँधि सर गगन समाना, सुखमन पोतन लागी।
काम क्रोध भया पलीता, तहँ जोगण जागी॥
क० ग्रं० पृ० ११०।

अर्थात् अपयुक्त पुरुषो, अपना निवास गगन में कीजिये। अमृतरस चू रहा है और शाश्वत आनन्द उत्पन्न कर रहा है, बंकनाल या सुषुम्ना उस अमृतरस से भरी जा रही है। मूल (मूलाधार) के केन्द्र को संकुचित करके तीर सुषुम्ना से होकर गगन अथवा त्रिकुटी तक पहुँच गया। काम एवं क्रोध का प्रभाव जाता रहा जब योगिनी (कुंडलिनी) जागृत हो गई।

मनवा जाय दरीबे बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नहीं, सबद अनाहद बागा॥
क० ग्रं० पृ० ११०।

अर्थात् मन दस द्वार तक पहुँचकर अमृतरस द्वारा सिक्त होकर बैठ गया। अब मुझे कुछ भी संदेह नहीं रह गया, क्योंकि अनाहद नाद बज चुका।

उन्मनि चढ़्या मगन रस पीवै॥ ७२॥
क० ग्रं० पृ० ११०।

अर्थात उन्मन की दशा तक पहुँचकर वह मगन होकर अमृत का पान करने लगता है।

गोरख सो जिन गोय उठाली करतो बार न लागे।
पानी पवन बंधि राखे, चंद सुरज मुख दीये॥
'गुरु ग्रंथ साहब'

अर्थात् गोरख वह है जिसे गोप्य वस्तु के जान लेने में विलंब नहीं लगता और जो चन्द्र एवं सूर्य के संयोग द्वारा जीवनरस (वीर्य) एवं प्राणों को नियमित रखता है।

ससिहर के घर सूर समावे, जोग जुगति की कीमत पावै ।
'गुरु ग्रंथ साहब'

अर्थात् जब सूर्य चन्द्र में प्रवेश कर जाता है, तभी योग की युक्ति का महत्व जान पड़ता है।

स्वास उसास विचार कर, राखै सुरति लगाय ।
दया ध्यान त्रिकुटी धरे, परमातम दरसाय ॥
प्रथम बैठि पाताल सूँ, धमकि चढ़ै आकास ।
दया सुरति नटिनी भई, बाँधि बरत निज स्वास ॥
सं० बा० स० भाग १, पृ० १६६ ।

अर्थात् गंभीर एकाग्रता द्वारा अपने चित्त को श्वास-प्रश्वास में लगाओ। दया कहती है कि त्रिकुटी में ध्यान लगाओ और परमात्मा के दर्शन हो जायँगे, सुरति जागृत हुआ आत्मा नट के समान हो जाता है और श्वास-प्रश्वास की रस्सी पर चलने लगता है। यह पहले पाताल में प्रवेश करता है और तब गगन की ओर दौड़ता है।

कबीर एवं गोरख के बीच शास्त्रार्थ का वर्णन करने वाले पद जिनमें गोरख की पराजय दिखलाई गई है और जो कबीर की रचना समझे जाते हैं अनैतिक्य का उदाहरण समझे जाते हैं और वे स्पष्टतः प्रक्षिप्त हैं। किस प्रकार ये कबीर जिन्हें षट्चक्र सोने के बने कमरे जान पड़ते हैं, जहाँ वस्तु सुरक्षित रूप में निहित है, गोरखनाथ का ऋण भूल सकते हैं? उन्होंने गोरखनाथ, भर्तृहरि व गोपीचन्द की प्रशंसा स्वयं की हैं और कहा है कि वे विश्वचेतन के साथ मिलकर आनंदित बने रहते हैं।

गोरखनाथ के निम्नलिखित उद्धरणों के साथ निर्गुण संप्रदाय के अनुयायी संतों की उक्त रचनाओं की तुलना करने पर पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायगा कि ये जोग नाथ पंथ के कहाँ तक ऋणी थे :--

ऊँ ग्रासन करि पद्मासन बंधि । पिछले ग्रासन पवना संधि ।
मन मुछावे लाव ताली । गगन शिखर में होय उजाली ।
प्रथम बैसि बायें बंधि । पवना खेले चौसठि संधि ।
नव दरवाजा देवें ताली । गगन सिखर में होय उजाली ।
ऐसा भुअंगम जोगी करे । धरती सोखि ग्रम्बर भरे ।
गगने सुर पवने सुर तानि । धरती का पानी ग्रम्बर ग्रानि ।
ता जोगी की जुगति पिछानि । मन पवन ले उनमनि ग्रानि ।
मन पवन ले उनमन रहे । तो काया गरजे गोरख कहे ।

'ग्रातम बोध' पृ० २४१ ।

चंद सूर सम्य करि राखो ग्रापे ग्राप जु मिलिया ।

वही पृ० २०० ।

नीझर झरै ग्रमीरस पिवणा सटदल वेध्या जाई ।
चाँद विहूणा चाँदणा देख्या गोरख राई ।।

वही पृ० २२६ ।

ग्रर्थात् "ऊँ पद्मासन पर बैठ जाग्रो ग्रौर तब श्वास की ग्रोर ध्यान लगाग्रो । मन को नष्ट कर उस पर ताला लगा दो । गगन शिखर प्रकाश दीख पड़ेगा । प्रथम प्रवेश बायें नथने से होता है ग्रौर तब प्राण कुल चौसठों संधियों में खेलने लगता है । नवो द्वारों पर ताला लगा दो दसवें पर प्रकाश दीख पड़ेगा । योगी को तब ऐसे सर्प से काम लेना चाहिए जो धरती को सोख लेता (सबसे नीचे की ग्रोर वर्तमान यौगिक शक्ति को खींच लेता) ग्रौर ग्राकाश को भर देता है । ग्राकाश में स्थित स्वर को बाहर निकालो ग्रौर धरती के जल को ग्राकाश तक पहुँचा दो । उस योगी की युक्ति को समझो, मन एवं प्राण को सम्बद्ध करके ग्रति चेतन को जाग्रत कर देता है । गोरख कहता है यदि कोई मन एवं ग्रायु को नियमित करके उनमन की स्थिति उत्पन्न कर देता है तो

शरीर अनाहत नाद से गूँज उठता है।" "यदि तुम आत्मा को परमात्मा में मग्न कर देना चाहते हो तो सूर्य एवं चन्द्र को नियमित करो।" "जब षटचक्रों का भेदन हो जाता है तब योगी के पीने के लिए अमृत-स्राव होने लगता है। गोरखनाथ ने वहीं पर चन्द्र के बिना रहने पर भी चाँदनी देखी थी।"

गोरखनाथ के आसनों का प्रसंग यदि छोड़ दिया जाय तो, उनमें तथा निर्गुण संप्रदाय के संतों में एक आश्चर्यजनक समानता दिखाई पड़ेगी। कोमल शुक्ल कला ही नहीं अपितु शब्दावली भी दोनों की एक ही समान है। सुरति, निरति, उन्मन आदि शब्दों को गोरखनाथ एवं अन्य संतों ने अपनी हिंदी रचनाओं के अन्तर्गत एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।

इसमें संदेह नहीं कि निर्गुणी संतों ने, अजपाजाप को योग की एक साधनाविधि के रूप में, गोरखनाथ के ही मत से लिया है। मन को एकाग्र करना व श्वास को नियंत्रित करना अजपाजाप की एक पूर्व विधि है जैसा कि अनुरागसागर के एक पद्य से प्रकट होता है—

> जाप अजपा हो सहज धुन, परखि गुरु गम धारिये।
> मन पवन थिर कर शब्द निरखे, कर्म मनमथ मारिये॥
>
> बोधसागर भा० २ पृ० ११।

क्योंकि जैसा कि गुलाल ने भीखा को बतलाया था "शब्द ब्रह्म है, बिना श्वास के मन ब्रह्म है, परंतु श्वास के साथ रहने पर माया हो जाता है जिसमें त्रिगुण के खेल चल रहे हैं। श्वास के नियंत्रित हो जाने पर मन का चक्कर लगाना बन्द हो जाता है और सभी कार्य रुक जाते हैं।"* किंतु जान पड़ता है कि जहाँ योगियों का प्राणायाम बल

---

* शब्द सो ब्रह्म पवन मन माया। तामें निर्गुन खेल बनाया॥

महात्माओं की बानी पृ० १६०।

के साथ किया गया रहता है और 'केवल कुंभ' की दशा में श्वास को पूर्ण रूप से नियन्त्रित कर लेने का भी उद्देश्य रखता है वहाँ निर्गुणियों का प्राणायाम अनुभव में आता हुआ श्वास-निःश्वास है जो अनुभूत होने के ही कारण स्वभावतः उस साधारण साँस लेने से अधिक गहरा होता है जिसका बहुधा हमें कुछ पता नहीं चलता। इस श्वास-क्रिया का अनुभव हम तभी करते हैं जब हमें कभी इसके विषय में कठिनाई जान पड़ती है।

इसके सिवाय निर्गुणियों के लिए प्राणायाम एक सहायक साधना है जो नामस्मरण का पूरक बनाने के लिए की जाती है और उन्हें प्रत्येक निश्वास व प्रश्वास के साथ, इसे करते समय, ईश्वर का नाम स्मरण करना पड़ता है। इस बात को और भी स्पष्ट करने के लिए मैं दादू की कुछ साखियों को उद्धृत करूँगा—

दादू नीका नाँव है, हरि हिरदै न बिसारि।
मूरति मन माँहि बसै, साँसै साँस सँभारि॥
साँसै साँस सँभालतां, इक दिन मिलिहै आइ।
सुमिरन पैंडा सहज का, सतगुर दिया बताइ॥

सं० बा० सं० भाग १, पृ० ७८।

अर्थात् दादू कहते हैं कि नाम अपूर्व वस्तु है, हरि को न भूलो। उसकी मूर्ति तुम्हारे भीतर प्रतिष्ठित हो जायगी, यदि तुम उसे अपने प्रत्येक श्वास के साथ स्मरण करते चलोगे। प्रत्येक श्वास के

प्राणायाम ते मन बसि होई। तन में संसै रहै न कोई॥

वही, पृ० १९८।

जबलग पौन सबै मन मानो। साँस बिना मन कहीं जानो॥ वही।

एक पवन के थकि गये, सकल क्रिया थकि जाय।
तब लग मन चाचत रहै, जब लग पवन समाय॥ वही, पृ० १९९।

साथ सावधान रहने पर यह एक दिन आकर तुमसे भेंट करेगा। स्मरण प्रज्ञा का मार्ग है जिसे हमें सद्गुरु ने बतला दिया है।" सहजोबाई के शब्दों में भी—

सहज स्वास तीरथ बहै, सहजो जो कोइ न्हाय।
पाप पुन्न दोनों छुटैं, हरि पद पहुँचे जाय॥

वही पृ० १४२।

अर्थात् 'स्वास की स्वाभाविक पवित्र धारा प्रवाहित हो रही है, सहजो का कहना है कि, जो कोई भी कर सके उसमें स्नान कर ले। उसके द्वारा शुभ पुण्य एवं पाप दोनों के ही बंधनों से छूट जाओगे, और, इस प्रकार, हरि के पद तक भी पहुँच सकोगे।

यदि निर्गुणियों की रचनाओं से उद्धृत की गई पंक्तियों को इस विचार से पढ़ा जाय तो विदित होगा कि इस विषय में कुछ स्पष्ट न बतलाती हुई भी, ये इनके साथ पूर्ण मतैक्य रखती हैं। इसके साथ यह भी दीख पड़ेगा कि उक्त उद्धरणों में से जो निर्गुणियों की रचनाओं से दिये गये हैं, एक भी तुलसी साहब अथवा शिवदयाल का नहीं है।

वास्तव में ये अपने को योग के एक नितांत भिन्न मत का प्रतिपादन करने वाला बतलाते हैं। परंतु यद्यपि वे प्राणायाम को एक निम्न श्रेणी का साधन-मार्ग ठहराते हुए दीख पड़ते हैं, फिर भी उनकी साधन-क्रिया कबीर अथवा अन्य संतों द्वारा स्वीकृत प्रणाली से भिन्न प्रतीत नहीं होती। पूर्ववर्ती निर्गुणियों की साधना वहीं तक जाती है, जिसे त्रिकुटी-ध्यान कह सकते हैं। त्रिकुटी जो दूसरे शब्दों में गगन कहलाती है उपनिषदों में काशी का प्रतीक मानी जाती है और कबीर भी ऐसा ही कहते हैं।

सो जोगी जाके सहजि भाइ।
मन मुद्रा जाकै गुरु को ग्यान, त्रिकुट कोट मे धरत ध्यान।
काया कासी खोजै बास, तहँ जोति सरूप भयो परकास॥

क० ग्रं० पद १७७, पृ० १३१।

अर्थात्, वास्तविक योगी वही है जिसने सहज भाव को उपलब्ध कर लिया है, जिसकी मुद्रा गुरु का ज्ञान है, जो त्रिकुटी के कोट में ध्यान लगाता है और जो शरीरस्थ काशी में आत्मा के निवासस्थान की खोज करता है।'

त्रिकुटी को इतना महत्त्व देने का कारण यह है कि यही सगुण एवं निर्गुण दोनों का अर्थात् भौतिक एवं आध्यात्मिक लोकों का मिलन स्थान है। जैसा कि मारवाड़ी दरिया साहब ने कहा है "दरिया त्रिकुटी के संगम पर दोनों पक्ष देखता है। इसकी एक ओर निराकार है और इसकी दूसरी ओर आकार वर्तमान है। मन, बुद्धि चित्त एवं अहंकार की दौड़ त्रिकुटी तक ही सीमित है, उसके आगे ब्रह्म का निवास है जो सुरति को दृष्टिगोचर होता है।"* इस प्रकार त्रिकुटी ही वह स्थान है जहाँ साधक शुद्ध भौतिक प्रदेश से निकल कर आध्यात्मिक में आगे बढ़ता है। तुलसी साहब और शिवदयाल के अनुयायी भी जिनमें राधास्वामी सत्संगवाले प्रधान हैं त्रिकुटी ध्यान का अभ्यास आत्मानुभूति के लिए किया करते हैं। राधास्वामी सत्संग की आगरा वाली शाखा के अध्यक्ष 'साहिब जी' रचित आध्यात्मिक नाटक 'स्वराज्य' में मास्टर रामदास-द्वारा अपने शिष्य को यह परामर्श दिलाया गया है कि वह आत्मा को इस रहस्यमयी काशी अर्थात् त्रिकुटी में ही उपलब्ध करे और इस मन के लिए 'जाबालोपनिषत्' का उद्धरण दिया गया है।× इसमें संदेह नहीं कि शिवदयाल

---

* दरिया देखै दोइ पख, त्रिकुटी संधि मझार।
निराकार एकै दिशा, एकै दिसा अकार॥
मनबुधि चित हंकार की, है त्रिकुटी लग दौड़।
जन दरिया इनके परे, ब्रह्मसुरति की ठौर॥
बानी, पृ० ११।

× अंक २, दृश्य ४, पृ० ४७।

द्वारा स्वीकृत प्रणालों जो चक्रों को उत्तेजित करने के लिए प्रयुक्त होती हैं, आँख को ही, आध्यात्मिक अभ्यास के प्रस्थान बिंदु का महत्त्व देती है। आँख की कनीनिका, जिसके लिए उनके शिष्य हुजूर साहिब के अनुसार पारिभाषिक शब्द 'तिल' है "आत्मा का वह स्थान है जहाँ पर जाग्रत् अवस्था में सांसारिक दुःखों वा सुखों का अनुभव हुआ करता है स्वप्नावस्था में आत्मा भीतर की ओर ऊपर गगन-प्रदेश में खिंच जाता है। सुषुप्तावस्था आत्मा को क्रमशः अपने स्थान से हटाकर आँख की कनीनिका में लाने पर उपलब्ध होती है जो ठीक उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार मृत्यु के समय वह ऊपर उठती या खिंच जाया करती है।"@ यह कथन उनके गुरु के निम्नलिखित वचन का भाष्य रूप है—

"नैन उलटि घुत मोड़ कर, चढ़ै पुकारे संत।

सारवचन २, पृ० १०१।

तथा—

"ऊँचो नीचो घाटी उतरी; तिलको उलटी फेरी पुतली।

वही, भाग २, पृ० १६१।

अर्थात् 'आँख की पुतली को उलट कर और सुरति को मोड़ कर संत लोग ऊपर चढ़ा करते हैं।' 'आँख की पुतली को उलट कर मैं ऊँचे शिखरों तथा गहरी घाटियों तक पहुँच गया।'

उनके शिष्यों के लिए यह भी उपदेश है कि वे अपने गुरु की सेवा में रहते समय, उनकी आँखों पर ही अपनी दृष्टि लगाये रहें। तुलसी साहब ने भी कहा है कि "आँख की पुतली से होकर ही प्रवेश करो, वहाँ पहुँचने का यही मार्ग है।" केवल तुलसी साहब व राधास्वामी के अनुयायी मात्र ही आँख को इतना आध्यात्मिक महत्व नहीं देते। सभी

@ राधास्वामी मत प्रकाश, पृ० २४।

आधुनिक गूढ़ विज्ञान आँखों से ही आरंभ करते हैं और प्राचीन लोग भी इसकी उपेक्षा नहीं करते थे। आधुनिक रहस्य-विज्ञानी की उपासना त्राटक तक पहुँच जाती है जो लययोग-द्वारा आँख के अभ्यास के लिए विहित है और जिसमें दृष्टि किसी केन्द्र बिन्दु पर स्थिर की जाती है। प्राचीन लोग दो अन्य दृष्टि का भी उपदेश देते थे जिनमें एक 'नासाग्र दृष्टि' अर्थात् अपनी दृष्टि का नाक के सिरे पर ठहराने का उपदेश भगवद्-गीता ने भी दिया है।* और दूसरी 'भ्रूमध्य दृष्टि', अर्थात् आँखों की भवों के मध्य भाग में दृष्टि लगाना है, (जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से पता चलेगा,) राधास्वामी मतानुयायी भी स्वीकार करते हुए जान पड़ते हैं। पूर्वकालीन निर्गुणी संत भी आँख को उपेक्षा नहीं करते थे और उनकी भी साधना-पद्धति तुलसी व शिवदयाल जैसे प्रतिशय-वादियों की साधनाओं के समान थी जैसा कि दादू के निम्नलिखित पद्य से प्रकट होगा—

जहाँ जगत गुरु रहत हैं, तहाँ जे सुरति समाय।
तो दोनों नैना उलटि कर, कौतुक देखै जाय॥

'बानी', ज्ञान, सागर पृ० ७०, १९।

अर्थात् तुम यदि अपनी सुरति को जगतगुरु में लीन कर देना चाहते हो तो, इस कौतुक को तुम्हें अपनी दोनों आँखों को उलटकर देखना चाहिए।

बहुत से ऐसे पद्य जिन्हें कबीर की रचना कहा जाता है, किंतु जिनकी प्रमाणिकता में संदेह है, इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं। इनमें से एक में कहा गया है कि आँखों में कनीनिका चमकती हैं और उनके बीच द्वार बने हुए हैं। उन्हीं द्वारों से दूरबीन

---

*अध्याय ६, श्लोक १३।

लगाकर देखो और भवसागर के पार उतर जाओ"※ गरीबदास ने कहा है।"शून्य के विस्तार की ओर आँखें उलटकर देखो तो तुम्हें वह सर्वत्र दीख पड़ेगा।"× जगजीवनदास द्वितीय ने भी कहा है "यह ऐसी युक्ति है कि इसमें ध्यान दृढ़ हो जाता है, आँखों को उलटकर देखने से अपने को सत् में लीन कर लोगे और तुम्हें शान्ति मिल जायगी।"+

इस प्रकार जिन-जिन संतों को हमने निर्गुण संप्रदाय में सम्मिलित किया है उन सब की प्रणाली वस्तुतः एक ही थी। जो भिन्नताएँ दीख पड़ती हैं वे ऊपरी हैं और वे केवल इस कारण हैं कि भिन्न-भिन्न उपदेशकों ने एक ही प्रकार की साधनाओं के भिन्न-भिन्न पार्श्वों पर विशेष बल दे दिया है।

यद्यपि इन पंथों की गुप्त बातें हमसे सावधानतापूर्वक छिपायी जाती हैं फिर भी जो कुछ हम उनके उपदेशों से ग्रहण कर पाते हैं उनसे प्रतीत होता है कि सचेत होकर प्रत्येक अनुभूत एवं स्वभावतः गहरे श्वास-प्रश्वास के साथ नाम-स्मरण करने और साथ ही भ्रूमध्य दृष्टि को भी स्थिर बनाये रखने की क्रिया सभी निर्गुणियों की प्रधान साधना है जिसमें से तुलसी साहब और शिवदयाल दृष्टि वाले अंश

※ आँखी मध्ये पाँखी चमके पाँखी मध्ये द्वारा।
तेहि द्वारे दुरबीन लगाओ, उतरो भौजल पारा॥

क० का० पृ० १०१।

× उलट नैन वे सुन्न विस्तर, जहाँ तहाँ दीदार है।

बानी, पृ० १०६।

+ ऐसी यह युक्ति पाय ध्यान नहि मीटै।
नैनन ते उलटि निरखि सत समाय लीटै॥

बानी, पृ० ६१।

पर और शेष पवन वाले अंश पर विशेष बल देते हैं। अपनी महत्ता की भावना से अभिभूत होने के कारण, ये अतिशयतावादी योग के उस अंश को महत्व देना नहीं चाहते जिससे पता चल जाय कि उनकी भी साधना-पद्धति उन्हीं के सिद्धान्तों पर आश्रित है जो प्राचीन योगमत के आधार-स्वरूप हैं। परंतु यह भी सच है कि इन अतिशयतावादियों ने भी श्वासवाले अंश की उपेक्षा नहीं की है। इस बात को उदाहृत करने के लिए मैं तुलसी साहब के उन तेरह शिष्यों में से एक के साधनाभि-निवेश की विज्ञप्ति यहाँ उद्धृत करता हूँ, जिन सभी ने अपने गुरू की सेवा में अपने-अपने अभ्यासक्रम की सूचना प्रस्तुत की थी जिन्हें उन्होंने 'घटरामायण' लिख दिया है। फूलदास कबीर-पंथी ने एक रूपक द्वारा जिसमें कबीरपंथ की विधियों के साथ उसकी साधना की समानता दिखलायी गई है और जिसकी लाक्षणिकता का रहस्य उसने अब समझ पाया है, इस प्रकार वर्णन किया है "मैंने सुरति के नारियल को मोड़ दिया और प्रेम के कदलीपत्र को छेद डाला; मैंने सुरति-द्वारा त्रिकुटी का भेदन करके चौका पर चँदवा तान दिया। अष्टदल कमल (नाभिचक्र जिसमें प्राचीन योगमतानुसार दस दल होते हैं) के बीच पवन सुपारी है जहाँ मैं सुरति के साथ उदित व मुदित (श्वास-प्रश्वास की वे दो धाराएँ जो क्रमशः इड़ा व पिंगला से होकर प्रवाहित होती हैं और जिन्हें ये नाम देने का कारण, समय विशेष पर केवल किसी एक का ही निकलती होना और दूसरी का तब तक निश्चल या मुँदी हुई रहना है)। की सहायता से पहुँच गया। तब मैं खिड़की (ब्रह्मरंध्र या सहस्रार) के आगे वाले प्रदेश तक ऊपर चला गया और १४ हाथ लम्बे ताम्बूल-पत्रों (जो तुलसी साहब के अनुसार चौदह तबक या स्तर है) से होता हुआ पहुँचकर, अगम के सामने वह पान भेंट कर दिया जिसे लेकर उसके पास जाने का मुझे गुरुद्वारा आदेश मिला था (गुरू की शिक्षा से पृथक्-पृथक् की सत्ता मिलन की ओर

प्रवृत हो गई) और अष्ट भँवर को पुरुष के रूप देख लिया। मैं उस अगम का वर्णन किस प्रकार कर सकता हूँ जिसके विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया जा सकता। उसे न तो कोई रूप रेख है न शरीर ही है वह अगम्य है, अगाध है, अनामी है और वह माया से भी परे है।"

तब वह उन भिन्न-भिन्न दृश्यों का वर्णन करने लगता है जिन्हें उसने त्रिकुटी के मध्य देखा था—' धरती व आकाश का विस्तार द्वीप एवं नवो खंडों की चर-अचर सृष्टि " की वह चर्चा करता है और यह भी बतलाता है कि जिस समय सुरति ' त्रिकुटी (या गुप्त काशी) के प्रदेश की सैर कर रही थी " तो कितने प्रकार के ब्रह्मांड उसकी आँखों के सामने गुजर रहे थे और इस वर्णन का अंत करता हुआ कहता है "उस पार तक कौन जा सकता है जहाँ सुरति और पुरुष का मिलन होता है और वह उसमें लीन हो जाती है"* और जहाँ वस्तुतः, जैसा कि तुलसी साहब ने विश्वास दिलाया है वह फूलदास उनके अन्य बारह शिष्यों की ही भाँति पहुँच गया था।×

फूलदास की उक्त विज्ञप्ति में हम उस अभ्यास का पूर्णरूप देखते हैं। यद्यपि इसमें पवन एवं दृष्टि दोनों की पद्धतियाँ कुछ धुँधले रूप में ही लक्षित होती हैं।

यहाँ पर एक अन्य विज्ञप्ति का भी उद्धृत कर देना उपयोगी होगा जिसमें चक्रों एवं नाड़ियों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है। गुनुवाँ की यह विज्ञप्ति इस प्रकार है, "आपके संकेतानुसार मैंने सुरति को त्रिकुटी में लगा दिया जिससे चक्रों का भेदन करती हुई वह चन्द्र (इड़ा) व सूर्य (पिंगला) को भी पार कर गई और सुषुम्ना तक पहुँच

* घट रामायण, पृ० ३१२।

× वही पृ० १२२।

गई जहाँ जाकर उसने मानसरोवर (अमृत के कुंड) में स्नान किया। वहाँ पर उसे गङ्गा (इड़ा) यमुना (पिङ्गला) एवं सरस्वती (सुषुम्ना) का रहस्य जान पड़ा। प्रयाग के कमल अथवा उस संगम स्थान से जहाँ पर ये तीनों नाड़ियाँ मिलती हैं. सुरति, अगम के प्रेमरस में मत्त होकर सत्त के निवास-स्थान की ओर बढ़ी जहाँ सतगुरु का निवास है और फिर जहाँ अगम पुरुष भी रहते हैं। अगम पुरुष के द्वार पर पहुँच कर सुरति रुक गई क्योंकि रस के द्वारा वह पूर्णतः सराबोर हो रही थी। यहाँ पर वह इस पर ऊपर चढ़ने व नीचे उतरने लगा जिस प्रकार मकड़ी अपने धागे पर किया करती है (वह दशा जो सद्यःप्राप्त आध्यात्मिक चेतना के जरना वा स्थायित्व के प्रथम आया करती है) सुरति की यही दशा रात-दिन रहा करती है और प्रभु से मिलने की चेष्टा के अतिरिक्त, उसे अन्य कुछ भी पसंद नहीं। इस प्रकार सुरति ने नाम के लोक में उस चौथे पद पर जहाँ सत्तनाम का स्थान है, अपना निवास कर लिया है। यह अपने मूल में समा गई है। इस प्रकार मुझे आदि व अंत का भेद मिल गया है और मेरे जन्म व मरण के दुःख छूट गये हैं तथा कर्म के सभी बन्धन भी छिन्न-भिन्न हो गये हैं। ❀

इस बात का प्रमाण कि शिवदयाल ने अपनी बतलायी हुई साधना में पवन का उपयोग किया है, उनके ऐसे उद्गारों में मिल जाता है। "अरे पागल, अपने प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के क्षण को नाम स्मरण में लगाओ× और फिर जो कोई भी शब्द के रस का पान, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में, करता है वह उस महल तक पहुँच कर वहाँ निवास कर लेता

❀ वही पृ० ३७४।

× स्वासों स्वास होस कर बौरे, पल पल नाम सुमिरना।

'सारवचन' पृ० २७१।

है। उसकी मौज के प्रति विश्वास रखो तो तुम्हें जान पड़ेगा कि इसके लिए किसी प्रयत्न या युक्ति की आवश्यकता नहीं है।"* इसके सिवाय उन के शिष्यों का दावा है कि वे राधास्वामी नाम को जिसे शिवदयाल ने निरपेक्ष को एक नाम ठहराया था उस श्वास क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। 'राधा' श्वास को बाहर निकलने वाली धारा है और स्वामी भीतर आनेवाली है और इस प्रकार श्वास ही नामस्मरण की साधना की अज्ञात क्रिया है।

इसी प्रकार का दावा दूसरे लोग रामशब्द के 'रा' व 'म' नामक दो अक्षरों के लिए भी कर सकते हैं और राम की साधना करने वाले, वस्तुतः ऐसा इस समय किया भी करते हैं। राधास्वामी सत्संग वाले मानसिक शांति के लिए हठयोग प्राणायाम की भी उपयोगिता स्वीकार करते हैं।

फिर भी यह निर्विवाद है कि निर्गुणी क्या अतिशयतावादी तक भी अपने शब्दयोग के लिए योगियों के ऋणी हैं। निर्गुण साहित्य के एक सरसरी तौर पर किये अध्ययन के आधार पर ऐसा विश्वास कर लेना (जैसा कि कुछ लोग किया भी करते हैं) कि निर्गुणी लोग योग की नितांत उपेक्षा करते हैं, व्यर्थ है। प्रत्यक्ष है कि वे हठयोग को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं करते थे किंतु वे उससे सहायता अवश्य लेते थे उपनिषद्-कालीन ऋषियों की भाँति उन्हें आसन से नहीं बल्कि उपासन (संपर्क) से प्रयोजन था और वे केवल उन्हीं यौगिक साधनाओं को अपनाते थे जिनसे, उनके अनुसार, मन को विषयों से पूर्णतः हटा लेने में सहायता मिलती है। और मुख्यतः यही योग का क्षेत्र भी है। योग के सबसे बड़े प्रमाण पतंजलि भी इसी बात में सहमत हैं क्योंकि उनका भी यही कहना है 'कि योग से अभिप्राय चित्त की वृत्तियों का निरोध कर लेना

---

* वही पृ० ६२२।

है।* गोरखनाथ की हिंदी रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियों से हमें जो कुछ पता चला है उससे भी यह धारणा पुष्ट होती है कि वे भी योग साधना मात्र को ही सब कुछ नहीं मानते थे उन्होंने इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि भीतरी भाव के बिना मनन व आसन आध्यात्मिक मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं और साधक प्रारंभिक दशा के आगे बढ़ नहीं पाता।× परंतु उच्चतर साधनाओं के लिए और यों भी योग की साधनाओं, योग के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उपनिषदों ने भी इन साधनाओं की व्यवस्था दी है। हमने 'जाबालोपनिषद्' का उल्लेख पहले किया है जिसमें याज्ञवल्क्य को हम अत्रि के प्रति, वास्तविक आत्मा को रहस्यमयी काशी में पाने का, उपदेश देते हुए देखते हैं। फिर भी हठयोग की विस्तृत क्रिया की उसमें उपेक्षा की गई है क्योंकि वे आंतरिक प्रवृत्ति की जगह बाह्य बातों पर ही अधिक बल देती हैं। यदि भीतरी अनुभव की कमी हो तो बाहरी बातें किसी काम की नहीं हैं। पलटू ने कहा है कि—"यदि देखने का ढंग नहीं तो, काजल आँखों में लगाने से क्या लाभ होगा।"+ हठयोग, जैसा कि हम आजकल भी देखते हैं केवल बाहरी उपायों को ही अधिक विस्तार देता है। और इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन की मूलाधार अंतर्मुखी वृत्ति उपेक्षित हो जाती थी। तदनुसार उनके लिए वह अवर्ण्य विहंगम मार्ग की जगह पिपीलिका- मार्ग बनकर ही रह जाती थी। आंतरिक अनुभूति वा प्रार्थना

---

* योगश्चित्त वृत्ति निरोधः—'योगदर्शन' १-२।

× आंसण पवन उपद्रह करै। निसि दिन आरंभ पचि-पचि मरै।
(पौड़ी हस्तलेख)

+ काजल दीये से क्या भया ताकन को ढब नाहिं।
सं० बा० सं० भाग २, पृ० २३२।

की मनोवृत्ति की यात्रा के ही कारण, यह भिन्नता आ जाती है जो लम्बे व विकट मार्ग को भी सरल व सहज बना देती है।

अतः प्रेरणा के पूर्ण अभाव में, यौगिक साधनाओं का अधिक से अधिक अच्छा परिणाम नहीं हो सकता है कि साधक को केवल भौतिक शक्तियाँ ही प्राप्त हो जायँ और उसे स्पष्ट हानि भी उठानी पड़े, क्योंकि उनके द्वारा भिन्न-भिन्न चक्रों से नियंत्रित स्थानों की विभिन्न इंद्रियों में उचित से अधिक क्रियाशीलता आ जा सकती है और उसके कारण अंतिम कोटि की अनैतिक वासनाएँ तथा अन्य प्रकार के शारीरिक दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए साधक एवं गुरु दोनों को ही चाहिये कि सभी प्रकार की उन बाह्य प्रवृत्तियों के निग्रह करने तथा बहिष्कृत करने में जागरूक रहें जो कि साधक की मनोवृत्ति को प्रभावित करने की ओर अग्रसर हो रही हों। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णतः योग्य गुरु के निरीक्षण के बिना यौगिक साधनाओं में प्रवृत्त होना कितना भयावह है क्योंकि बिना ऐसे गुरु के, साधक अपने को उक्त प्रकार की बाह्य प्रवृत्तियों की हानि से बचा नहीं सकता है। निर्गुण संप्रदाय के पहले संत इसी कारण केवल उन्हीं साधनाओं को अपनाते थे जिनसे किसी प्रकार की बहिर्मुखता का भय नहीं रहता था।

परन्तु प्राचीन पंथीय हिंदू भावनाओं का समावेश होते ही निर्गुण संप्रदाय के अंतर्गत हठयोग सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मुद्राओं, बंधों तथा आसनों को भी स्थान मिलने लगा। एक ऐसे पद के अनुसार जिसका कबीर की रचना होना संदेह रहित नहीं कहा जा सकता और जिसका उल्लेख भी इसके प्रथम कई बार हो चुका है। साधक को चाहिए कि शारीरिक शुद्धि के लिए की जाने वाली उन धौती, नौली, बस्ती एवं आसनों जैसी युक्तियों का भी अभ्यास करे जिन्हें हठयोग की साधना में महत्व दिया जाता है और उनके साथ-साथ हठयोग के प्राणायाम की भी क्रिया करे। साधु की योग्यता-सम्बन्धी प्रकरण में

सहजोबाई ने भी इन सभी में सिद्धि का प्राप्त कर लेना आवश्यक बतलाया है। उनके गुरु चरणदास की रचना 'ज्ञान स्वरोदय' में तो शकुनों तथा शुभाशुभ लक्षणों की भी चर्चा की गई है। इस बहिर्मुख प्रवृत्ति का विरोध होना आवश्यक था और इस कार्य को तुलसी साहब एवं शिवदयाल ने अपने हाथ में लिया था जो स्वयं सब कहीं अतिमात्रता के सिद्धान्त स्वीकार करते थे।

निर्गुणियों को इस बात में विश्वास है कि 'सबद' अथवा सूक्ष्म एवं सक्रिय शब्द प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्गत ध्वनित होता रहता है। उस सूक्ष्म शब्द के गुंजन ही सभी कुछ वर्तमान पदार्थों के मूल कारण हैं और उन्हीं के द्वारा सृष्टि का व्यापार निरंतर चलता रहता है। आधुनिक वैज्ञानिक भी अब इस बात को समझने लगे हैं कि यह कंपन किस प्रकार सभी सृष्टिक्रम की जड़ में काम करते हैं। सूक्ष्म दशा में भी ये कंपन, शब्दों के रूप में, ध्वनि करते हैं, रंगों के रूप में प्रकट हुआ करते हैं और भिन्न-भिन्न आकृतियाँ ग्रहण करते हैं। इन शब्दों को सुनने, इन रंगीन प्रकाशों को देखने तथा इन आकृतियों को प्रत्यक्ष करने के लिए हमें चाहिए कि बाह्य पदार्थों की ओर से अपनी मानसिक वृत्तियों को हटाकर अपने को भीतर के लिए भी और सचेतन बना लें।

७. अंतर्दृष्टि

कबीर के समझे जाने वाले एक प्रसिद्ध पद में जिसका मैंने पहले के पृष्ठों में एक से अधिक बार उल्लेख किया है यह कहा गया है कि "इस शब्द या अनाहतनाद को सुनने के लिए अपनी आँखों, कानों तथा मुख के छिद्रों को बन्द कर देना पड़ता है।"[१] कबीर ने ग्रंथ साहब में संग्रहीत एक पद द्वारा इस बात का समर्थन किया है और

---

[१] आँख कान मुख बंद कराओ। अनहद झिंगा नाद सुनाओ॥
क० बा०, पृ० १०४।

कहा है कि "जब मैंने सभी द्वारों को बंद कर दिया तो सभी बाजे बजने लग गये ।"※ 'लय योग संहिता तंत्र' तथा 'बृहदारण्यक' एवं 'छांदोग्य' उपनिषदों में भी इस धारणा का अनुमोदन किया गया है। उक्त तंत्र में लिखा है कि "दोनों कानों, दोनों आँखें और नाक बंद कर देनी चाहिए, तभी शुद्ध सुषुम्ना के मार्ग में शब्द सुन पड़ेगा।"× बृहदारण्यक में कहा गया है कि "यह शब्द उस अंतः पुरुष को गर्जना है जो अन्न को पचाता है और यह केवल कानों को बंद करने पर सुनाई देता है इसे मरणासन्न मनुष्य नहीं सुन सकता।"+ छान्दोग्य में भी लिखा है कि 'अन्तरात्मा का प्रमाण स्वरूप जो शब्द है वह कानों के बंद करने पर बैलों की हुंकार, बिजली की कड़क अथवा अग्नि की धधक के रूप में सुन पड़ता है।"÷ परन्तु इन उपनिषद् योग, व निर्गुण मत-संबंधी प्रमाणों से यह न समझ लेना चाहिए कि ये ग्रंथ इन्द्रियों का बाहर से ही रोकना प्रतिपादित करते हैं, क्योंकि इसके द्वारा आध्यात्मिक साधना एक साधारण व्यापार मात्र बन जायगी और इसके लिए कोई नाम मात्र भी चिंता न करेगा। यहाँ पर बंद करने का अभिप्राय बाहर से बंद करने पर नहीं प्रत्युत भीतर से निरोध करने से है। मन को बाह्य पदार्थों से पूर्णतः खींच लेना चाहिए कि ये उसे किसी प्रकार भी प्रभावित न कर सकें। इस प्रकार की साधना उस 'चित्तवृत्ति निरोध' एवं 'प्रत्याहार' को भी सूचित

※ मूंदि लिये दरवाजे। बाजिले अनहद बाजे ॥
क० ग्रं०, पृ० ३२५।

× 'लययोग संहिता तंत्र'
पृ० नं० १।

+ 'बृहदारण्यक उपनिषत्' ५-६-१।

÷ 'छांदोग्य उपनिषत्' १३-८

करती है जो किसी भी योग संबंधी मत के लिए आधार-स्वरूप माने जाते हैं ।

शब्दों के साथ ही उपनिषद् कतिपय रंगों तथा आकृतियों का भी उल्लेख करते हैं 'श्वेताश्वतर' में कहा गया मिलता है कि "योग साधना में साधक को ब्रह्म का अंतिम साक्षात् करने के पहले नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि एवं वायु तथा विद्युत, स्फटिक और चन्द्रमा की आकृतियों का अनुभव होता है।" ❀ वृहदारण्यक में भी पुरुष के उन आकारों का भी उल्लेख आता है जो इस प्रकार के अनुभवी जनों के लिए गौरव-स्वरूप हैं और उनका रंग कुंकुम वर्ण वाले इन्द्र गोप अग्नि शिखा, कमल-पुष्प तथा अचानक चमक जाने वाली विद्युत के समान बतलाया है।× छान्दोग्य ने उस हिरण्यगर्भ को स्वर्णमयी मूछों, सुनहले केशों अथवा नख-शिख तक स्वर्णमय दीख पड़ने वाला कहा है + और मुण्डक ने भी उसका वर्णन शुभ्र ज्योति व सभी ज्योतियों की भी उस ज्योति के रूप में किया है जो किसी हिरण्यमय कोश में बंद है। ÷ कबीर ने भी उस दिगम्बर की चर्चा की है जो स्वर्ग द्वारा आच्छादित रहा करता है। फिर भी उपर्युक्त उपनिषद् ग्रंथों से यह स्पष्ट नहीं होता कि आध्यात्मिक अनुभव की विभिन्न , श्रवण, दर्शन अथवा आकृति संबंधी) दशाओं में कोई पारस्परिक सम्बन्ध भी है या नहीं और न यही कि इस प्रकार का संबंध होते हुए भी ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उस आध्यात्मिक यात्रा की विभिन्न स्थितियों को सूचित करती हैं अथवा इनका आविर्भाव

❀ 'श्वेताश्वतर उपनिषत्' द्वि० २।

× 'वृहदारण्यक उपनिषत् ' द्वि० ३-६।

+ 'छान्दोग्य उपनिषत् पृ० ६-६।

÷ 'मुण्डकोपनिषत्, द्वि. २-६।

एक ही साथ हुआ करता है। कबीर के उन पदों में भी जो उनकी प्रामाणिक कृति समझे जाते हैं इस विषय का कोई स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं है।

समय पाकर शास्त्रीय पद्धति के प्रभाव क्रमशः काम करने लगे और अनुभव के विविध रूपों के भीतर सामंजस्य तथा इन भिन्न-भिन्न रूपों की आनुक्रमिक स्थिति विषयक धारणा भी निश्चित होने लगी। सुन्दरदास जो वर्णों व आकृतियों की उतनी चर्चा नहीं करते उन दस प्रकार के शब्दों का वर्णन करते हैं जिनमें विभाजित होकर अनाहतनाद योगियों को क्रमशः अनुभूत होता है ! ये दस प्रकार के शब्द जो अष्ट कुंभक (अर्थात् प्राणायाम की साधना में किये गये आठ प्रकार के प्राणावरोध) पर विजय प्राप्त कर लेने पर प्रकट होते हैं। भ्रमर का गुंजार, शंख की ध्वनि, मृदंग का शब्द, झाँझ का ताल, घंटे की ध्वनि, भेरी एवं दुंदुभी का निर्घोष तथा समुद्र और मेघों के गर्जन के रूप में हुआ करते हैं।*

इधर के निर्गुणी, जिन पर योग एवं तंत्र के अनेक मतों का पूरा प्रभाव रहा है, इन अनुभवों की विस्तृत व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। उनमें बतलाई गई स्थितियों की संख्या प्रत्येक प्रचारक के अनुसार बदलती हुई दीखती है और सबमें एक निश्चित शब्द, निश्चित आकार, निश्चित वर्ण तथा एक निश्चित सूक्ष्म शब्द भी पृथक्-पृथक् लक्षित होता है जिसके कंपनों के कारण वे सभी उत्पन्न हुआ करते हैं। इन सबका संबंध भिन्न-भिन्न चक्रों से होता है और सबका एक न एक देवता वा अपना 'धनी' होता है जिसकी कभी-कभी एक शक्ति वा देवी बतलाई जाती है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर कुछ निर्गुणियों के अनु-

* 'ज्ञान समुद्र' (सुन्दरदास) पृ० १६७।

भवों को उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा। पहले गरीबदास को लीजिये जिनका मत चक्रों की संख्या के विषय में योगियों से मिलता है। वे कहते हैं "मूल चक्र में गणेश का निवासस्थान है, रक्तवर्ण है और शब्द कलिंग वा 'क्लीं' है। स्वाद चक्र में ब्रह्मा व सावित्री का वास है और वहाँ का शब्द जिसे हंस (अर्थात् विशुद्धात्मा) उच्चारण करता है ओ३म है। नाभिकमल में लक्ष्मी के साथ विष्णु रहते हैं और वहाँ का शब्द 'ह्रं' है जिसे विरले भक्त ही जानते हैं। हृदय के चक्र में पार्वती के साथ महादेव जी रहा करते हैं। और वहाँ पर सुन्दर वर्ण का सोऽहम् शब्द है। कंठ के कमल में अविद्या रहती है जो ज्ञान, ध्यान एवं बुद्धि को नष्ट कर देती है। यह चक्र नीला और यहाँ पर काल प्राण को फँसाया करता है त्रिकुटी में पूर्ण एवं सर्व शक्तिमान सद्गुरु निवास करते हैं। यहाँ पर मन और पवन समुद्र अर्थात् परमात्मा के साथ हिल-मिल जाते हैं और सुरत निरत शब्द का उच्चारण हुआ करता है। सहस्र कमल वा सहस्रार में स्वयं साहब इस प्रकार रहते हैं जैसे फूल में सुगंध रहती है। यहाँ पर सम्पूर्ण विश्व का मालिक और सभी उपाधियों से रहित जगदीश व्याप्त है उसकी प्राप्ति के लिए मीन का मार्ग (अर्थात् मूल स्रोत की ओर धारा के विरुद्ध आगे बढ़ना) अपना लो। इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना को प्राप्त करो और इस प्रकार उस कठिन मार्ग पर चलो। *

शिवदयाल अपने अनुभवों का एक बहुत विशद विवरण देते हैं। यहाँ पर एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे पहले के संत त्रिकुटी को जहाँ आज्ञा चक्र में रखते थे और सहस्रदल कमल को उसके आगे ले जाते थे, । शिवदयाल तथा अन्य वैसे अतिमात्रा दलवाले संत त्रिकुटी और आज्ञाचक्र को पृथक्-पृथक् मानते हैं और सहस्रदल को उसके नीचे रखा करते हैं। इसके सिवाय शिवदयाल अपने अनुभवों का वर्णन

---

* गरीब दास की बानी।

सहस्रदल से आरंभ करते हैं और उससे नीचेवाले चक्रोंवाले अपने अनुभवों की कोई चर्चा नहीं करते। यहाँ पर नीचे हम उनके एक पद में दिये गये वर्णन को संक्षिप्त रूप में देते हैं और उस चित्र को पूर्ण करने के लिए उनके अन्य फुटकर वचनों को भी सम्मिलित कर देते हैं। वे कहते हैं—"इस प्रकार, सर्वप्रथम, मैं सहस्रदल में एक पचरंगी फुलवारी (पंचभौतिक जगत् जो हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियों का विषय है) और भीतर एक दीपक देखता हूँ। यहाँ पर अनाहत एक घंटी की ध्वनि के समान सुन पड़ता है और एक शंख के निर्घोषवत् भी सुनाई देता है। तब त्रिकुटी अर्थात् नीला चक्र आता है जो गुरु का निवासस्थान है जहाँ पर ओंकार का शब्द मेघ की भाँति गर्जन करता है और मृदंग के समान ध्वनित होता है। इस चार दलवाले चक्र में कर्म के बीज भुन जाते हैं। उस बंकनाल से होकर जिसमें ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ और गहरी घाटियाँ हैं, वनों, पर्वतों, उद्यानों, नहरों एवं निर्मल जल से भरी नदियों के दृश्य देखते हुए हम तीसरे अर्थात् शून्य मंडल में पहुँच गये जहाँ पर वीणा व सारंगी का शब्द सुन पड़ता है और जहाँ पर मानसरोवर में स्नान किया जाता है। शून्य से परे महाशून्य है जो सत्तर पालंग तक विस्तृत है (हमारा विश्व एक पालंग तक विस्तृत समझा जाता है) और जहाँ पर घोर अन्धकार के अन्तर्गत चार गुप्त शब्द सुन पड़ते हैं और हरा, श्वेत व पीत रंग दीख पड़ता है। उस अंधकार में पाँच ऐसे-ऐसे विश्व अंतर्हित हैं जिनमें से किसी के भी सामने हमारा जगत् कुछ नहीं। यहाँ पर उच्च श्रेणी की मनमौजी आत्माएँ बद्ध रहा करती हैं। जब कोई शक्तिशालिनी सुरत इधर से होकर जाती है तभी उनके मुक्त होने का अवसर आता है। भँवर गुफा अर्थात् चौथे देश का मार्ग अत्यंत आकर्षक है। इसके दाहिनी ओर कई 'दीप' (द्वीप) हैं और इसकी बाईं ओर बहुत से खंड (प्रदेश) हैं, जहाँ के मकान बहुमूल्य पत्थरों के बने हुए हैं और जिनमें हीरे व लाल जड़े हुए हैं। यहाँ का शब्द 'सोऽहम्' है,

स्वर वीणा का है और आकार ज्योतिमंडित श्वेत सूर्य का सा है। यहाँ पर अनेक निवास-स्थान हैं जहाँ भक्तगण रहा करते हैं और नाम की शरण में रहते हुए लीला करते तथा अमरत्व के रस का आस्वादन किया करते हैं।

सत्यलोक में अनेक स्वर्गमय महल हैं और वहाँ पर अमृत से भरे हुए कई तालाब तथा खाइयाँ हैं जहाँ अनंत सूर्य एवं चन्द्र का प्रकाश दीख पड़ता है। यहाँ पर हंस का सौंदर्य एक विचित्र प्रकार का हो जाता है। सहज सुरत अर्थात् सब के भीतरी अंतरात्मा के प्रश्न का उत्तर देने पर कि उस मार्ग का रहस्य संतों ने बतलाया है आगंतुक उस सत्य लोक में प्रवेश पाता है जहाँ पर हमने 'सत्यनाम पुरुष' का साक्षात् कर आनन्द का अनुभव किया था। एक पुष्प के भीतर से सत्य पुरुष के शब्द ने प्रश्न किया था ' तू कौन है और यहाँ क्यों आया है ?" मैंने उत्तर दिया था कि "मैंने गुरु से भेंट की थी और उन्होंने मुझे इसका भेद बतलाया था। उसी की कृपा से मैंने ये दर्शन उपलब्ध किये हैं" इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर सत्य पुरुष ने सत्यलोक का भेद मुझे बता दिया और अपनी शक्ति प्रदान कर मुझे उसमें बढ़ने का संकेत किया। अलख पुरुष का सौंदर्य अतुलनीय है। अगमपुरुष का विस्मय-कारी सौंदर्य वर्णनातीत है। मैंने तीनो पुरुषों और उनके लोकों को देखा और अंत में उस एक के साथ मिल गया जो प्रेम का भी सार है। राधास्वामी यह बात पुकार कर कह रहे हैं।" *

उक्त दोनों वर्णनों अर्थात् गरीबदास के निम्नस्तर वाले अनुभव तथा शिवदयाल के उच्च श्रेणी वाले अनुभव का एक संश्लिष्ट रूप उस पद में पाया जाता है जो कबीर की रचना कहकर प्रसिद्ध है, किंतु उनका नहीं है और जिसका उल्लेख प्रसंगवश मैंने पहले के अनेक

---

* 'सारबचन' भाग १, पृ० ६०–७०।

पृष्ठों में किया है। नीचे मैं उक्त विवरण को तालिका के रूप में देना चाहता हूँ।

उक्त तालिका को देखने से पता चलेगा कि इसके अनुसार सूक्ष्म शब्द की अभिव्यक्ति सूक्ष्म शब्द के रूप में, चक्र (संख्या ८—११) के मध्यवर्ती खंड में ही अनुभूत होती है। अंतिम खंड (सं० १—५) कदाचित् इतना स्थूल समझा जाता है कि नाद वहाँ पर झंकृत नहीं हो पाता और सबसे ऊपर वाला (सं० १२-१४) इतना सूक्ष्म होता है कि वहाँ पर चक्रों, शब्दों, ध्वनियों, वर्णों व आकारों को उनके अधिष्ठाता देवताओं वा धनियों से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि इन वर्णनों तथा गरीबदास एवं शिव-दयाल के वर्णनों में थोड़ा-बहुत अंतर है, किंतु मूल बातों में से एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं।*

*सभी देशों के सत्यान्वेषी इस बात में सहमत हैं कि आध्यात्मिक मार्ग में बहुत सी स्थितियाँ होती हैं। बौद्ध धर्म के अनुयायियों का विश्वास है कि इस मार्ग की सीढ़ी में आठ भंगियाँ हैं जिन्हें वे 'अष्ट विमोच सोपान' कहते हैं। ये सोपान इस प्रकार क्रमशः 'रूपायतन' जिसमें स्थूल भौतिक पदार्थों का अनुभव होता है, 'अरूपायतन' जिसमें चित्त, बाह्य पदार्थों का चित्र पूर्व संस्कारों के कारण सुरक्षित रखता है किंतु उसे किसी प्रकार अनुभव नहीं करता 'नैवरूप नैवारूपायत्' जिसमें न तो बाह्य पदार्थ चित्त पर कोई संस्कार जमा पाते हैं और न इंद्रियों पर उनका कोई प्रतिबिंब ही पड़ता है। 'आकाश वत्यायतन' जिसमें साधक सभी वस्तुओं को आकाशवत् देखा करता है 'विज्ञानंत्यायतन' जिसमें सभीवस्तुएँ विज्ञान वा भावना के रूप में देखी जाती हैं अंकिच-न्यायतन, जिसमें सभी वस्तुएँ शून्यवत् समझी जाती हैं 'नैवसंज्ञा नैवा

---

* कबीर साहब की बानी, पृ० १०४-६।

संज्ञायतन' जिसमें सभी कुछ न तो नामी रहता है और न अनामी ही होता है और 'संज्ञावेदयित्रो' जिसमें ज्ञाता-ज्ञान वा विषय-विषयी का अंतर नहीं रह जाता और दोनों एकाकार हो जाते हैं।

इसी प्रकार सूफी नासूत, मलकूत, जबरूत व लाहूत के नाम लेते हैं और इन्हें परवर्ती निर्गुणी भी अपने कुछ निम्नस्तरों की जगह स्थान देते हैं। आधुनिक खोजियों ने भी इस धारणा की पुष्टि की है। मेगलसकासेट का यह कथन कि "ईश्वर जो हमारे विश्वक्रम के सारे चेतन प्राणियों का सर्वोच्च समान रूप है अपनी पृथक् स्थिति रखता है। इस विचार से कि वह एक विश्व विशेष का ही ईश्वर है और वह वस्तुतः उन सभी सचेतनों को अपने में सम्मिलित नहीं करता जो उसके अंग हैं। फिर भी एकता के लिए वा उसका काल्पनिक सिद्धि के लिए जो प्रत्येक विरोध के नष्ट होने पर उपलब्ध होती है, आंदोलन प्रत्यक्ष रूप में चलते रहते हैं" निश्चयपूर्वक उसी ओर संकेत करता है। किंतु कासेट जहाँ मोक्ष को केवल सामूहिक समझते हुए जान पड़ते हैं वहाँ निर्गुणी इस बात को नहीं मानते कि व्यक्ति को अपनी मुक्ति के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक सारा समाज अपने को उसके लिए योग्य नहीं बना लेता। यह सच है, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि, सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभव को प्राप्त करने के लिए किसी को जितनी स्थितियाँ आवश्यक होंगी उनकी संख्या उन पगों पर आश्रित है जिन्हें वह उस मार्ग पर बढ़ते समय रखता चल सकता है। और वह प्रत्येक साधक की योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न होगी। हो सकता है कि एक साधक सम्पूर्ण मार्ग की कुछ ही सरणियों (Stars) में तय कर ले जहाँ अन्य उसके अंत तक अनेक विश्रामों के अनंतर भी न पहुँच सकें। अतएव, एक के अनुभव को दूसरों से नीची श्रेणी का बतला देना उचित नहीं कहा जा सकता। चाहे उनकी स्थितियों की संख्या कितनी भी बड़ी क्यों न हो। यह कहने के लिए हमें कोई

कारण नहीं दीखता कि गरीबदास अपनी सात सीढ़ियों के अंत में शिवदयाल की पन्द्रह सीढ़ियों की अंतिम स्थिति से कम दूरी तक हो पहुँचे होंगे। शिवदयाल जैसे अतिमात्रा वादियों की भाँति विभिन्न शब्दों का उल्लेख करना उनके विषय में नहीं जाता। यहाँ पर यह कह देना रुचिकर होगा कि गरीबदास के चक्र जिस योग-पद्धति के साथ समानता रखते हैं उसमें भी उन सभी शब्दों का सुना जाना ब्रह्मरंध्र वा सहस्रार के दसवें द्वार के खुल जाने ब्रह्म के अंतिम दर्शन के पूर्व ही बतलाया गया है।

इन आभ्यंतरिक अनुभवों पर इनके आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी स्वभावतः नियमीकरण की दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। थार्सट का आध्यात्मिक मार्ग को 'काल्पनिक सिद्धि' का नाम देना इसी अभिप्रायः से है। साधक को अपने गुरु के सत्संग द्वारा यह पता चल जाता है कि प्रत्येक स्थिति में वह किस प्रकार से क्या अनुभव करेगा और इस बात का उन आभ्यंतरिक अनुभवों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न संतों के अनुभवों में पाई जाने वाली विभिन्नताएँ इसी आधार पर समझी जा सकती हैं। फलतः हमारे लिए कुछ ऐसे दृष्टान्तों का भी पा लेना संभव है जिसमें सभी प्रकार के अनुभव रह सकते हैं। किंतु उनका कोई संबंध आध्यात्मिक सिद्धि से नहीं हो सकता। यह बात उस दशा में अवश्य होगी जब ये गुप्त साधनाएँ बिना किसी उद्देश्य विशेष के की जायँगी और उनके लिए कोई वैसी अन्तः-प्रेरणा भी न होगी जो सभी प्रकार के आध्यात्मिक विकास के लिए सर्वस्वरूप है।

क्रम-संख्या	चक्र	दल	धनी (अधिदेव) व उसकी सिद्धि	शब्द	ध्वनि	वर्ण	वक्तव्य
१	मूलाधार (मूल)	४	गणेश, ऋद्धि-सिद्धि	क्लीं	...	लाल	
२	स्वाधिष्ठान (स्वाद)	६	ब्रह्मा व सावित्री	ॐ	...	...	
३	मणिपूर (नाभि)	८	विष्णु व लक्ष्मी	हृं	...	श्वेत	
४	अनाहत (हृदय-)	१२	शिव गौरी	सोऽहम् (प्रणव)	...	...	
५	विशुद्ध (कंठ)	२	निजमन व अविद्या	श्रृं	...	नीली (गरीव)	बंकनाल का पार करना तथा त्रिवेणी के गर्त में उतर आना।
६	सहस्र कमल	१००	निरंजन जोति	...	शंखध्वनि व घटि-कारव	...	शाकिनी, डाकिनी तथा काल के दूत भय दिखलाते हैं। किंतु 'सत्तनाम' का उच्चारण उन्हें भगा देता है।
७	त्रिकुटी	४	महाकाल	ओंकार	मृदंगध्वनि वमेघगर्जन	लाल सूर्य प्रकाश	यहाँ पर अमृत का उलटा हुआ कुआँ वर्तमान है।

८	सुन्न	६	अक्षर ब्रह्म	ररंकार	वीणा सारंगी	द्वादश सूर्य का शुभ्रप्रकाश	यहाँ पर उस दशम द्वार से होकर प्रवेश होता है जिसे योग में महारंध्र कहते हैं।
[illegible]	महासुन्न	८	पारब्रह्म, १२ अचिंत दक्षिण में, व दसदल सहज बायीं ओर	...	...	...	पाँच अण्ड व पाँच अक्षर ब्रह्म। चार गुप्त स्थान जहाँ पर पुरुष के दर्बार की शासित आत्माएँ बन्दी रूप में रहती हैं।
१०	भवँर गुफा	...	सोऽहं पुरुष	सोहम्	मुरली	...	८८ द्वीप जहाँ के महलों में हीरा व बहुमूल्य पत्थर जड़े हुए हैं।
११	सत्य लोक	...	सत्य पुरुष	सत्यनाम	वीणा	...	पुरुष के एक बाल की बराबरी लाखों सूर्य व चन्द्र भी नहीं कर सकते। आत्मा यहाँ पर १६ सूर्यों का प्रकाश प्राप्त कर लेती है
१२	अलख लोक	...	अलख पुरुष	...	...	...	उसके एक बाल की बराबरी करोड़ों सूर्य भी नहीं कर सकते।
१३	अगम लोक	...	अगम पुरुष	...	...	...	उसके एक बाल के सामने अरबों सूर्य लज्जित हो जाते हैं।
१४	अकह लोक	...	अनामी पुरुष	...	...	...	केवल वही उसे जानता है जो वहाँ पहुँच पाता है।

वह अतिचेतन दशा जिसमें परमतत्व का अनुभव होता है आध्यात्मिक अनुभूति की सर्वोच्च स्थिति है और जिसका प्राप्त करना पंथ का परम लक्ष्य है। वह अनुभव किसी भौतिक जीवन के देखने की भाँति प्रत्यक्ष एवं वास्तविक होता हुआ भी भौतिक व्यापार नहीं है। ईश्वर देखने-वाले से भिन्न किसी पदार्थ के रूप में दृष्टि-गोचर नहीं होता, यह दोनों देखने की क्रिया में ही एक रहते हैं। ईश्वर का प्रकाश भौतिक अर्थ में प्रकाश नहीं और न इसी कारण वह हमारी चाक्षुप शिराओं द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। यद्यपि इसकी तुलना कभी-कभी अनेक सूर्यों की प्रभा से की जाती है, तो भी इसके आधार सूर्य वा चन्द्र नहीं हैं। यह बिना सूर्य के सूर्य-प्रकाश है और बिना चन्द्रमा के चाँदनी है। "भीतर की ज्योति पूर्ण दीप्ति के साथ प्रकाशित होती है, किंतु इसके प्रज्ज्वलित रखने के लिए किसी तेल वा बत्ती की आवश्यकता नहीं पड़ती। उस परम प्रकाशक पुरुष के खेल का किस प्रकार वर्णन करूँ ?"*

८. परचा: अंतिम अनुभूति

इस भाँति चेतन अनुभव का वर्णन किसी प्रकार भी नहीं हो सकता और इसी कारण इसे गूँगे का स्वाद कहा जाता है और वह परमानंद की स्थिति द्वारा ही प्रमाणित होता है। जब आध्यात्मिक आँखें खुल जाती हैं तो जीवन अनंत व अति गंभीर हर्ष में परिणत हो जाता है। प्रबुद्ध कबीर का कहना है—"मैं उस देश का निवासी हूँ जहाँ वसंत का आनंद वर्ष भर मिलता है, वहाँ प्रेम की वर्षा होती है, कमल

---

* जगमग अंदर में हिया, दिया न बाती तेल।
परम प्रकासिक पुरुष का, कहा बताऊँ खेल॥
सं० बा० सं० पृ० २३१।

विकसित रहते हैं और अनेक प्रकाश दीप्तिमान हो उठते हैं ।* द्रष्टा अपने को उस अमर देश में पहुँचा हुआ पाता है जहाँ अमरों का ही निवास है "रोग व शोक का वहाँ नाम नहीं रहता"। निर्गुणी अपने उस प्रदेश को बेगम देश या शोकरहित निवासस्थान बतलाते हैं। किंतु यह उल्लास ऐसा नहीं जो दुःख के विपरीत होता है। जिसे यह ज्ञान प्राप्त है वह समझता है कि संसार के सुख भी आगामी दुःख की भूमिका हैं"† ईश्वरीय लीला का उपयोग शरीर द्वारा नहीं किया जा सकता। सांसारिक सुखों का आकर्षण व सांसारिक दुःखों की टीस किसी ज्ञानी को प्रभावित नहीं कर पाते। "जब प्रेम ने मेरे लिए ईश्वरीय द्वार खोल दिये तो संसार के लगाव मेरा क्या कर सकते हैं? ईश्वर के दर्शन हो जाने पर शूल भी मेरे लिए सुख की सेज बन गया।"‡

ईश्वरीय लीला का उल्लास इस प्रकार साधक का अपना केन्द्र बन जाता है और साधक उसके स्फुरण का केन्द्र होता है। यह उसके पूरे आपे या सब कुछ का स्थान ग्रहण कर लेता है। यही उसकी 'शक्ति' है, उसकी 'साहिबी' है और इस परिमित विश्व में उसकी अनन्तता भी है।

---

* हम वासी वा देस के, बारह मास विलास।
प्रेम झिरै बिगसै कमल, तेज पुंज परगास॥
वही, पृ० ४३।

† झूठे सुख को सुख कहै, मानत हैं मन मोद।
खलक चवीणा काल का, कुछ मुख मे कुछ गोद॥
क० ग्रं०, पृ० ७९।

‡ ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख-सौड़ि॥
वही, पृ० १६।

ईश्वरीय उल्लास में मत्त होकर वह अपने को भूल जाता है। शरीर का कोई भी अर्थ नहीं रह जाता। वह गंभीर आध्यात्मिक आनंद में मग्न रहता है। प्रत्यक्ष रूप में वह पागल बन जाता है। बिहार-वाले दरियासाहब ने कहा है कि "मालिक के मिल जाने पर मेरी आँखों में आनन्द प्रतिबिंबित हो रहा है, हृदय उन्मत्त हो गया है और चित्त पागल बन जाता है। उसका प्रेमरस इतना गाढ़ा है कि इसने मुझे गूँगा बना डाला है।"* सहजोबाई ने अपने एक दोहे में साधक की असली उल्लास-दशा का परिचय दिया है। उनका कहना है कि हृदय में पागलपन व सर्वव्यापी उल्लास रहता है। न तो मेरा कोई साथी है और न मैं ही किसी के साथ हूँ।†

फिर भी यह पागलपन किसी प्रकार की रुग्ण दशा नहीं है। इसके विपरीत यह इंद्रियों का सम्यक् प्रकार विशुद्ध वा परिष्कृत हो जाना है जिससे वे सभी प्रकार के आध्यात्मिक स्फुरणों का प्रतिपादन कर सकें। कबीर कहते हैं, "जब मैं अपने भीतर निमग्न रहता हूँ तो लोग मुझे पागल कहते हैं; राम के लिए पागल होते समय, सतगुरु ने मेरे भ्रम को निमज्जित कर दिया।"‡

---

* वेवाहा के मिलन सों, नैन भये खुशहाल।
दिल मन मस्त मतवल हुआ, गूँगा गहिर रसाल॥

सं० बा० सं०, पृ० १२३।

† मन में तो आनन्द रहे, तन बौरा सब अंग।
ना काहू की संग है, ना है कोई संग॥

वही, पृ० १५८।

‡ अभि अंतर मन रंग समाना, लोग कहैं कबिरा बौराना।
मैं नहिं बौरा राम कियो बौरा, सतगुरु जारि दियो भ्रम मोरा॥१४७॥

क० ग्रं०, पृ० १३५।

अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए किये गये निम्नलिखित प्रयत्नों से सभी प्रकार की विरोधात्मक बातें अपने विरोधपन का त्याग करती हुई प्रतीत होती हैं और वे पागलपन की असंगतियाँ न होकर उन सूक्ष्मताओं की परिचारिकाएँ हैं जो बुद्धिवाद के परे की बातें हैं। "वह बिना मुँह के खाना, बिना चरणों के चलना और बिना जिह्वा के भी मालिक का गुणगान करना है। वह अपने स्थान का परित्याग किये बिना ही सभी दिशाओं की प्रदक्षिणा कर जाता है।"* वस्तुतः वह बिना समझ के भी विचार करता है और बिना जीभ के पीता है, बिना आँखों के भी देखता है और बिना कानों के सुनता है तथा बिना किसी आधार के बैठता है और बिना हाथों के वेणुवादन करता है।† (दादू) "धरती बरसती है और आसमान भीगता है और बिना तेल-बत्ती के भी दीपक जलता है। जहाँ पर ज्योति (नूर) रहती है और उसके वर्णहीन होते हुए भी उसमें चमकीला रंग लक्षित होता है। बिना फूल के लगे ही उसमें मधुर स्वाद मिल जाता है। मैं किससे ये बातें कहूँ, मुझे कौन समझ पायेगा?"‡

इन विरोधात्मक वर्णनों पर भी दोषरहित आनंद की छाप लगी हुई है। यह उल्लास जो निर्गुण पंथ के अनुसार, एक अति-चेतन की स्थिति प्रदर्शित करता है, 'निरति' या मूल कहलाता है और, वह संस्कृत शब्द 'नृत्य' का एक बिगड़ा हुआ रूप है। साधारण अनुभव की दशा में हम देखते हैं कि मनुष्य जब कभी हर्ष की चरमावस्था में आता है तो वह

---

* बिन मुख खाय चरन बिनु चालै, बिन जिभ्या गुन गावै।
आछै रहै ठौर नहिं छाँड़ै, दह दिसि फिरि आवै॥ १५६॥
वही, पृ० १४०।

† गैरोला, साम्स आफ् दादू, पृ० २६।

‡ संतबानी-संग्रह, भा० २, पृ० १४६।

नाचने व गाने लगता है। नृत्य हमारे उल्लास को प्रकट करने के लिए प्रदर्शित भी किये जाते हैं। अतएव, यह उपयुक्त है कि आध्यात्मिक उल्लास को नृत्य की संज्ञा प्रदान की जाय, किंतु इसे नृत्य कहने के कारण इसमें कोई शारीरिक चेष्टा अभिवांछित नहीं है। इसके साथ सूफियों में प्रचलित 'दौर' व 'समा' के नृत्य का कोई संबन्ध नहीं क्योंकि 'दौर' एक चपल व चक्रावर्तित नृत्य है जिसमें नर्तकों को 'या अल्लाह याहू' का उच्चारण करते हुए अपनी सामूहिक चेष्टाओं को तबतक कायम रखना पड़ता है जब तक वे एक-एक कर विश्रांत नहीं हो जाते। 'समा' में अपनी बायीं एड़ी पर घूमना होता है, इसमें धीरे-धीरे अग्रसर होते हैं और अपनी आँखें बन्दकर तथा बाहें फैला कर नृत्य करते हैं* और यह नृत्य कुछ विधियों के साथ भी आरंभ हुआ करते हैं। जैसा कि धरनी ने कहा है—"वहाँ पर बिना पैरों के ही नृत्य करो और बिना हाथों के ताल देते जाओ, सौंदर्य को बिना आँखों के देखो और बिना कानों के ही गीत सुना करो।"†

इसके सिवाय, निर्गुणमत के अनुसार यह अतिचेतन की अवस्था, उन्मनदशा, सहज समाधि, जैसा कि यह अनेक प्रकार से पुकारी जाती है, उस प्रकार क्षणिक नहीं जान पड़ती जैसा कि विलियम जेम्स ने पश्चिमी रहस्यवादियों के संबन्ध में बतलाया है। सूफी भी इस उल्लासमयी स्थिति को 'हाल' का नाम देकर इसे एक प्रकार की तन्मयावस्था कहते हैं जो केवल कुछ ही क्षणों तक वर्तमान रहा करती है। बसरा के अबदुल्ला हारिथ मुहासिमी ने कहा है "यह बिजली की भाँति

---

* 'अवारिफुल मारिफ़' पृ० १६५ व १६८।

† बिन पद निरत करो तहाँ, बिन पद दै दै ताल।
बिन नयनन छवि देखणा, श्रवण बिना भनकारि॥
सं० बा० सं०, भा० १ पृ० ११५।

क्षणिक है।"* किंतु निर्गुणमत के संतों के अनुसार यह कोई क्षणस्थायी उल्लास नहीं प्रत्युत एक चिरस्थायी आंतरिक दशा है जो स्थिर हो जाया करती है। कबीर ने कहा है कि, "हे साधो यह स्वाभाविक संयोग सबसे उत्तम है। जिस दिन से मैं गुरु कृपा से अपने साथी से मिला उससे हम दोनों के प्रेम भाव का कभी अंत नहीं हुआ। जहाँ कहीं मैं जाता हूँ उसकी परिक्रमा करता हूँ और जो कुछ भी कर पाता हूँ वह उसकी सेवा के रूप में है। जब मैं सोने जाता हूँ तो उसे दण्डवत करता हूँ; अन्य किसी का भी पूजन नहीं करता। जो कुछ भी बोलता हूँ वह उसका नाम है और जो कुछ भी सुनता हूँ वह उसका स्मरण है। मेरा खाना पीना तक उसकी पूजा है। मेरे लिए गृह व खंडहर दोनों एक समान हैं क्योंकि दुई का भाव दूर हो गया है। मैं न तो अपनी आँखें मूँदता हूँ और न कान ही बंद करता हूँ; मैं अपने शरीर को कष्ट भी नहीं देता। खुली आँखों से उसकी सौंदर्यमयी मूर्ति को देखा करता हूँ। उसे पहचानता हूँ और हँसा करता हूँ। मुझे ऐसी तारी लगी है जो उठने बैठने वा किसी भी दशा में नहीं छुटती। कबीर कहते हैं कि यही अतिचिंतन का जीवन है जिसका मैंने वर्णन किया है। मैं उस पद में लीन हो गया हूँ जो सुख व दुख दोनों से रहित है और जिसे परमपद कहते हैं।"† चरणदास ने भी कहा है कि, जिस समय मैंने अनाहत की ध्वनि सुनी है तबसे

---

* ख्वाजाखान "स्टडीज़ इन तसव्वुफ" पृ० १२६।

† साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी दिन दिन अधिक चली॥
जहँ-जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करों सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम, सुनौं सो सुमिरन, खावँ पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥

मेरी सारी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गई हैं; मन गलित हो गया है और सभी दुराशाएँ जल, भुन गई हैं। आँखें उन्माद में आकर घूम रही हैं और शरीर विश्रांत हो गया है क्योंकि सुरत, आत्मा उस चिद् में लीन है। इस सहजावस्था ने आलस्य तोड़ दिया है और प्रत्येक श्वास में मुझे आनंद मिल रहा है।*

गुलाल भी कहते हैं कि आनन्द की सुहावनी बूँदें पड़ रही हैं। यह उल्लासप्रद समय सतगुरु द्वारा प्रभावित होकर मनभावने ढंग से आनन्द-दायक हो रहा है। शून्य संसार के चतुर्दिक घनघोर घटाएँ उमड़ रही हैं। गुलाल का कहना है कि जिन पर प्रभु की कृपा होती है उनके लिए सावन भादों के बरसात वाले महीने सदा बने रहते हैं।†

आँख न मूँदौं कान न रूँधौ, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥
सबद निरंतर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
दुख सुख से कोइ परे परम पद, तेहि पद रहे समाई॥

सं॰ बा॰ सं॰, पृ॰ १४-१५।

* जबसे अनहद घोर सुनी।
इंद्री थकित गलित मन हूवा, आसा सकल भुनी॥
घूमत नैन सिथिल भइ काया, अमल जु सुरत सनी।
रोम रोम आनंद उपज करि, आलस सहज भनी॥

वही पृ॰ १२०।

† आनंद बरखत बुंद सुहावन।
उमगि उमगि सतगुरु बर राजित, समय सुहावन भावन॥

उपर्युक्त उदाहरणों-द्वारा पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाता है कि निर्गुणियों की सहज समाधि एक चिरस्थायी दशा है। जो कोई उस आनंद का उपभोग करता है वह सांसारिक कर्त्तव्यों का भी यथानियम पालन करता रहता है और उसके कारण इसका रुक जाना नहीं समझा जा सकता। जिस समय वह दशा उपलब्ध हो गई सारा दृष्टिकोण ही सदा के लिए बदल जाता है। बाह्य विषयों से पृथक् करने के लिए मन पर अंकुश नहीं लगाना पड़ता। स्वयं इन्द्रियाँ उस सहजज्ञान की ही सहायक बन जाती हैं,* वे अपना काम करना बंद नहीं करतीं; उनका सब काम करना ईश्वरोन्मुख हो जाता है। उद्बुद्ध कबीर अपने मन को जहाँ कहीं भी वह चाहे जाने के लिए छोड़ देते हैं। वे जानते हैं कि जब उसने जान बूझ कर राम की शरण ले ली है तो वह उसे वही सर्वत्र दीख पड़ेगा।† साधक-द्वारा उपलब्ध निम्नस्तर का दृष्टिकोण क्षणिक होता है और निर्गुण मत ने अपने अनुयायियों को उसके विरुद्ध सचेत भी किया है।

चहूँ ओर घनघोर घटा आई, सुभ्र भवन मन भावन।
तिलक तत्त वेदी पर झलकत, जगमग जोति जगावन॥
गुरु के चरन मन मगन भयो जब, विमल विमल गुन गावन।
कहै गुलाल प्रभु कृपा जाहि पर, हरदम भादो सावन॥

वही पृ० २०३।

* विरह जगावे दरद को, दरद जगावे जीव।
जीव जगावे सुरति को, पंच पुकारे पीव॥

वही भा० १ पृ० ८१।

† अब मन जाहि जहाँ तोहि भावे, तोरे अंकुश कोइ न लावे।
जहँ जहँ जाइ तहाँ तहँ रामा, हरिपद चीन्हि कियो विश्रामा॥

क० ग्रं०, पृ०१३६।

निर्गुणियों के विचार से न तो मध्ययुगीन ईसाई मिस्टिक और न सूफी ही उस पूर्ण दशा को प्राप्त कर पाये थे। वे अभी तक ज्ञान के अन्तस्तम स्रोत से तादात्म्यित नहीं हो सके थे और न इसी कारण उन्हें सभी का सहज ज्ञान हो सका था। इसी कारण उनकी अनुभूति क्षणभंगुर वस्तुओं की भाँति क्षणस्थायिनी थी। किन्तु निम्न श्रेणी की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति जिससे मनुष्य की भौतिकता उसकी आध्यात्मिकता द्वारा सदा के लिए दब नहीं जाती चपल व क्षणिक घटना सिद्ध होती है और उससे क्षणिक हर्ष प्राप्त होता है और इसीलिए उसे अंतिम अनुभूति नहीं कह सकते। इन सीमा-मर्यादाओं के रहते अन्तर्दृष्टियों का क्षणिक होना अनिवार्य है। परंतु एक बार जहाँ पूर्ण जागृति हो गई, तो फिर सोना व स्वप्न देखना नहीं होता है। ऐसी अनुभूति द्रष्टा के लिए अतीत घटना की स्मृति मात्र नहीं रहती प्रत्युत उसके व्यक्तित्व का अङ्ग बन जाती है। केवल यही उसमें टिकती है क्योंकि वस्तुतः उसकी परमात्मा के साथ पूर्ण एकता की सिद्धि है और इसी दशा में वह उसके अपने आत्मा का स्वरूप है।

अतएव किसी को ऐसा न करना चाहिए कि अपने आपको परमात्मा कह उठने की शीघ्रता कर दे।* उसे जो अनुभूतियाँ उपलब्ध हैं वे सभी उसकी अनुभूति नहीं भी हो सकतीं। जो कुछ भी अनुभव किसी साधक को प्राप्त होता है उसपर पूर्णरूप से चिंतन किया जाना चाहिए, उसका मनन होना चाहिए और उसे एक-एक करके परिणामित करते जाना चाहिए जब तक वह अंतिम मिलन की दशा को प्राप्त न हो जाय कि जब अनुभूति स्थिरता प्राप्त कर लेती है और साधक के लिए परमात्मा के

---

* पहुँचेंगे तब कहेंगे, उमड़ेंगे उस ठाइँ।
अजहूँ बेरा समँद में, बोलि बिगूचै काइँ॥

क० ग्रं०, पृ० १८,५।

सान्निध्य को अपनाने की चेतना को स्थायित्व प्रदान करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती। इसी को जारना व पचाना, अथवा अनुभव को स्थिरता देना भी कहते हैं।

अनुभूति की स्थिरता ही इस बात को सिद्ध कर देती है कि जिन आभासों को इसके लिए साधन बनाया गया था उनका अब आवश्यकता नहीं रह गई। शारीरिक व्यायाम के क्रम एवं आध्यात्मिक साधना-पद्धति में एक महान् अंतर यह है कि जहाँ पहले के लिए शरीर को उपयुक्त स्थिति के अभ्यास का सदा नियमित रूप से चलता रखना आवश्यक है वहाँ अंतिम सत्य की अनुभूति उपलब्ध हो जाने पर गूढ़ अभ्यासों का वह महत्व नहीं रह जाता है; क्योंकि यद्यपि अनुभूति वा अंतर्दृष्टि के लिए पहले प्रयत्न अपेक्षित होते हैं किंतु आगे चल कर वे स्वतः होने लगते हैं। "मन को थोड़ा-थोड़ा संयमित करो तो वह मालिक में लग जायगा; जब मन उस उनमन से लग गया तो उसका घूमना बंद हो जायगा।"* —दादू।

इस अंतर्दृष्टि वा अंतिम सत्य की अनुभूति की एक विशेषता यह है कि द्रष्टा इसे किसी पर प्रकट नहीं कर सकता। इसको जानने के लिए इसका स्वयं अनुभव करना आवश्यक है।† न तो हमारी भाषा और न हमारी मानसिक योग्यता ही इतनी पूर्ण है कि पहली इसे पूर्णतः व्यक्त

---

* थोरा थोरा हटकिये, तब रहेगा लौ लाइ।
जब लागा उनमन सो, तब मन कहीं न जाइ॥
बानी भाग१, पृ० १०३।

† ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तो सुख पावै।
कहै कबीर कछु कहत न आवै, परचै बिना मरम को पावै॥
क० ग्रं०, पृ० १६२।

करे और दूसरो उसे अपनाये। यह एक गूँगे के स्वाद की भाँति है जिसे न तो वह व्यक्त कर सकता है और न दूसरे उसे समझ सकते हैं। कबीर कहते हैं "यह गूँगे का गुड़ है जिसका स्वाद गूँगा ही जानता है।"*

इसी कठिनाई के कारण अस्तित्व का यह अंश हमारे लिए एक मुद्रित रहस्य के रूप में बना रहता है और इसी से रहस्यवाद रहस्यवाद कहलाता है परन्तु उस द्रष्टा के लिए जिसे हम अपनी भाषा में मानसिक योग्यता की असमर्थता के कारण मर्मी कहते हैं यह कोई रहस्य की बात नहीं। वह परमात्मा को इतना प्रत्यक्ष व स्पष्ट रूप में देखता है जितना हम भौतिक पदार्थों को देखते हैं बल्कि इससे अधिक स्पष्टता के साथ। क्योंकि द्रष्टा उस दृश्य का पूर्ण रूप देखता है, किंतु भौतिक पदार्थों का हम केवल बाह्य रूप ही देखते हैं, उनके आभ्यंतरिक अर्थ को नहीं जान पाते। उनके आभ्यंतरिक अर्थ को केवल वही जान सकता है जिसे उस अंतर्दृष्टि की एक झलक मिल गई है। मर्मी की जीवनपद्धति इसी कारण स्वयं उसके लिए गूढ़ नहीं बल्कि हमारे लिए ही गूढ़ है क्योंकि हमें उसकी अनुभूति एक मुद्रित रहस्य बनी रहती है।

इसी भाँति, अपनी स्वीकृतियों के अनुसार निर्गुणी उस अतिचेतन अनुभव को प्राप्त करता है जिसमें उसे जीते जी अंतिम सत्य की अनुभूति होती है और जिसके कारण वह भी उन्मुक्त कहलाता है। निर्गुणियों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए भौतिक शरीर की मृत्यु का हो जाना आवश्यक नहीं। जिन मतों के अनुसार मोक्ष मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होता है वे अधिकतर अंधविश्वासी लोगों की श्रद्धालुता से लाभ उठाया करते हैं। जब यहीं अपने दैव पर विजय प्राप्त नहीं कर सके तो कौन जानता है कि मृत्यु के अनन्तर क्या होगा? परन्तु निर्गुणियों की स्थिति स्पष्ट व बुद्धि-

---

* कहै कबीर घरही मन माना, गूँगे का गुड़ गूँगे जाना।
वही पृ० १०६, ६८।

सम्मत है। आध्यात्मिक साधना की किसी भी पद्धति की क्षमता की परीक्षा बुद्धि से हो सकती है जो मालिक के दर्शन द्वारा इसी समय प्राप्त हो सके। शरीर की मृत्यु के समय होनेवाला मोक्ष केवल उस-दशा को अंतिम रूप से प्रभावित कर देगा जो पहले से प्राप्त हो चुकी है, और निर्गुणियों का अपने पंथ के लिए इसी बात का दावा है। कबीर ने प्रार्थना की है कि हे ईश्वर मुझे जीते जी दर्शन दे दो।* जीते जी इसी घर (शरीर) में ईश्वर से मिलना आवश्यक है, मरणोपरान्त के मिलन की मैं चर्चा भी नहीं करना चाहता। इसी प्रकार तुलसी साहिब ने भी कहा है।†

समाज की उन्नति

यद्यपि निर्गुणी भक्तों की साधना का स्वरूप व्यक्तिगत है तो भी क्योंकि वे अपने आध्यात्मिक विकास के लिए जंगलों में नहीं जाते बलिक अपनी साधना का क्षेत्र सामाजिक चेष्टाओं को ही बनाते हैं और साधना की विधियों का भी ध्यान रखते हैं, उनका सामाजिक महत्व केवल इसी बात से भी कम नहीं है कि उनकी साधना में अपरलोक के प्रति उत्कट कामना बनी रहती है। ये विवश रहते हैं कि वे अपने समस्त सांसारिक दुःखों व सुखों को रखा करें और उसी में उन बुराइयों के दूर करनेवाले प्रयत्न भी बीज रूप से विद्यमान रहते हैं। ईश्वरीय प्रेम जहाँ एक ओर संसार के प्रति उपेक्षा सूचित करता है वहाँ दूसरी ओर अपने सहजीवी प्राणियों के प्रति स्नेह भी उत्पन्न करता है क्योंकि सभी

---

* जावत पावे घर में स्वामी। मुए गए की बात न मानी॥
घटरामायण, पृ० २८०।

† बहुत दिनन के बिछुरे, माधो, मन नहीं बाँधे धीर।
देह छतो तुम मिलहु कृपा करि, आरतवंत कबीर॥
कं० ग्रं०, पृ० १९१।

वस्तुतः एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए हैं। चाहे दूसरे लोग अपनी ईश्वरीयता का परिचय नहीं भी रखते हैं तो भी वे उनके प्रति घृणा के भाव नहीं दिखलाते। बल्कि इस बात के लिए यह एक और भी विशेष कारण है कि ये उनके प्रति अपनी दया व प्रेम प्रदर्शित करें। उनके प्रति दयाभाव के ही कारण उन्हें अपने आध्यात्मिक आनन्द का स्वार्थपूर्ण एकान्तवास में उपभोग करना कठिन हो जाता है। इस बात में इन्हें कोई अपमान नहीं जान पड़ता कि ये अपनी आध्यात्मिक उन्नति से नीचे उतरें और उन लोगों को आशा व आनन्द प्रदान करें जो सांसारिक दलदलों में पड़कर निराश हो रहे हैं। ईश्वरीय आनुभूतिक उल्लास की तीव्रता ही उनके आदेश को सारे जगत् में प्रचारित करने के लिए प्रेरित करती है और वह उसी प्रकार ही समान प्रभावपूर्ण भी होती है "परमात्मा ने ही यह उचित समझा है कि कबीर ने जो कुछ अनुभव किया है उसे भी प्रकट कर दे। जीव संसार के समुद्र में मग्न है और जो कोई भी इसे पकड़ लेगा वह पार जायगा।"*

यह उपकारपूर्ण निर्देश ही प्रत्येक प्रकार के धर्म-संस्कार का आदेश हुआ करता है। जिसे लोग कबीर का अहंकार समझते हैं वह, वास्तव में अपने साथी जनों के प्रति प्रेम द्वारा प्रेरित था, क्योंकि इस मार्ग के पथिक के लिए 'अहंकार' घमंड वा प्रगल्भता बहुत ही दूषित बात है। अपनी यात्रा के समय उसका स्पष्ट कर्तव्य हो जाता है कि वह विनम्रता का जीवन व्यतीत करे और जब वह सत्य की अनुभूति कर लेता है तो इस प्रकार की कोई संभावना ही नहीं रहती, उस दशा में तो प्रत्येक प्राणी ईश्वरवत ही दीखता है 'तू है' यह वाक्य 'मैं वही हूँ' का एक स्वाभाविक

---

* साईं यहै विचारिया, साखी कहै कबीर।
सागर में सब जीव हैं, ज कोइ पकड़ै तीर॥
क० ग्रं०, पृ० ५६।

परिणाम है और यह इस बात का स्मरण दिलाता है कि वह अब जीवित है। "जब मैंने आपा एवं पर की समानता का अनुभव कर लिया तो कबीर कहते हैं कि हमने निर्वाण भी पा लिया।"* उस दशा में वह जीवन्मुक्त कहलाता है, क्योंकि उस दशा में मानव शरीर में रहता हुआ भी वह उस दृष्टि से जीवित नहीं कहला सकता जिस प्रकार हम साधारण मनुष्य कहे जाते हैं। वह उस अहंकार को मार चुका रहता है जो सारी बाह्य वस्तुओं को उत्पन्न करता है और बंधन का जाल भी फैला देता है और इस प्रकार पूर्ण रूप में आत्मा में ही निवास करता है। "अपनी स्वाभाविक मृत्यु के पहले जो मर जाता है वही अमर हो जाता है।"† यह मृत्यु के पहले मरना और मरण कार्य के पूर्व ही अमरत्व का उपलब्ध कर लेना एक बड़ा सामाजिक महत्त्व रखता है।

निर्गुणी का अपने सहजीवी प्राणियों के प्रति दया का भाव केवल एक सूखी, किन्तु पवित्र भावना तक ही सीमित नहीं रहता। इसके विपरीत यह उन लाभप्रद प्रयत्नों में परिणत भी होता है जो कष्ट व दुःख को दूर करने के लिए किये जाते हैं। यद्यपि इन द्युतिमान व्यक्तियों के शरीर दुर्बल व ऊपर से किसी भारी काम के लिए अनुपयुक्त होते हैं; फिर भी यह बात, कि उसने अपने निम्न आपे को सर्वशक्तिमान के साथ किसी गंभीर कार्य के लिए जोड़ लिया है और इस प्रकार शक्ति के अज्ञात एवं अक्षय स्रोतों का द्वार खोल दिया है वह उन्हें मानव समाज के उत्थान के लिए असीम शक्ति के साथ काम करने की योग्यता प्रदान कर देती है।

---

* आपा पर सब एक समान। तब हम पाया पद निरवान॥
वही, पृ० १४४।

† प्रभुता कूं सब चहत हैं, प्रभु का चाहं न कोय।
सं० बा० सं०, भा० १ पृ० १६०।

लगभग इन सभी निर्गुणियों के नाम जो अनेक बानियाँ प्रकाशित हैं और वह जीवन जिन्हें इनमें से बहुतों ने सत्य प्रचारकों के रूप में व्यतीत किये हैं तथा वह साहस भी जिसके साथ उनमें से कबीर जैसे कुछ लोगों ने अपने ऊपर किये गये अत्याचारों को सहन किया है इस बात को भली-भाँति प्रमाणित करते हैं कि उन ज्ञानी पुरुषों में बड़ी शक्ति थी जिसका उन्होंने उपयोग किया और उसे सर्व शक्तिमान के प्राणियों की सेवा में लगाया।

हो सकता है कि कुछ लोगों ने 'सोऽहम्' के सिद्धान्त का अपना मान बढ़ाने के काम में उपयोग किया हो और अपनी ईश्वरीयता की केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति-द्वारा अपने को सभी प्रकार के भौतिक व नागरिक कर्तव्यों से अलग कर लिया हो। कबीर के समय में भी समाज के कुछ धृष्ट व्यक्ति जो, सहजोबाई के शब्दों में 'प्रभु से अधिक प्रभुता, पर ही ध्यान देते थे'* अपने को कुछ पंक्ति इधर से और वाक्यांश उधर से लेकर बनाई गई साखियों के आधार पर ज्ञानी प्रदर्शित करते थे।† किंतु इस प्रकार का दोष उक्त मत के कारण नहीं आया था और न सच्चे निर्गुणी ही इसके लिए उत्तरदायी थे; यह सब उस अज्ञान या उस भयंकर विपरीत ज्ञान के कारण था जो ईश्वरीय ज्ञान का दावा किया करता है। इस बात का विरोध निर्गुणियों ने अपनी सारी शक्ति लगाकर किया था। कबीर का कहना है कि, काल ऐसे झूठे ज्ञानियों के यहाँ हाथ में आदेशपत्र लेकर पहरा देता रहता

---

* प्रभुता कूँ सब चहत है, प्रभु कूँ चहै न कोय।

सं० बा० सं०, भा० १, पृ० १६०।

† लाया साखि बनाय कर, इत उत अच्छा काट।
कह कबीर कैसे जिये, जूठी पत्तल चाट॥

वही, पृ० ४१।

है* और इसी कारण वे इनसे भला उन संसारियों को समझते थे जिन्हें प्रभु का भय बना रहता है।"†

निर्गुण पंथ मूलतः एक प्रकाश का मार्ग है। जो सभी प्रकार के अज्ञान व अंधकार को दूर कर देना चाहता है। इस प्रकाश के सामने कोई अंध-विश्वासी नहीं ठहर सकता। उन अंधविश्वासों के ही समान जो श्राद्ध के समय किये गये पिंडदान का मृत पूर्व पुरुषों तक पहुँचना मानता है; जो मक्का वा जगन्नाथ तक (हज वा तीर्थयात्रा के निमित्त) जाने को फलप्रद समझता है और जो एकादशी, मुहर्रम जैसे त्यौहारों के दिन उपवास रखने को धार्मिक महत्त्व देता है। उन अन्य अंधविश्वासों से भी समाज को मुक्त कर देना चाहते थे जिनसे लोगों का सारा जीवन व्यस्त रहा करता है। कबीर ने इन अंधविश्वासों का सामना अपने मरते समय भी किया और अपने शुभचिंतकों के अनेक बार प्रार्थना करने पर भी उन्होंने उस मगहर का परित्याग नहीं किया जहाँ मरने पर नर्क का मिलना निश्चित समझा जाता था और न उस काशी तक ही गये जहाँ की मृत्यु-द्वारा मनुष्य शीघ्र मुक्त हो जाता है। मलूकदास का कहना था कि "इतने प्रकार के अंधविश्वासों को दूर कर दो। यात्रा पर जाते समय किसी ज्योतिषी से दिन न पूछो, कोई दिन अशुभ नहीं। संध्या समय बिना संकोच भोजन कर लो, जो उसे राक्षस का समय कहते हैं वे अभागे मूर्ख हैं। यदि तुम अच्छे हो तो सभी भला है। किसी बात को बुरी न कहो।‡ यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से भले व बुरे में कोई वास्तविक अंतर

---

* पूहरचा काल सकल जग ऊपर, माहि लिखे सब ग्यानी।

क० ग्र० पृ० १७८।

† ज्ञानी मूल गँवाईया, आपण भये करता।
तार्थे संसारी भला, जो रहे डरता॥

वही पृ० ४१।

‡ सं० बा० सं०, भाग १, पृ० १०५।

नहीं और न पाप-पुण्य में ही है। फिर भी निर्गुण मत नैतिक नियमों को परिवर्तित कर देना नहीं चाहता, क्योंकि नैतिक बल ही जीवन में सभी प्रकार की सफलता का आधार है। कबीर कहते हैं कि 'शील के अन्तर्गत तीनों भुवनों के रत्न भरे पड़े हैं।''* सापेक्षिक संसार में पाप-पुण्य केवल शब्द ही नहीं रह जाते। जब तक मनुष्य संसार में जीवित है उनका महत्व बना हुआ है और उनका अंतर भी समझा जाता है, क्योंकि वे ही मनुष्य की भावी का निर्माण करते हैं—कबीर कहते हैं कि कलिकाल में परिणाम शीघ्र ही मिला करता है · इसलिए बुराई किसी को नहीं करनी चाहिए। यदि तुम बाएँ हाथ से अन्न बोओ और दाहिने हाथ से लोहा बोओ तो दोनों का फल उसी के अनुसार प्राप्त होगा।†

पुण्य के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग मिलता है और पाप उसे नर्क में ला गिराता है। नानक ने पाँच प्रकार के स्वर्गों का वर्णन किया है जो नीचे से ऊपर की ओर इस प्रकार हैं—धरमखंड, सरमखंड, ज्ञानखंड, करमखंड और सचखंड इनमें से अंतिम में कर्ता' का निवास बतलाया गया है और इसी को कभी-कभी निर्वाण भी कहा गया है। नानक ने अन्य स्वर्गों के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है, किन्तु जान पड़ता है कि वे धरमखंड को कर्मकाण्ड के समर्थक धर्मों का फल समझते हैं, सरम खंड को चैतन्य जैसे उन निम्न श्रेणी के रहस्यवादियों का स्थान मानते हैं· जो भौतिक उल्लास में उन्मत्त हो जाया करते हैं। ज्ञानखंड

---

* सीलवन्त सबसे बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आनि॥

वही भाग १ पृ० ५।

† कलीकाल ततकाल है, बुरा करो जनिकोय।
अनवावै लोहा दाहिणे बवै सो लुणता होय॥२

क० ग्रं० पृ० ५६।

कृष्ण जैसे ज्ञानियों के लिए उचित समझते हैं, करम खंड को राम जैसे समाज के कर्मवीरों का स्थान मानते हैं जो पाप के सैन्यदल का विरोध किया करते हैं।* आत्मा को अपने कर्मों का भोग भोगने के लिए जन्म एवं मरण के चक्रों में भ्रमण करना पड़ता है। कहा जाता है कि विश्व में चौरासी लाख योनियाँ हैं और प्रत्येक व्यक्ति को इनमें से एक या सभी में भ्रमण करना पड़ता है। उसका आगामी जीवन उन प्रवृत्तियों की योग्यताओं-द्वारा निर्धारित होता है, जिन्हें वह अपने वर्तमान जीवन में प्राप्त किया करता है। दादू ने कहा है कि "जीते जो जो अपना मन जहाँ पर रखता है, वहीं पर अपने मरने पर प्रवेश कर जाता है।"† यह बात मानी जाती है कि अपना उद्धार प्राप्त करने के लिए, मनुष्य अन्य प्राणियों से अधिक योग्य अधिकारी है। मानव शरीर को इसी कारण बहुत प्रशस्त कर्मों का पारितोषिक स्वरूप माना जाता है और उससे पूरा लाभ उठाना उचित है। जैसा बाबा लाल ने बतलाया है कि यद्यपि निर्गुणी का मत औरों से भिन्न है तो भी यह भिन्नता सामाजिक क्षेत्र के व्यापारों से सम्बन्ध नहीं रखती। जैसा उन्होंने स्वय कहा है, 'परमात्मा उन व्यक्तियों की श्रद्धा व विश्वास है जो उससे प्रेम करते हैं, किन्तु भलाई करना सभी मतों के अनुयायियों के लिए सर्वोत्तम है।"‡

'मैं' एवं 'तू' की क्षुद्रता से ऊपर उठकर, निर्गुणी, सारे विश्व को एक आध्यात्मिक भ्रातृभाव में बँधा हुआ देखता है। लोगों की जीविका के चरित्र में कितना ही अंतर क्यों न हो वे सभी तत्वतः एक हैं। एकही आत्मा सभी में व्याप्त है। सभी कृत्रिम विभिन्नताएँ अपने स्वभाव से ही गर्हित

---

* "जपुजी" (गुरु नानक) ३५-३७।

† जहँ मन राखै जीवता, मरता तिस घरि जाइ।
दादू बासा प्राण का, जहँ पहली रह्या समाइ॥

‡ "दि रिलीजस सेक्ट्स आफ हिन्दूज" पृ० ३४६, विल्सन।

हैं। उनका संबन्ध आत्मा से न होकर शरीर मात्र से है। निर्गुणियों ने इस विषय में पूरे बल के साथ चर्चा की है। जैसा कि हम प्रथम अध्याय में ही देख चुके हैं। निर्गुणी लोग सामाजिक एकता एवं वर्ग तथा जातिगत समानता के पक्षपाती थे, वे शूद्रों को ब्राह्मण या अन्य वर्णों के पूर्णतः समान मानते थे। कबीर उन्नत वर्णों व विशेष कर ब्राह्मणों के प्रति, अति निष्ठुर थे। यदि ब्राह्मण शूद्रों से स्वभावतः उन्नत है तो वह भी इस संसार में उसी अपवित्र मार्गद्वारा (अर्थात् वह गर्भ जिससे शूद्र जन्म लेता है) क्यों आया करता है? सच है, "ब्राह्मणों की धमनियों में दूध नहीं बहता जहाँ शूद्रों में रक्तप्रवाह होता है।" इस प्रकार का गौरव अपने आप आरोपित होने के कारण झूठा है। ईश्वर यदि ब्राह्मण को उच्चवर्ण के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता तो उसके ललाट पर जन्म से ही तीन तिलक बना कर उसे भेजता, जिन्हें वह अपना विशेषाधिकार माना करता है।"* उनके सम्पर्क में आकर उनके कई समकालीन शूद्रों ने अपनी जाति को महत्व देना सीख लिया था। रदास ने गर्व के साथ कहा था कि मैं जाति का चमार हूँ और मेरे कुटुंबवाले आज भी बनारस के आस पास मृत पशुओं को ढोते हुए देखे जाते हैं।† निर्गुण मत ने शूद्रों के भद्दे आचरणों में सुधार किये, उन्हें धर्म के प्रति आदर का भाव प्रदर्शित करना सिखलाया, उनके लिये भक्ति का द्वारा उन्मुक्त कर दिया और और उनके भीतर आत्म सम्मान की भावना भी भर दी।

---

* जो तू बामन बमनी जाया, आनबाट ह्वै क्यों नहि आया।
जो पै करता बरण विचारै, तौ जनमत ही डाँड़ि किन सारै॥
कं० ग्रं० १०४।

† नागर जन मेरि जाति चमारं"मेरी जाति कुट बंढला ढोर ढोवतं।
बनारसी आस पासा।— 'ग्रंथ साहब' पृ० ६६७-८।

इसी भाँति हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच मेल कराने की चेष्टा द्वारा भी निर्गुणियों ने अविरोध व सहनशीलता का क्षेत्र तैयार किया। इसमें संदेह नहीं कि आरंभ में इस आन्दोलन का विरोध हुआ। कबीर, सिकन्दरलोदी-द्वारा, धर्म विरोधी विचारों के ही लिए दण्डित किये गये थे, किंतु इस प्रकार के विरोध से उस आन्दोलन को शक्ति ही मिलती गई और, समय पाकर इन विचारों के कारण, इन उपदेशकों के क्रुद्ध होने की जगह बादशाहों ने उन्हें सम्मानित करना आरम्भ किया। अकबर ने दादू को मन्त्र का उपदेश देने के लिए आदरपूर्वक आमन्त्रित किया था। अकबर के शासनकाल का अविरोधी भाव नवीन विचारों से प्रभावित वायुमण्डल का ही परिणाम था। इसी नवीन विचार ने ही अकबर को सबका खोजी समाज-सुधारक एवं सहनशील सम्राट् बना दिया और इसी में उसकी महत्ता भी निहित थी। वास्तव में इसी विचार के आधार पर भारतीय एकता का वह चिरस्थायी सूत्र (जिसमें न केवल हिन्दू-मुसलिम ही प्रत्युत ईसाइयों को लेकर सभी प्रकार के भिन्न धर्मवाले भी बाँधे जायँगे) बटा जा सकता है। यदि इस प्रकार की एकता जिसका अकबर के समय में उज्ज्वल भविष्य दीख पड़ता था प्राप्त नहीं हो सकी, तो उसका कारण यह है कि निर्गुण मत के जिस संदेश से अकबर ने लाभ उठाया था वह विस्मृत हो गया है फिर अकबर भी उसके लिए उतना योग्य न था। उसकी खोजवाली प्रवृत्ति से उसकी राजसी वृत्ति ढ़ढतर सिद्ध हो गई और धामिक वातावरण को उसने राजनीतिक उद्देश्य का साधन बना डाला। इस विषय में उसे मंत्रणा देनेवाले अबुलफजल एवं फैजी नामक सूफी बन्धुओं ने सत्य की अपेक्षा अपने स्वामी की स्वच्छंद वृत्ति की ओर ही अधिक ध्यान दिया। इसका परिणाम दीनेइलाही के रूप में लक्षित हुआ और उस राजकीय धर्मोपदेशक ने हिंदू धर्म व इस्लाम को एक साथ निचोड़ कर उसके द्वारा अपने साम्राज्य को

स्थायित्व प्रदान करना चाहा। उसकी असिद्धि का बीज उस विचार में ही निहित रहा। ईश्वरीय साम्राज्य के स्थान पर अकबर ने अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहा। विभिन्नताओं को भी लेकर चलनेवाली सच्ची भीतरी एकता के बिना केवल विनिमय के सिद्धान्त पर ही आश्रित कोई चलता क्रम ठहर नहीं सकता। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि निर्गुणी कभी जाति वा राष्ट्र की दृष्टि से विचार नहीं करते थे बल्कि मानवता के ही शब्दों में सोचते थे। केवल इस बात से कि उनके सिद्धान्तों का भी सम्बन्ध कभी-कभी स्थानीय वा जातीय कामों में दीख पड़ता है, यह प्रमाणित नहीं होता कि उनकी धारणाएँ संकीर्ण थीं।

केवल स्त्री जाति को ही इन संतों द्वारा हानि पहुँचती है। सभी युगों व देशों के निवृत्तिमार्गियों का यह नियम रहा है कि वे स्त्री व धन की निंदा करते आये हैं और इस प्रकार वैराग्य की उस भावना को जाग्रत करते रहे हैं जो निर्गुणियों को भी स्वीकार है। कबीर ने स्त्रियों को नरक का कुण्ड बतलाया है। पलटू को अस्सी वर्ष की भी स्त्री का विश्वास नहीं और यह बात खटकती है। दुःख की बात है कि स्त्रियों में इन लोगों ने केवल भोले भाव ही को देखा है, उनके आध्यात्मिक आदर्श की ओर से आँखें मूँद ली हैं जिसे उन्होंने उस शाश्वत प्रेमी की भार्याएँ बनकर स्वयं अपनाने का विचार किया है। इसमें संदेह नहीं कि स्त्रियों के केवल यौन भाव वाले अंश को ही उन्होंने ही गर्हित माना है, किंतु स्त्रियों में यही भाव सब कुछ नहीं है और न पुरुष ही इस भाव से रहित हैं। जैसा निर्गुणियों ने स्वयं माना है कि पुरुष भी स्त्री के लिए उसी प्रकार बन्धन स्वरूप हैं जिस प्रकार स्त्री पुरुष के लिए हो सकती है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि उन्हें स्त्रियों के व्यक्तित्व से कोई द्वेष न था क्योंकि उनके अनुसार वह भी पुरुष की ही भाँति ईश्वर की

सृष्टि है ।† इसके विपरीत स्त्रियों को इस बात के लिए उनका ऋणी होना चाहिए कि उन्होंने उनके लिए भी भक्ति का द्वार खोल दिया है । निर्गुणियों ने स्त्रियों को अपने शिष्य रूप में भी स्वीकार किया था । दादू की कुछ स्त्री शिष्याएँ थीं जो उच्च परिवारों की थीं । चरणदास की शिष्याएँ सहजोबाई व दयाबाई निर्गुण पंथ के परमोच्च रत्नों में से हैं । कबीर की स्त्री जिसका जो भी नाम रहा हो एक पूर्ण शिष्य का उदाहरण स्वरूप थी ।

फिर अपने विश्व प्रेम के नाते से भी निर्गुणी दूसरों की निर्बलता का विशेष ध्यान रखते हैं । जहाँ कहीं उन्हें दोष दीख पड़ेगा उसे वे दूर करने की चेष्टा करेंगे । किन्तु किसी के दोष का विरोध करते हुए भी वे उसे हानि पहुँचाना नहीं चाहते । वे बुराई के शत्रु हैं, बुराई करनेवाले के नहीं । वे अपने प्रति किये गये किसी भी अपमान को मुस्कराहट के साथ सहन कर लेते हैं । 'शठे शाठ्यम्' की नीति बुराई को बढ़ा दिया करती है । भलाई के बदले भलाई करने में कोई विशेषता नहीं है किन्तु बुराई के बदले बुराई करना बुराई दूर करने का कभी साधन नहीं बन सकता । कबीर कहते हैं कि "जब कभी तुम्हें कोई गाली देता है तो वह दुर्वचन अकेला रहता है किन्तु जब तुम उसका बदला दे देते हो, वह कई गुना बन जाता है ।"‡

बुराई को जड़ से दूर करने का असली उपाय उसे करनेवाले के प्रति भलाई करना है । असत्य का विरोध यदि सत्य से किया जाय तो असत्य निर्मूल हो जायगा । बुराई के लिए भी यदि भलाई करो तो

---

† जेती औरति मरदां कहिये सबमे रूप तुम्हारा ।
क० ग्र० पृ० १७६, २५६ ।

‡ गारी आवत एक है पलटत होय अनेक ।
सं० बा० सं० पृ० ४५ ।

बुराई ठहर नहीं सकेगी। दुष्टों के प्रति दया दिखलाई जाय तो दुष्टता उसके अंतःकरण को ठेस पहुँचायेगी और वह पश्चात्ताप करने लगेगा। कबीर कहते हैं "कि 'काँटा बोनेवाले के लिए भी तुम फूल ही लगाया करो; तुम्हें उसके बदले में फूल मिलेगा और उसके लिए त्रिशूल बन जायेगा।"+ फिर, "दया में धर्म और लोभ में पाप रहा करता है तथा इसी प्रकार क्रोध में मृत्यु एवं क्षमा में वह स्वयं विद्यमान रहता है।†

निर्गुणी केवल मानव जीवन से ही प्रेम नहीं करता बल्कि प्राणि-मात्र का प्रेमी है और उसके लिए वनस्पति जीवन भी अपवाद स्वरूप नहीं। कबीर ने कहा है कि "जैनियों को जीवन का महत्व ज्ञात नहीं; क्योंकि वे पत्तियाँ तोड़ कर उन्हें मंदिरों में चढ़ाया करते हैं"‡ यह विश्वास कि सब कोई किसी भी योनि में जन्म धारण कर सकते हैं, सब किसी को एक वृहत भ्रातृ समाज में बाँधने का प्रेमसूत्र बन जाता है। निर्गुणी केवल अहिंसा का ही सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता वह अविरोध का भाव भी अपनाये रहता है। किसी को भी मनसा, वाचा व कर्मणा हानि न पहुँचनी चाहिए। मांस-भक्षण का उन्होंने स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है। मैकालिफ का यह कथन कि नानक ने मांस भक्षण की अनुमति दी थी उस गुरु के उपदेशों द्वारा सिद्ध नहीं होता। यद्यपि

\+ जो तोकों काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोकों फूल के फूल हैं, वाको है तिरसूल॥
वही, पृ० ४४।

† जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप॥
वही, पृ० ५०।

‡ जैन जीव की सुधि नहिं जानै पाती तोड़ि देहुरे आनै।
क० ग्रं०, पृ० २४६।

इसे उन्होंने अपना विशेष लक्ष्य नहीं बनाया था फिर भी इसका उन्होंने स्पष्ट रूप में विरोध किया था ।† उन्होंने कहा है "बकरी गाय अथवा अपनी संतान में अंतर ही क्या है ? ईश्वर के नियम से सबके भीतर एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है । पीर, धर्मोपदेशक अथवा औलिया सभी कोई मरने के लिए आये हुए हैं । अपने शरीर के पोषण के लिए व्यर्थ किसी के प्राण न लिया करो ।"* यह तुम्हारी आत्मा को भूखों मार देगा । जो कोई ईश्वर की सृष्टि को प्राणियों की हत्या द्वारा नष्ट करना चाहते हैं वे कबीर के अनुसार राक्षस कहे जाते हैं । गोवध को वे ईश्वराज्ञा के विरुद्ध मानते हैं । गाय को दुहकर बछड़े को उसके दूध से वंचित करना भी उनके लिए असह्य था । मनुष्य के लिए उसका दूध पीना तथा मांस भी खाना मूर्खता एवं दुष्टता की पराकाष्ठा है । ऐसी कठोरतर आज्ञाओं पर आश्रित अधोमुखी बुद्धि ने ही वेद व कुरान को झूठा बना डाला । मुल्ला से उनका कहना था "यदि तुम कहते हो कि एक ही ईश्वर सबमें विद्यमान है तो फिर मुर्गों की जान क्यों लेते हो ?" और इसी प्रकार वे पंडित से भी कहते थे "वेदों में दिये हुए उपदेशों का परिणाम यह होना चाहिए था कि तुम राम को सभी जीवों में देखा करो किन्तु अपने को मुनि कहते हुए भी तुम कसाई का काम करते हो जीवों की हत्या करना तुम धर्म समझते हो तो फिर अधर्म किसे कहना चाहिए"‡ किसी के विरुद्ध अन्यायपूर्वक कथन करना भी शारीरिक मृत्यु के समान ही समझा जाता है । गाली देनेवालों को बड़े कड़े शब्दों में निन्दित किया गया है ।

परन्तु इस मार्ग के यात्री का उद्देश्य निर्मल जीवन व्यतीत करना

---

† मासु मासु कह मूरख झगड़े, ज्ञान ध्यान नहिं जाने ।

ग्रंथ साहब, पृ० ६६ ।

* संत बानी संग्रह, भाग २ पृ० ४६ ।

‡ सं० बा० सं०, भाग १ पृ० ४६ ।

होने के कारण उसे किसी निंदक से डरने की आवश्यकता नहीं। अपनी निंदाओं द्वारा वह हमारी उन कमियों की सूचना देता रहता है जिनसे हमारे परास्त होने की संभावना रहती है और इस प्रकार वह हमें सदा उनसे बचाये रहा करता है। और यह सब वह बिना किसी पारितोषिक के ही किया करता है।†

परन्तु जो कोई आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसे किसी दूसरे की निंदा करना कदापि उचित नहीं, क्योंकि इसके द्वारा हमारी आँखें बुराई के उपयुक्त हो जाती हैं और उन भलाइयों की ओर से मूँद जाती हैं जो किन्हीं दूसरों में पाई जा सकती हैं और जिनका प्रभाव हमारे ऊपर दूसरे प्रकार से अच्छा भी हो सकता था। अतएव साधक को चाहिए कि दूसरों का छिद्रान्वेषण करने की जगह केवल अपने ही दोषों को देखा करे और उन्हें दूर भी करे। उसे अपनी अंतर्दृष्टि इसलिए नहीं फेंकनी चाहिए कि वह अपने दोषाभावों को छिपाये, बल्कि उन्हें ईश्वर के प्रति स्पष्ट शब्दों में प्रकट करे। जब तक कोई मनुष्य अपने पापों को अपनी आत्मा के अंधकार में छिपाने का प्रयत्न नहीं करता तब तक वे वृद्धि पर रहते हैं किन्तु अपना हृदय ईश्वर के सम्मुख खोलते ही उसके भीतर ईश्वर प्रकाश व्याप्त हो जाता है और उसके पाप, पश्चात्ताप की भावना के साथ अज्ञान सहित नष्ट हो जाते हैं सुधार का चिह्न सबसे प्रथम व निश्चित वह प्रेरणा ही है जो हमें, हमारे हृदय के भीतर ढूँढ़ने की ओर प्रवृत्त करती है और अपने दोषों को प्रकट करने की इच्छा भी प्रदान करती है। आध्यात्मिक जीवन के बीज के अंकुरित होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके लिए क्षेत्र भली भाँति

---

† निदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥

वही पृ०, ६०।

तैयार कर दिया जाय। हृदय से अहंकार को हटा कर उसे गिरा दिया जाय तथा अपनी अयोग्यता एवं पापीपन को प्रख्यापित कर दिया जाय।

जब तक कोई आत्मनिरीक्षण का अभ्यास न कर ले तब तक वह आध्यात्मिक मंडली में प्रवेश पाने की आशा नहीं कर सकता। आत्म-निरीक्षण के विषय में कबीर कहते हैं "मैं बुरे मनुष्य की खोज में निकला तो कोई भी मुझे बुरा न दीख पड़ा किन्तु जब मैं अपने हृदय को ही टटोलने लगा तो मुझसे अधिक बुरा कोई न मिला।"+ इसी भाव के साथ दादू ने भी कहा है कि "सारे विश्व में केवल मैं ही एक सबसे बड़ा पापी हूँ, मेरे पाप इतने हैं कि उनकी गिनती करना असंभव है।"†

पश्चात्ताप करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि पाप किया गया हो। इतना ही पर्याप्त है कि ऐसी कुछ संभावना है जो कार्य में परिणत हो सकती है और इसमें संदेह नहीं कि मानवी हृदय में ऐसी संभावनाएँ सदा विद्यमान रहा करती हैं। जब तक, उस पश्चात्ताप के साथ जो कबीर एवं दादू की उपर्युक्त साखियों से व्यक्त होता है, उसकी संभावना का बीज नष्ट नहीं होता और मनुष्य उस विशुद्ध दशा को प्राप्त नहीं कर लेता जिसमें पहुँच कर कबीर यहाँ तक कहने योग्य हो गये थे कि "मैंने अपनी चादर (शरीर) उसी स्वच्छ दशा में उतार डाली है जिस दशा में वह मुझे ओढ़ने के लिए मिली थी, यद्यपि देवता व मुनिगण तक उसे बिना किसी धब्बे के नहीं रख सके थे।"‡

\+ बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजों आपना, मुझसा बुरा न कोय॥

क०, वा० पृ० ६०।

† महा अपराधी एक मैं, सारे इही संसार।
अवगुण मेरे अति घने, अंत न आवे पार॥

बानी, भाग १, पृ० २४६।

‡ क० वा० २२३ पृ० १८७।

परन्तु जब तक अहंकार है तब तक किसी की आँखें अपने पापों की ओर नहीं उठा करतीं। निर्गुणियों तथा सभी भक्तों की यह धारणा रहती आई है कि पूर्णता की ऊँचाई तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने को नीचातिनीच समझा करें। इनकी दशा का सार ब्राउनिंग की निम्नलिखित दो पंक्तियों द्वारा बड़े उपयुक्त शब्दों में दिया गया है - "ऊपर की ओर देखने से पहले नीचे की ओर देखने से ही रहस्य के भीतर दृष्टि डाली जा सकती है।"

इस कारण सभी प्रकार के गर्व का त्याग करना आवश्यक है "मैं" को पूर्णतः नष्ट करना ही पड़ेगा, इस प्रकार का अभिमान ही कि जो कुछ अपने आप करने की कल्पना कोई करता है उसका कर्ता "मैं" हूं सभी प्रकार के आध्यात्मिक जीवन के लिए मृत्युस्वरूप है। यदि ईश्वर की इच्छा न हो तो मनुष्य जो वस्तुतः एक मिट्टी का खिलौना मात्र है, कर ही क्या सकता है? इस विस्तृत ईश्वरीय सृष्टि का एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण भी होने के कारण उसे कुछ करने की शक्ति ही कहाँ है? अथवा ईश्वरेच्छा से बाहर उसकी इच्छा ही क्या हो सकती है? मनुष्य परमात्मा का एक साधन मात्र है, वह एक यंत्र है जिसके प्रयोग-द्वारा वह अपनी इच्छा की पूर्ति किया करता है। कबीर के नीचे लिखे शब्दों द्वारा यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है—"मैं राम का कुत्ता हूँ और उसकी रस्सी मेरे गले में पड़ी हुई है; वह जिधर खींचता है उसी ओर मैं जाता हूं।"‡ और फिर "मैंने कुछ भी नहीं किया है और न मैं कुछ कर ही सकता था। जो कुछ भी किया जाता है उसे ईश्वर ही करता है और उसी के अनुसार कबीर

‡ कबीर कूती राम की मुतियाँ मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी जित खेंचे तित जाउँ॥

क० ग्रं०, पृ० २०।

अस्तित्व में भी आया।"+ दादू भी कहते हैं—"जिस प्रकार वह आज्ञा देगा, उसी प्रकार मैं नमस्कार करूँगा, मेरा कुछ भी चारा नहीं, मैं उसका एक बेचारा नौकर मात्र हूँ और उसकी दी हुई आज्ञा का पालन किया करता हूँ।"† पलटू ने सच कहा है—"मुझे पता नहीं, वह कौन व्यक्ति है जो आता है और काम कर जाता है। वह इतना शक्तिशाली है कि वह सब के कामों में छेड़ छाड़ करता है। ईश्वर मेरे रूप में सभी कुछ करता है। हाँ सचमुच, मैं व्यर्थ ही बदनाम हो रहा हूँ।"‡

अपनी शून्यता का अनुभव कर लेने पर ही किसी के लिए असीम जीवन का द्वार खुला करता है। जब कोई अपनी इच्छा को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है तभी उसकी अपनी इच्छा ईश्वरेच्छा बन जाती है और जब कोई अपने अस्तित्व को खोकर उसके स्थान पर ईश्वर को ला देता है तभी उसका अस्तित्व ईश्वर का अस्तित्व हो जाता है, इसी प्रकार उसके प्रभु के जीव उसके लिए काम करना सीखते हैं और अपने को प्रधानता भी नहीं देते और न उसके निमित्त अपने लिए कुछ श्रेय की आशा ही करते हैं। प्रभु के मार्ग में अपने आपको मिटा देने का तात्पर्य व्यवहार में यही होता है कि मनुष्य किसी त्याग के अवसर पर अपने को दूसरों के लिए उपयोगी सिद्ध कर दे। जो वास्तविक ज्ञानी होता है वह अपने लिए तो मरता है परंतु दूसरों के लिए जीवित रहा

+ ना कुछ किया न करि सका, ना करने जोग शरीर।
जो कुछ किया साईं किया, ताये भया कबीर॥
वही पृ० ६१।

† ज्यों राखे त्यो रहेंगे, मेरा क्या सारा।
हुक्मी सेवक राम का, बंदा बेचारा॥
'बानी' पृ० १५६।

‡ संतवानी संग्रह, भाग २ पृ० २३५।

करता है। दादू सम्पूर्ण अविच्छिन्न जीवन की सेवा में ही अपने जीवन की पूर्ति समझते हैं और उस स्थान पर मरना चाहते हैं जहाँ उनका शरीर पशुओं व पक्षियों के लिए भोजन का काम दे दे और मलूकदास इस बात की प्रार्थना करते हैं कि सभी प्राणी सुखी कर दिये जायँ और उनके दुःख मेरे सिर डाल दिये जायँ।+ निर्गुणी का जीवन स्वभावतः उपयोगी होना चाहिए। कबीर मनुष्य को इस बात का परामर्श देते हैं कि उसे सड़क के उस कंकड़ के समान नम्र व विनीत बन जाना चाहिए जिसे प्रत्येक बटोही अपने पैरों रौंद दिया करता है। किंतु वह कंकड़ भी कभी किसी राही को कष्ट पहुँचा सकता है, इसलिए उसे धरती पर की धूल बन जाना चाहिए। परंतु धूल किसी के शरीर व वस्त्र को धूमिल कर उसे कष्ट पहुँचा सकती है, इसलिए उसे पानी के समान होना चाहिए जो धूल को धोकर साफ़ करता है। परंतु पानी भी अपने समय समय पर गर्म व ठंढा होते रहने के कारण नापसंद किया जा सकता है। अतएव, हरिजन को स्वयं ईश्वर का ही रूप होना चाहिए।† प्रेम के मार्ग में जो सत्य का अकेला शांतिपूर्ण मार्ग है कितना भी कष्ट झेलना पड़े वह अधिक नहीं होता। इसके लिए ऐसे धैर्य की आवश्यकता है जो पृथ्वी में पाया जाता है जिसके कारण वह कुचला जाना सहती है अथवा जो जंगल में रहा करता है और वह काटा तथा चीरा जाना तक सहन कर लेता है।‡

फिर भी आध्यात्मिक नम्रता का अर्थ अपमान नहीं होता। ईश्वर पर भरोसा करो और अपनी अयोग्यता एवं पापीपन को उसके समक्ष स्वीकार करने के साथ-साथ यदि भीतर स्वाभाविक भलाई व

+ सं० बा० सं०, भाग १, पृ० ७८ व १०४।

† कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६५।

‡ वही, पृ० ६२।

ईश्वरत्व का भान भी न रहा करे तो कोई भी धार्मिक समाज उन अयोग्य भिखमंगों का एक समूह बन जाता है जो सार्वजनिक दान पर आश्रित रह कर अनुपयोगी जीवन-यापन करते हैं और उनके द्वारा उच्छिन्न हो जाने का ही भय बना रहता है। जिस किसी का अपने ईश्वर में विश्वास रहता है वह जानता है कि जब वह ईश्वर पर आश्रित रहता है तो वह वस्तुतः अपने ऊपर ही भरोसा करता है। निर्गुण मत का भाग्यवाद किसी आलस्यमय जीवन का द्योतक नहीं। भिन्न बाहरी कर्ता की इच्छा पर किसी का पुरुष की भाँति निर्भर रहने की जगह वह वस्तुतः अपने कामों के लिए, वीरतापूर्वक अपना उत्तरदायित्व सँभालता है, जो निर्दयी काल के हाथों से भी हटाया नहीं जा सकता। 'कर्म' जिसका शब्दार्थ कार्य होता है भाग्य का एक दूसरा नाम है, जो कुछ भी अपने ऊपर आ पड़े उसे साहस के साथ यह मानकर उठा लेना चाहिए कि वह अपने पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम है। नानक ने कहा है कि जो जैसा बोता है वह वैसा काटता भी है।‡ मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है किंतु अपने किये कर्म का परिणाम भी उसको भोगना पड़ता है। उसके कर्म सम्बन्धी नियम की अवहेलना स्वयं ईश्वर तक नहीं कर सकता, यद्यपि वह उसी की इच्छा है। इसलिए जो कुछ बदला नहीं जा सकता उसके लिए रोने की जगह किसी को इस बात का परम संतोष भी हो सकता है कि वह अन्ततः ईश्वर की ही इच्छापूर्ति कर रहा है और अपने उस भविष्य के लिए वह आशा के साथ कार्य भी कर सकता है जो सदा अपने हाथों की बात है यद्यपि ऐसा करते समय वह उन कुछ परिस्थितियों द्वारा बाधित भी होता रहेगा जो उसके पहले कर्मों का परिणाम स्वरूप हैं।

---

‡ जो जैसा करे सु तैसा पावे। आपि बीजि आपे खावे॥
ग्रंथ साहब, पृ० २५७।

इस प्रकार ईश्वर की इच्छा को पूर्ति के करने का तात्पर्य आत्म-विश्वास है और उसके कारण अपनी जीविका के लिए काम करने की आवश्यकता नष्ट नहीं होती। दूसरों पर भरोसा करना ईश्वर को तथा अपने को अपमानित करना है। एक संन्यासी योगी के प्रति गुरु अगद ने कहा था—"क्या तू परमेश्वर के सिवाय दूसरे से माँगने में लज्जित नहीं होता?"+ भीख माँगने से आध्यात्मिक पतन हो जाता है। कबीर के अनुसार, "जब कभी कोई अपने हाथ माँगने के लिए फैलाता है उस समय उसके मान, महत्व प्रेम, गौरव एवं स्नेह सभी उसका साथ छोड़ देते हैं।"* कबीर ने एक बार यह भी कहा था कि "माँगना मरण के समान है।"† शिवदयाल आधुनिक साधुओं को उनके अपने परिवार, उद्योग धंधादि त्याग करने तथा व्यर्थ का घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करने के कारण भर्त्सना किया करते थे। श्रम के साथ नीचता का कोई संबध नहीं। "उद्योग में कोई दोष नहीं यदि उसे कोई करना जान जाय, उस श्रम में उल्लास भरा रहता है जो ईश्वर के लिए किया जाता है।" ‡

कर्म यद्यपि हमारे लिए जन्म व मरण के बंधन में पड़ने का कारण बन जाते हैं, क्योंकि अपने कर्म का फल भोगने के लिए ही हमको बार-बार जन्म लेना पड़ता है) फिर भी, हिंदू धर्मानुसार, पुनर्जन्म का सिद्धान्ततः न्यायसंगत होना अकर्मण्यता-द्वारा असिद्ध नहीं किया जा सकता। कोई भी सभी प्रकार से अकर्मण्य नहीं रह सकता। स्वयं

+ नाथ छोड़ि जाँचै, लाज न आवै। वही पृ० ४७८।

* मान महातम प्रेम रस, गवतिण गुण नेह।
ये सबही अलहा गये जबहि कहा कुछ देहु ॥ क० ग्र० पृ० ५६।

† माँगन मरन समान है। वही पृ० ५६।

‡ सारबचन भा० १, पृ० २६५।

असंपृक्त रहना ही धर्म बनता है। भविष्य की कामना स्वयं कर्मों में नहीं रहा करती, यह उस प्रवृत्ति में रहती है जो उन्हें प्रेरित किया करती है। क्योंकि यहाँ साधु स्वार्थपरता ही सब क्रियों को अपवित्र में लाया करती है। बिना स्वार्थ के किये जानेवाले कार्य यदि 'ईश्वर के निमित्त संपादित किये जाते हों तो उनमें भविष्य के लिए कोई अंकुर नहीं रहता।"† जब कबीर कहते हैं कि, "इन्होंने स्वार्थी करनी से ही धर्म का नाश कर डाला।"‡ तो वे उन कर्मों की ही चर्चा करते हैं जो ईश्वर के लिए किये जाते हैं और जिनमें, इसी कारण, प्रेम व त्याग का संयोग बना रहता है। अनासक्तिपूर्वक किये गये कर्म मनुष्य को इस संसार से मुक्त कर देते हैं। कबीर ने कहा था कि, "मैं सभी कर्मों को करता हुआ भी उनसे पृथक् हूँ।" निर्गुणियों का कर्म के संबंध में निर्धारित किया हुआ सिद्धान्त नामदेव तथा त्रिलोचन की उस बातचीत में स्पष्ट हो जाता है जिसका उल्लेख कबीर ने किया है और जिसमें त्रिलोचन के इस दोषारोपण पर कि सांसारिक प्रेम ने तुम्हें मोहित कर लिया है और वे अभी तक छीपी का काम करते हैं, नामदेव ने कहा है कि "हे त्रिलोचन तुम होठों से राम का नाम स्मरण करो और अपने सभी कर्तव्य हाथ-पैर से करते रहो। अपना हृदय ईश्वर में ही संबद्ध रखो।"+

---

† उद्दिम औगुण को नहीं जो करि जानै कोय।
उद्दिम में आनंद है जे साईं सेती होय।। 'साखी'

‡ करणी किया करम का नास।। ३२६। क० ग्रं० पृ० २०० ।

+ नामा माया मोहिया कहै तिलोचन मीत।
काहे छापै छाइ लै राम न लावै चीत।।
नामा कहै तिलोचना मुख तें राम सँभालि।
हाथ पाँव करि काम सब, चीत निरंजन नालि।।
'ग्रंथ साहब' पृ० ७५०-५१ ।

परिश्रम के बिना प्राप्त की हुई कोई भी सिद्धि एक राक्षसी व्यापार होता है और उससे लोभ की वृद्धि होती है। आलस्य से लोभ की ओर बढ़ना केवल एक ही पग है। निर्गुणी भी ठीक टाल्स्टाय के ही समान सभी प्रकार के धनसंग्रह से घृणा करते हैं जिसमें केवल लोभ ही उचित नहीं होता बल्कि जिससे आलस्य को भी प्रेरणा मिलती है। कल की आवश्यकताओं के लिए आज ही प्रबंध कर लेना आगामी आलस्य में मग्न हो जाना है। धन-संग्रह की भावना ईश्वरानुभूति के मार्ग का रोड़ा बन जाती है जमा करने के लिए जुटाने में आखिर अच्छा ही क्या है। मनुष्य अपने जीवन भर कमाने और अपने धन की वृद्धि करने के प्रयत्न करता है—धन एकत्रित करता है, घर बनाता है भूमि क्रय करता है किंतु अपने साथ क्या ले जाता है? हाथ बाँधे हुए आता है और खुले हाथ चला जाता है।" बल्कि विक्रम, भोज एवं विसालदेव तक राजा भी इस बात के साक्षी हैं।"+ स्वार्थपरक पूरक धन की कामना के अपने हृदय में जागृत होने पर स्वयं कबीर अपने आप प्रश्न करते हैं "मैं ऊँचा घर क्यों बनाऊँ? मेरा घर तो (यह शरीर) साढ़े तीन हाथ का लंबा है। हे मनुष्य अपनी संपत्ति का गर्व न करो। अंत में तुम्हें (अपनी कब्र के लिए) उतनी ही भूमि की आवश्यकता पड़ेगी जिसका विस्तार तुम्हारा शरीर ढकने के काम के लिए पर्याप्त होगा।"×

इसी भावना को टाल्स्टाय ने अपनी "मनुष्य को कितनी धरती चाहिए" नाम की कहानी में बड़ी सुन्दरता के साथ विकसित किया है। सत्य, वस्तुतः सर्वत्र सत्य ही है। निर्गुणी इस प्रकार उससे अधिक की इच्छा नहीं करते जिसका उनके परिवार के तथा उनके अतिथियों के

+ कबीर ग्रंथावली २६६ पृ० १२८।

× वही ३६१ पृ० २०८।

लिए पर्याप्त हो। वास्तव में वे किसी कमी का अनुभव क्यों करें ? जब सब कुछ का देनेवाला उनके साथ सदा बना रहता है।"+ कबीर ने कहा था कि "उस धन का ही संग्रह करो जो जीवन के अनंतर भी उपयोग में आवे और उसके द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक साधना की ही आवश्यकता दिखलाई थी।× बाबालाल ने दाराशिकोह को ईश्वरीय ज्ञान का उपदेश देते हुए कहा था कि "बिना कामना, बिना संचय और बिना भाव के ही फकीर का जीवन व्यतीत होना चाहिए।" निर्गुणी अभाव का स्वागत नहीं करते। निर्धन को केवल ईश्वर-प्राप्ति की एक अनुकूल स्थिति मात्र मानते हैं। निर्धनता का तात्पर्य साधना भाव से नहीं प्रत्युत त्याग की उस भावना से है जो एक ओर जहाँ दारिद्र की कटुता को दूर करती है वहाँ दूसरी ओर वैभव के कारण उत्पन्न होनेवाले उत्तरदायित्व के समान हो है। निर्धनता के दो प्रधान अंग हैं संतोष एवं उदारता "संतोष के सामने सभी प्रकार के धन धूल के समान हैं।"÷ फिर भी अपने संतोष का प्रयत्न या उपक्रम के साथ कोई विरोध नहीं है और उदारता ही सच्चा धन है। धनी होने का अर्थ वैभव का अपने अधिकार में लाना नहीं है वह एक मानसिक वृत्ति मात्र है। अपनी संपत्ति से संतुष्ट न रहनेवाला व्यक्ति विपुल वैभव का स्वामी होता हुआ भी दरिद्र कहा जा सकता है। उदारता के साथ साथ उसका अपना

\+ आगे पीछे हरि खड़ा जब माँगै तब देय।

सं० बा० सं०, पृ० ५७।

× वह धन संग्रह कीजिये जो आगे कू होय।

॥ १३ ॥ क० ग्रं०, पृ० ३३।

÷ गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धूरि समान॥

सं० बा० सं०, भाग १ पृ० ५३१।

संतोष रहा करता है। वास्तव में वैभव के विचार से संतोष एवं उदारता दोनों एक ही संतुलित मनोवृत्ति के दो पथ हैं। आर्थिक संकट के साथ संतोष और समृद्धि के साथ उदारता का भाव इस स्थिति के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि इससे ही पूँजीवाद की दुष्टता और साम्यवाद की बर्बरता के भाव उत्पन्न हुए हैं। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारी आधुनिक सभ्यता को जिस अनिष्ट की आशंका हो रही है उसका निवारण आध्यात्मिकता ही कर सकती है। जो कुछ पहले कहा जा चुका है उससे भली भाँति सिद्ध है कि निर्गुण मत का भी लक्ष्य यही है।

निर्गुणियों के उपदेशों का अक्षरशः पालन सर्व साधारण द्वारा नहीं हो सकता परन्तु विचित्र वैषम्य की साधारण दैनिक जीवन-यापन करनेवाली विचित्र स्थिति में रह कर निर्गुणी का आदर्श उसकी उस सहज बुद्धि पर अवश्य कल्याणकर प्रभाव डालेगा जो समाज के लिए भयावह है और उसके उस उग्र स्वभाव को निसर्गतः जाग्रत करेगा जिसके कारण उसके नागरिक एवं नैतिक महत्व की वृद्धि में प्रोत्साहन मिले।

पंचम अध्याय

पंथ का स्वरूप

हम देख चुके हैं कि, निर्गुण-पंथ का निर्माण होते समय, उन आदर्शों व भावनाओं का उसमें किस प्रकार प्रवेश होता गया जिनके मूलस्रोत का पता बौद्ध धर्म, वैष्णव संप्रदाय, वेदांत दर्शन, तथा गोरखनाथ की योग परंपरा जैसे धर्मों, दर्शनों या रहस्यपंथों में लगाया जा सकता है। अतएव, ऐसी दशा में यह प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के मन में स्वभावतः, उठ सकता है कि 'क्या निर्गुण पंथ कोई मिश्रित संप्रदाय तो नहीं है? यदि सच पूछिए तो यह प्रश्न इस प्रकार भी किया जा सकता है— क्या कबीर केवल एक संग्रही मात्र थे?' क्योंकि पंथ के प्रारंभ करने का श्रेय कबीर को ही देना होगा।

१ क्या निर्गुण पंथ कोई मिश्रित संप्रदाय है?

फिर भी उक्त प्रश्न का उत्तर किसी 'हाँ' अथवा 'नहीं' जैसे स्पष्ट शब्दों-द्वारा नहीं दिया जा सकता। निर्गुणी, सारतत्त्व को निकालनेवाला वा सारग्राही हुआ करता है। उसे सत्य के उस दाने को खोज निकालना पड़ता है जो छिलके के भीतर छिपा रहता है और सूप की भाँति उसे दाने को बचा लेना एवं भूसी को फेंक देना पड़ता है।* दादू के

---

* सार संग्रहै सूप ज्यूं, त्यागै फटकि असार ॥

टि० २ ॥ 'कबीर ग्रंथावली, पृ० ५४।

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय ॥ ७८ ॥

'कबीर साहब की बानी, पृ० ६।

शब्दों में उसे बछड़े की भाँति, पूँछ और सींगों की उपेक्षा कर, दूध पीने के लिए, तत्क्षण गाय के स्तन की ओर ही, दौड़ जाना पड़ता है।* जब निर्गुणी की ऐसी मानसिक स्थिति है तो यह स्वाभाविक है कि उसकी अपनी विचारधारा में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्रोतों से प्राप्त भावनाएँ आकर मिल जाएँ।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कबीर वा अन्य किसी वैसे निर्गुणी उपदेशक ने, 'दीनेइलाही' के प्रचलित करनेवाले अकबर की भाँति किसी नवीन धर्म की स्थापना करने के उद्देश्य से इन विविध प्रकार के मतों से जानबूझकर अच्छी अच्छी बातें चुन ली हों। कारण यह कि धर्म प्रयोगसाध्य न होकर विश्वासमूलक है। धर्म के लिए तर्क वा बुद्धि की प्रेरणा पर्याप्त नहीं हुआ करती। उसमें सब से अधिक आवश्यकता विश्वास की ही पड़ती है, बुद्धि उसमें गौणरूप से सहायक हो सकती है। अकबर के 'दीने इलाही' के बदनाम होकर बंद हो जाने का कारण यही था कि उस शाही पैगंबर को उन बातों में स्वयं भी पूर्ण विश्वास न था-जो उसके मिश्रित संप्रदाय के अंतर्गत आती थीं। तब ऐसी दशा में दूसरों के हृदयों में किस प्रकार विश्वास जमा सकता था अथवा प्रतीति उत्पन्न करा सकता था? जान-बूझकर प्रचलित किया जानेवाला मिश्रित संप्रदाय, यदि कोई हो सकता है तो उसमें एक ओर बुद्धिवाद रहेगा और दूसरी ओर व्यक्तिगत भावप्रवणता और इस विचार से किसी सार्वभौम अनुभूति का द्योतक वह नहीं बन सकता।

परन्तु मिश्रित संप्रदाय एक अन्य प्रकार का भी होता है जो किसी व्यक्ति-विशेष की कृति न होकर, विकास कहलानेवाले सामाजिक नियम-

---

* गऊ बच्छ का ज्ञान गहि, दूध रहै ल्यौ लाइ।
सींग पूँछ पग परिहरै, अस्तन लागै धाइ ॥१५॥
'दादू दयाल की बानी' भा० १, पृ० १८७।

द्वारा, कालक्रमानुसार धीरे-धीरे, स्वयं निर्मित हुआ करता है। निर्गुण मत ऐसे ही मिश्रित संप्रदाय का परिणाम स्वरूप है और इसी दृष्टि से यह एक मिश्रित सम्प्रदाय कहा भी जा सकता है। निर्गुण पंथ के निर्माण में परिणत होनेवाली क्रिया केवल कुछ वर्षों ही तक नहीं चली थी और न इसका अंत कुछ लोगों के जीवन-काल की अवधि में ही हुआ था, इसका स्वरूप अनेक युगों से निरंतर चले आनेवाली किसी एक विशेष प्रक्रिया-द्वारा निर्मित हुआ था। इस प्रक्रिया का प्रारंभ एक ओर जहाँ ढाई सहस्र वर्षों से पहले, अर्थात् ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी के पहले एकांतिक धर्म या एकनिष्ठ भक्ति में हुआ था, वहाँ दूसरी ओर उस बौद्ध धर्म के अंतर्गत भी कहा जा सकता है जो उससे किसी प्रकार कम प्राचीन नहीं था।

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में मैंने स्वामी रामानन्द के समय तक एकांतिक धर्म के विकास की चर्चा की है। परन्तु इसी बीच में इस शुद्ध व सरल मत में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन होने लगे थे। उपनिषदों के उपदेश इसमें सम्मिलित होते जा रहे थे और श्रीमद्भागवत के समय तक आते-आते जो प्रायः गुप्त काल में रखा जाता है, यह एक ऐसे अत्यंत जटिल अद्वैतवाद का दार्शनिक रूप ग्रहण कर लेता है जिसमें ईश्वरवाद की भावना का भी परित्याग नहीं होता। परन्तु जब औपनिषदिक सिद्धान्तों का अर्थ शङ्कराचार्य-द्वारा एक नवीन ढंग से लगाया गया और जिसे ईश्वरवाद के प्रति उपेक्षा का भाव सा प्रकट होने के कारण प्रच्छन्न बौद्ध धर्म तक कहा गया तो शङ्कर के केवलाद्वैत के विरुद्ध वैष्णव-सम्प्रदाय अपने विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद एवं दार्शनिकवादों को लेकर उठ खड़ा हुआ। फिर भी शङ्कराचार्य के मत का प्रभाव सर्वसाधारण के विचारों पर पड़े बिना नहीं रह सका और, अन्त में, इसका प्रवेश वैष्णव-संप्रदाय में भी हो गया। महाराष्ट्र प्रांत के अन्तर्गत मुकुंदराज ने अपनी पुस्तक "विवेक सागर" की रचना, बारहवीं शताब्दी ईस्वी में मराठी भाषा में की और

उस ग्रन्थ में उन्होंने वेदांत के अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। सन् १२९० में ज्ञानदेव ने भगवद्गीता पर अपना पूर्णतः अद्वैतवादी भाष्य रचा। उत्तरी भारत में अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत ने अपनी कटुता का परित्याग किया और स्वामी रामानन्द के अद्वैतवादी गुरु ने अपने योग्य शिष्य को उस विशिष्टाद्वैती राघवानन्द के सिपुर्द कर दिया जिन्होंने उक्त बालक की रक्षा अपने योगबल की सहायता से की थी। गुरु के इस परिवर्तन का प्रभाव ऐसा नहीं पड़ा कि जिससे अपने युवाकाल में अध्ययन किये हुए दार्शनिक सिद्धान्तों से किसी प्रकार का संघर्ष उपस्थित हो जाता। जान पड़ता है कि वैष्णव-भक्ति को उन्होंने इस प्रकार अपनाया कि वह शङ्कराचार्य के अद्वैतमत में भी खप सकी। अपने धर्मगुरु के संप्रदाय के साथ जो उनका विरोध चला उसका कुछ न कुछ सम्बन्ध उन दार्शनिक प्रवृत्तियों के साथ भी रहा होगा जो उन्हें अपने सिद्धान्तों के कारण प्राप्त हुई थीं। इस प्रकार स्वामी रामानन्द में आकर अद्वैती सर्वात्मवाद का मेल शरीरधारी भगवान् के प्रति उस प्रेम से भी हो गया जो वैष्णव सम्प्रदाय की विशेषता है।

इधर बौद्ध धर्म में भी अनेक परिवर्तन हुए। प्राचीन योग ने जिसका रूप पातञ्जल योगसूत्रों में लक्षित होता है, बौद्ध धर्म को प्रभावित किया और उसके कारण तिब्बत आदि देशों मे बौद्ध योगाचार नाम की तन्त्र-पद्धति का अविर्भाव हुआ। यह तन्त्रपद्धति भी आगे चलकर निरी कामुकता से प्रभावित हो, वज्रयान में परिणत हुई और सिद्धों की परंपरा चल निकली। उनके दुराचारों के विरोध में कुछ सिद्धों ने अपनी मूल परंपरा का परित्याग कर दिया और अपनी नवीन विचारधारा के अनुसार वीर्यरक्षा का प्रचार करने लगे। वज्रयानियों व सिद्धों ने इसके विपरीत प्रचार कर रखा था। गोरखनाथ इन पृथक् होनेवालों में एक प्रमुख व्यक्ति थे और उन्होंने उन प्रदेशों में अपने मत का प्रचार किया जिन्हें महाराष्ट्र व उत्तर प्रदेश कहते हैं। वैष्णवों ने आध्यात्मिक अनुभूति की

साधना में योगाभ्यास को भी महत्त्व दिया था इस कारण इस नवीन विचारधारा से ये बहुत शीघ्र प्रभावित हुए। राघवानन्द बहुत बड़े योगी थे जिनके लिए कहा गया है कि उन्होंने अपने योगबल से रामानन्द की प्राणरक्षा की थी। अतएव इसमें संदेह नहीं कि रामानन्द ने उनसे योग-साधना की भी शिक्षा ग्रहण की होगी। रामानन्द भी स्वयं अपने संप्रदाय में एक महान योगी के रूप में विख्यात हैं।† रामानन्द में आकर इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार की विचारधाराओं का संगम हुआ और ये दोनों मिलकर वहाँ से कबीर में पहुँचीं जहाँ की अन्य विभिन्न धाराओं ने सम्मिलित होकर निर्गुणमत को उसका अंतिम स्वरूप दे डाला।

---

† ज्ञानदेव के परिवार के साथ का उनका सम्बन्ध भी (यदि यह ऐतिहासिक घटना है तो) उनका योगी होना सिद्ध करता है। ज्ञानदेव का जन्म एक नाथपंथी परिवार में हुआ था। उनके प्रपितामह त्र्यम्बक पंत के लिए प्रसिद्ध है कि वे स्वयं गोरखनाथ के शिष्य थे और उनके पितामह गोविंदपंत के गुरु गहनीनाथ थे तथा उनके पिता विट्ठलपंत को स्वयं रामानन्द ने ही दीक्षा दी थी।

यह भी संभव है कि रामानन्द एक समाज सुधारक होने के नाते ज्ञानदेव के परिवार के साथ संबंध रखनेवाले मान लिये गये हों। बात यह है कि विट्ठल पंत संन्यास धर्म से च्युत समझे गये थे और हो सकता है कि, इस धार्मिक पतन की व्याख्या के प्रयास में रामानंद के नाम का भी उपयोग किया गया। विट्ठल पंत जब रामानंद-द्वारा वैराग्य के मार्ग में दीक्षित हुए थे तो रामानंद से किसी समय उनकी पत्नी रुक्माबाई से भेंट हो गई थी। स्वामी रामानंद ने उन्हें कृपापूर्वक अच्छी संतति उत्पन्न होने का आशीर्वाद दिया था और अपने वचन को पूरा करने के लिए उन्हें अपने शिष्य को पुनः गार्हस्थ्य धर्म स्वीकार करने का आदेश भी देना पड़ा था। विट्ठल पंत को रामानंद का शिष्य मान लेने में

पहली विचारधारा अर्थात् एकांतिक धर्म के अद्वैती सर्वात्मवाद तथा साकार भगवान् के प्रति प्रदर्शित प्रेम ने दूसरी धारा अर्थात् बौद्ध धर्म के शब्दयोग गुरु के प्रति आत्मसमर्पण* तथा मध्यम मार्ग† के साथ सम्मिलित हो, रामानंद के द्वारा निर्गुणमत में प्रवेश किया।

एक ही कठिनाई कालनिर्णय सम्बन्धी पड़ती है और वह अनतिक्रमणीय वा दुर्लंघ्य है। विट्ठलपंत का समय रामानद से बहुत पहले पड़ता है। रामानंद का जन्म-संवत् रामानंदी लोगो के भी अनुसार (जिनसे उस काल को अधिक से अधिक प्राचीन सिद्ध करने की आशा की जा सकती है) सन् १२९९ ई० है। जहाँ विट्ठलपंत की धर्मच्युति के अनंतर उनके प्रथम पुत्र का जन्म होना लगभग सन् १२६८ ई० वा उससे पाँच वर्ष पीछे सिद्ध होता है (दे० 'ज्ञानदेव वचनामृत' की 'प्रस्तावना' पृ० ५ प्रो० आर० डी० रानडे लिखित)

* बौद्ध तंत्रपद्धति के अनुसार गुरु इस भूतल पर परमेश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। तिब्बतीय लामाधर्म जो बौद्ध धर्म का ही एक परिवर्तित रूप है 'गुरुधर्म' है और लामा शब्द का अर्थ भी गुरु ही होता है। गुरु के लिए यही महत्व हम गोरखनाथियो में भी पाते हैं और वहीं से रामानंद के द्वारा गोरखनाथियों के प्रभाव में कुछ और भी अधिक आ जाने के कारण इसका प्रवेश निर्गुणमत में भी हो जाता है। हिन्दू भी गुरु के विषय मे लगभग उसी भाव के साथ कथन करते हैं किन्तु वे इसे केवल अर्थवाद समझते हैं और योगियों वा निर्गुणियो की भाँति उसे शब्दशः नहीं मानते।

† महायान, योगाचार तथा गोरखनाथपंथ सभी मध्यम मार्ग स्वीकार करते हैं। गोरखनाथी इसके लिए उस बौद्धमत के ही ऋणी हैं जिससे वे पृथक् हुए थे। गोरखनाथ ने स्पष्ट शब्दों में कहा है "खाए भी मरिए अनखाए भी मरिए। गोरख कहै पूता संजमिही

खेद की बात है कि निर्गुणमत पर पड़े गुरु रामानंद के प्रभाव को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जाता। बहुत सी धारणाएँ जिन्हें हम प्रायः कबीर के नाम से प्रचलित पाते हैं उनका पूर्वाभास रामानंद के प्रायः सभी शिष्यों में मिलता है। पीपा, रैदास, सेन और धन्ना के जो पद हमें भिन्न-भिन्न ग्रंथों से उपलब्ध होते हैं उनमें कबीर से भिन्न भावों की अभिव्यक्ति नहीं दीख पड़ती। यदि ये रचनाएँ कबीर की ही कही गई होतीं और इनकी नहीं समझी जातीं जिन्होंने इन्हें वास्तव में लिखी है, तो हमें इनके कबीर की ही कृति होने में किसी संदेह को आश्रय देने की आवश्यकता न होती। शिष्यों में ऐसी विचित्र समानता का कारण ढूँढने के लिए हमें उनके मूल स्रोत गुरु की ओर ही दृष्टिपात करना होता है।

निर्गुणमत के अंतिम स्वरूप की केवल वे ही विशेषताएँ रामानंद की ओर से नहीं मिलीं जो या तो अवतारों तथा मूर्तियों के विरुद्ध थीं अथवा जिनका सम्बन्ध दाम्पत्य भाव के रूपक से था। इनमें से प्रथम का मूल कारण इस्लामधर्म था, जैसा कि पहले ही देख चुके हैं और दूसरा सूफ़ीवाद की ओर से आया था जैसा कि हम आगे के अध्याय में पायेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुणमत के मूल स्रोत का पता चाहे हम जिस किसी प्रकार भी लगाना चाहें, सबसे अधिक उस वैष्णव संप्र-

---

वरिए ।। मधि निरंतर कीजे वास । दृढ़ ह्वै मनुवा थिर ह्वै सास'' (सबदी १४४ पौड़ी हस्तलेख) अर्थात् भोजन करने पर भी मृत्यु होती है और न करने पर भी होती है। गोरख कहते हैं कि संयम द्वारा ही मुक्ति निश्चित है। मध्य का आश्रय ग्रहण करो तभी तुम्हारा मन दृढ़ होगा और तुम्हारा श्वास भी नियमित रूप से चलेगा।

दाय में मिलता है जो इससे अत्यंत निकट था और इसकी केवल कुछ ही बातों के लिए हमें इस्लामी तथा सूफी स्रोतों की ओर ध्यान देना पड़ता है।

निर्गुण मत में वैष्णव संप्रदाय की ही भाँति उन वाममार्गी शाक्त तांत्रिकों के भाव भी लक्षित होते हैं जो मद्य, मांस एवं स्त्री आदि का उपभोग करने को अंतिम सिद्धि का साधन माना करते हैं। कबीर ने शाक्त को एक सोया हुआ कुत्ता कहा है, उनका कहना है कि "कुत्तों के सामने स्मृतियों का पाठ करने से क्या लाभ और एक शाक्त के सामने हरि का गुणगान करने से क्या लाभ? शाक्त और कुत्ता दोनों भाई भाई हैं, एक सोया रहता है और दूसरा भूँका करता है। शाक्त को मर जाने दो और उस संत को ही जीवित रहने दो जो प्याले भर भर कर रामरसायन का पान किया करता है।*"

कबीर के अनुसार शाक्त से एक सुअर भी अच्छा होता है, 'शाक्त से सुअर भला है, क्योंकि वह कम से कम गाँव को स्वच्छ तो रखा करता है, किंतु शाक्त अपने दुष्कर्मों से लदी हुई नाव पर बैठकर स्वयं डूब मरता है।†"

वैष्णवों के प्रति प्रदर्शित उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा शाक्तों के प्रति

---

*—सापित सुनहा दूनों भाई। वो नीदै वो भौंकत जाई ॥३२१॥
क० ग्रं०, पृ० १६३।

का सुनहा को सुमृत सुनाये। का साकत आगे हरिगुण गाये।
साकत मरै संत जन जीवै। भरि भरि राम रसायन पीवै ॥४३॥
वही, पृ० १०२।

†—साकत ते सूकर भला, सूचा राखे गाँव।
बूड़ा साषत बापुड़ा बैसि सभरणी नाव ॥१५॥
वही, पृ० ३६।

प्रयुक्त उक्त कठोर शब्दों के नितांत विपरीत हैं। ये कहते हैं कि, 'ब्राह्मण होने पर भी कोई शाक्त किसी की दृष्टि में न पड़े और एक चांडाल वैष्णव के दर्शनों का सौभाग्य सब किसी को मिला करे। चांडाल वैष्णव को इस प्रकार गले लगाना चाहिए जिस प्रकार स्वयं भगवान् ही मिल गये हों।* 'इन्होंने बबूल के समूचे बाग के बराबर चन्दन का एक छोटा सा टुकड़ा हुआ करता है और इसी प्रकार शाक्तों के समूचे नगर के बराबर वैष्णव की एक कुटिया हुआ करती है।"†

कबीर ने अपने लिए केवल दो साथियों की इच्छा प्रकट की है जिनमें एक वैष्णव है और दूसरा स्वयं राम है। इनके अनुसार राम जहाँ हमें मुक्ति प्रदान करते हैं वहाँ पर वैष्णव हमें नाम का स्मरण करा देता है।"‡

प्रश्न होता है कि क्या कबीर वैष्णव थे? साधारण प्रकार से हम कह सकते हैं कि वे वैष्णव थे, किंतु वे विष्णु या उनके किसी अवतार या मूर्त्ति की पूजा नहीं करते थे, उन्हें वैष्णव नाम देने के मूल कारण का इस प्रकार अभाव था और इसीलिए वैष्णवों के प्रति इतनी श्रद्धा प्रदर्शित करने पर भी इन्हें यह उपाधि नहीं दी गई। कबीर ने निम्नलिखित एक दोहे के द्वारा अपने तथा एक वैष्णव के बीच का मुख्य अन्तर प्रकट कर दिया है।

---

*—साषत बांमण जिनि मिलै, वैष्णौ मिलै चंडाल।
　अंकमाल दे भेटिए, मानो मिले गोपाल ॥१६॥

†—चंदन की कुटकी भली, ना बबूर अँबराउँ।
　वैष्णौ की छपरी भली, ना सापत को बड़गाँउँ ॥१॥

‡—मेरे संगी द्वै जणा एक वैष्णौ इक राम।
　वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम ॥२४॥

पृ० ४६।

चत्रभुजा के ध्यान मे, ब्रजवासी सब सन्त।
कबीर मगन वा रूप मे, जाके भुजा अनंत ॥३६॥
क० ग्रं०, पृ० ६० ।

अर्थात् ब्रजमण्डल के भक्त चतुर्भुजी भगवान के ही ध्यान में मग्न रहते हैं, जहाँ कबीर उस रूप के ध्यान में लगा रहता है जिसकी भुजाएँ अनन्त हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण में इस मौलिक अन्तर के रहते हुए भी कबीर का वैष्णवों के प्रति प्रेम व श्रद्धा प्रदर्शित करना इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है कि वे उनके कितने ऋणी थे।

परन्तु कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि वैष्णव संप्रदाय या भक्तिवाद का उदय, इसकी धारा के उत्तरी भारत में प्रवर्तित होने के बहुत पहले दक्षिण में ईसाई धर्म के प्रभाव में हुआ था। जब निर्गुणमत का ही मूल स्रोत ईसाई विचारधारा का परिणाम हो तब तो उसके कुछ चिह्न इसमें अवश्य मिल सकते हैं। डा० ग्रियर्सन को उत्तरी भारत के धार्मिक आन्दोलन के साथ ईसाई प्रभाव के इस दूरस्थ सम्बन्ध से संतोष नहीं। इसलिए उनके अनुसार "स्वयं रामानन्द ने ही ईसाई प्रभाव के कूप से उस अभिनव जल का भरपूर पान किया था।" किंतु डा० ग्रियर्सन की भाँति,* रामानन्द के बारह शिष्यों में अथवा संतों के जोतप्रसाद' एवं 'शब्द' में क्रमशः ईसा के बारह शिष्य, उसके सस्कार भोज (Sacramental Feast) तथा 'जोहनियन' शब्द का अनुकरण ढूँढ निकालना भ्रमात्मक होगा। डा० कीथ ने इन धारणाओं का प्रतिवाद योग्यता से किया है। केवल संख्याओं की ही समानता के आधार पर किसी परिणाम तक पहुँच जाना सदा निरापद नहीं होता। फ्रेजर ने बतलाया है कि, "उक्त संस्कारभोज' सर्वत्र प्रचलित धार्मिक

*—'जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी' (१९०७) पृ० ३११-३२८।

विधियों में से एक है और इसका पता कदाचित्, प्राचीन वैदिक कर्मकाण्ड में भी मिल सकता है।" और 'शब्द' का भी "अग्रवर्ती 'वाक्य' के सिद्धांत एवं वचन, विचार तथा मन की एकरूपता में पाया जा सकता है"* वास्तव में जैसा बार्थ साहब तथा डा० कीथ ने स्वीकार किया है, "भक्ति का विकास भारतीय क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से हुआ था"†।

फिर भी इस प्रश्न पर विचार करते समय पता चलेगा कि भक्ति वाद पर ईसाई प्रभाव पड़ने के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक के अनुसार दक्षिण भारत में बस गये हुए ईसाइयों के साथ 'टस्साही' ब्राह्मणों का संघर्ष चला और इस प्रकार उन वैष्णव संप्रदायों की सृष्टि हो गई जिनमें उनके लोकप्रिय देवता कृष्ण को कुछ अधिक भव्य रूप प्रदान करने के लिए महान् उत्सर्ग के सिद्धांत‡ का उपयोग करना पड़ा। दूसरे मत के अनुसार ईसाई प्रभाव को आत्मसात् करने के लिए 'टस्साही' नारद मुनि का पाश्चात्य देशों में यात्रा करना बतलाया जाता है। इस दूसरी कल्पना का आधार नारद मुनि की उस यात्रा में मिल सकता है जो उन्होंने, महाभारत के बारहवें पर्व में दिये गये प्रसंगानुसार क्षीरसागर के श्वेतद्वीप में की थी।× इस दूसरे मत के अनुसार कृष्ण को क्राइस्ट या ईसामसीह का प्रतिरूप मानना चाहिए। इसके अनुसार भक्ति मत के अंतर्गत जो कुछ भी अच्छी बातें हैं उनका

---

*—वही, पृ० ४६३।

†—वही, पृ० ४६२।

‡—रे० के० एम० बनर्जी 'डायलाग्स आन हिंदू फिलासफी' पृ० ५१७-८।

×—१२ वां पर्व (श्लो० १२७७६-१२७८२)।

आधार ईसाईमत के स्रोत हैं, किंतु जो कुछ बुराइयाँ हैं "उनके लिए भारत के ही लोग दोषी हैं।"*

उपर्युक्त दोनों ही मत भ्रांतिमूलक धारणाओं पर आश्रित हैं। पहले हम प्रथम मत पर विचार करें। इस मत के प्रतिपादित करनेवालों का यह कहना निरा असत्य है कि वैष्णव संप्रदायों का आविर्भाव सर्वप्रथम स्वामी रामानुज के समय में हुआ था। रामानुज के कई शताब्दी पहले से ही आडवार भक्त सारे दक्षिण के मूलस्वरूप प्रेम-धर्म को अपनी अनुराग भरी भाषा द्वारा प्रचलित करते आ रहे थे। वैष्णव लोग इनमें से कुछ आडवारों के लिए बहुत प्राचीन समय देना चाहते हैं। कहते हैं कि इनमें से सर्वप्रथम आडवार व्यायगइ का जन्म ईसा के पूर्व ४२०२ वें वर्ष में हुआ था।† यद्यपि इतनी दूर तक जाने की आवश्यकता नहीं, फिर भी वे इतने प्राचीन तो अवश्य थे कि उन पर ईसाई सिद्धांतों का कोई प्रभाव न पड़ सकता था।

ईसा की प्रथम शताब्दी में की गई सेंट टामस की भारत यात्रा, एक्टाटामा (Acta thomae) के संदिग्ध प्रमाण पर, आश्रित है और उसका कोई भी ऐतिहासिक आधार नहीं। डा० बर्नेल का मत है कि, यदि कोई भी टामस भारत में आया होगा तो, वह उस मेन्स (Manes) का शिष्य अवश्य रहा होगा जिसकी मृत्यु लगभग सन् २७२ में हुई थी। शिष्यों को भारत में भेजना उक्त मेन्स की एक बहुत बड़ी आकांक्षा की बात थी। उसकी एक रचना का नाम 'A greater epistle to Indians' अर्थात् 'भारतीयों के नाम एक महत्त्वपूर्ण पत्र' है। डा० बर्नेल का कहना है कि भारत में आनेवाले ईसाई

*—वेबर 'कृष्ण जन्माष्टमी' (इंडियन एंटिक्वेरी, १८७४) पृ० २२५ व ४७–५२।

†—ए० गोविन्दाचार्य 'दि आड्वार्स' (भूमिका, पृ० ६०)।

मिशन का प्रधान ऐतिहासिक परिचय हमें उन ईरानियों द्वारा मिलता है जो मनीची (Manichaens) कहे जाते थे।* परंतु ये मनीची भी भारत में उत्साही मिशनरियों के रूप में आये हुए नहीं जान पड़ते। ये कठोर अत्याचार के कारण अपना देश छोड़कर भागनेवाले शरणार्थियों के रूप में ही आए थे। यह तो स्वाभाविक है कि इन मनीचियों ने अपने मत का प्रचार इस नवीन मातृभूमि में करने का प्रयत्न अवश्य किया होगा। परन्तु इस बात का पता नहीं चलता कि इन 'ईसाई' विधर्मियों ने, जिन पर ईसाई देशों में भी अत्याचार किये गये थे, भारत की ओर कभी बढ़े भी थे। जो हो, मयलापुर की ईसाई बस्तियों के विषय में जहाँ तक पता है, (और वही स्थान उपर्युक्त प्रथम मत की प्रधान आधारशिला है तथा उसी के साथ मनीचियों का मूलतः, संबंध भी रहा होगा) "उनमें किसी ऐसी बस्ती का होना सिद्ध नहीं होता जिसमें किसी बड़े धार्मिक आंदोलन को उत्तेजित करने का सामर्थ्य रहा हो।"†

ऐकांतिक धर्म, जिसे मैने इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में, वैष्णव-भक्तिवाद का मूलस्रोत बतलाया है, इन ईसाई बस्तियों के उन अवशेष चिह्नों से निःसंदेह कहीं पुराना है जिनका समय प्राचीन इतिहास के जानकारों ने ईसा की सातवीं शताब्दी में निश्चित किया है। आगे चलकर ऐकांतिक धर्म के केंद्रबिंदु बन जानेवाले कृष्ण का भी समय निश्चित रूप से ईसा की शताब्दी से प्राचीन है। 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' १८७४) में प्रकाशित एक निबंध द्वारा डा० भांडारकर ने बतलाया है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी की रचना पतंजलि के 'महाभाष्य' में कृष्ण की कथा

*—'इंडियन ऐंटिक्वेरी' (१८७४) पृ० ३०८–३१६ (डा० बर्नेल का लेख)।

†—कार्पेन्टर 'थीज्म इन मिडीवल इंडिया', पृ० ५२४।

के प्रसंग मिलते हैं और उनसे पता चलता है कि उस समय के बहुत पहले कृष्ण ने कंस को मारा था तथा पतंजलि के समय में वे एक देवता की भाँति पूजे भी जाते थे। मैं यहाँ पर वहाँ से केवल दो ही उदाहरण दूँगा। पतंजलि इस बात को उदाहृत करते हैं कि किस प्रकार जब कोई घटना बहुत पहले घटी रहती है तो भी, उसका उल्लेख सभी कालों (भूत, भविष्यत् व वर्तमान) में किया जा सकता है। जैसे 'कंस वध' की कथा का रंगमंच पर अभिनय करते समय, उपयुक्त अवसरों पर यह कहा जा सकता है "चलो, कंस का वध हो रहा है" "चलो, कंस मारा जानेवाला है" "जाने से क्या लाभ, कंस का वध तो हो चुका है"* इसके सिवाय, पाणिनि की रचना में दो सूत्र आये हैं जिनमें से एक के अनुसार यौगिक शब्द बनाते समय क्षत्रियों के नामों के साथ 'वन' वा 'अक्' प्रत्यय लगना चाहिए† और दूसरे के अनुसार 'वासुदेव' तथा 'अर्जुन' नामों के आगे उन्हें उन व्यक्तियों के भक्त, अनुयायी या पूजक का अर्थ व्यक्त करनेवाली संज्ञा बनाते समय जोड़ना चाहिए।‡ वासुदेव नाम यहाँ पर एक क्षत्रिय का है और इसके लिए किसी वैसे नये नियम की आवश्यकता नहीं थी। किंतु यहाँ पर पतंजलि का तर्क यह है कि यह नाम केवल एक क्षत्रिय का ही नहीं प्रत्युत एक ईश्वरीय महापुरुष का भी है।+ हमें इस बात के लिए मेगास्थिनिज् का भी प्रमाण मिलता है कि कृष्ण की पूजा ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में भी हो रही थी। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में भागवत धर्म में इतना सजीव आकर्षण था कि विदेशी तक उसे स्वीकार कर लेते थे।

---

*—'महाभाष्य' ३-१-२६।

†—वही, ४-३-६६।

‡—वही, ४-३-६८।

+—'इंडियन ऐंटिक्वेरी' (१८७४) पृ० १६।

इसमें यह बात हेलियोडोरस के संबंध में लागू पड़ती है जो अपने को भागवत कहता है और जिसने ईसा के पूर्व सन् १५० में गरुड़ध्वज नाम का एक स्तंभ भी निर्मित किया था।* ऐकांतिक धर्म जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म दोनों से ही पुराना था और ये दोनों ईसाई धर्म से निःसंदेह प्राचीनतर थे।

दूसरा मत हमें इस बात को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है कि भारत को स्वयं ऐकांतिक धर्म भी ईसाई धर्म से मिला है। ऐकांतिक धर्म एवं कृष्ण का जो ईसा से प्राचीनतर होना ऊपर दिखलाया जा चुका है, किंतु यह भी तर्क किया जाता है कि फिर श्वेतद्वीप (जहाँ पर नारद मुनि ने महाभारत के अनुसार ऐकांतिक धर्म सीखने के लिए यात्रा की थी) श्वेतांग मनुष्यों का ही कोई देश रहा होगा। फिर भी महाभारत में दिया गया श्वेतद्वीप का वर्णन ही इस कल्पना की असम्यकता सिद्ध कर देता है। ग्रंथ के अनुसार श्वेतद्वीप कोई आदर्शनिक प्रदेश है जहाँ के निवासी किसी ऐसी जाति के लोग हैं जो "साधारण पंचेन्द्रियों से रहित हैं," "जो बिना भोजन के ही जीते हैं," जिन्हें पलक मारने की आवश्यकता नहीं पड़ती और जिनके सिर छाते के समान हैं तथा जिनके चंद्रवत् प्रकाशमान शरीर कर्कश व कठोर हैं,"† मैं नहीं समझता कि पश्चिम में कोई भी ऐसा देश है, कम से कम ईसा के जन्म के परवर्ती पृथ्वी पर रहा है, जहाँ के लोग ऐसे होंगे। मुझे जान पड़ता है कि उस प्रदेश आध्यात्मिक अनुभूति के उस स्थान का एक रूपक द्वारा निर्देश करता है जहाँ पर मुक्त आत्माओं का निवास है जो किसी साधक के मेरु (अर्थात् सुषुम्नानाड़ी) तक पहुँचने पर दृष्टिगोचर होने लगता है और जिसके साथ श्वेतवर्ण का भी संबंध स्थापित किया जा सकता है। यदि

*—ल्यूडर्स 'इंस्क्रिप्सन्स ६६६ (एपी० इंडिका० भा० १० अनु०)

†—'महाभारत' बारहवाँ पर्व (श्लो० १२७३६-१२७८२)।

इसे कोई स्थूल प्रदेश ही माना जाय तो, नारायणीयधर्म के प्राचीनतम पीठ, बदरिकाश्रम का नाम, इसका पता लगाते समय, लिया जा सकता है, क्योंकि वही हिम का श्वेतदेश वा श्वेतद्वीप भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार जो बातें कबीर को वैष्णव संप्रदाय द्वारा मिली थीं उनमें ईसाई धर्म के प्रभाव का कोई भी चिह्न नहीं है। यह भी नहीं जान पड़ता कि स्वयं कबीर भी कभी ईसाई विचारों के संपर्क में आये थे। यदि कबीर कभी ईसाई धर्म के संसर्ग में आये होते तो निश्चय ही वे इसे उसी प्रकार खुले हृदय से स्वीकार करते जैसा एक अन्य निर्गुण प्राणनाथ ने, इसके संपर्क में आकर आगे चलकर किया। प्राणनाथ की रचनाओं में बाइबिल के साथ किसी न किसी प्रकार का ऐसा परिचय सूचित होता है जिसने उन्हें इस परिणाम तक पहुँचा दिया कि, यह सत्य केवल ईसाई धर्म के लिए ही अपवाद नहीं कि सभी धर्म मूलतः सत्य हैं और सभी का लक्ष्य भी एक ही है। इसलिए यह बात निर्विरोध रूप से मानी जा सकती है कि निर्गुण पंथ एक विभाजक धारा थी जो वैष्णव संप्रदाय के स्रोतों से फूट निकली थी और जिसके साथ कुछ न कुछ अन्य स्रोतों का भी जल मिश्रित होता गया था। प्रत्यक्ष है कि ये दूसरे स्रोत इस्लाम धर्म व सूफ़ी संप्रदाय के थे।

अब हम उस उपर्युक्त प्रश्न को एक बार फिर भी उठा सकते हैं जिसे लेकर हमने आरंभ किया था—क्या निर्गुण पंथ कोई निश्चित संप्रदाय है? वस्तुतः क्या कबीर केवल एक सारग्राही धर्मोपदेशक थे? हमने देखा है कि पंथ किस प्रकार उस विकास-परक नियम का परिणाम था जो बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा था। परंतु यह विकासपरक नियम भी कतिपय व्यक्तियों की ही सहायता से आगे बढ़ सकता था। यदि प्राचीनतम स्रोतों एवं निर्गुणपंथ के माध्यम बननेवाले व्यक्तियों का हृदय सभी प्रकार के कल्याणकर प्रभावों के लिए खुला न रहा होता तो

इस निर्गुणपंथ जैसी उत्कृष्ट परंपरा के अस्तित्व की आशा किस प्रकार कर सकते थे और उस विकासपरक नियम के सर्वप्रमुख माध्यम होने के कारण कबीर का इसमें भाग लेना भली भाँति समझा जा सकता है। यद्यपि कबीर को अपने सिद्धान्तों की अनेक बातें अपने रूप में उनके गुरु से मिली थीं; फिर भी, क्या अपनाया जाय क्या न अपनाया जाय ? का निर्णय करते समय उन्हें अपने ही विवेक का प्रयोग करना पड़ा था। उन्होंने अपने गुरु-द्वारा प्राप्त सभी बातें नहीं स्वीकार कीं और न उसी भाँति, उन्होंने अन्य प्रकार के प्रभावों का तिरस्कार ही किया। उन्होंने वे सभी बातें नहीं अपनायीं जो उन्हें विशिष्ट जान पड़ीं। सत्य एवं तर्क की उनकी एक अपनी कठोर कसौटी थी। उस परीक्षा में खरी उतर जाने पर कोई भी बात उन्हें मान्य थी चाहे वह किसी भी स्रोत से आई हो। उसमें खरी न सिद्ध होने पर कोई भी बात उन्हें त्याज्य थी और उसका वे पूर्ण विरोध करते थे। इस निष्पक्षता के ही कारण इस पंथ ने सब किसी को सन्तुष्ट किया और इस नियम के अपवाद केवल वे ही व्यक्ति रहे जो किसी दूसरे के अज्ञान अथवा उसके प्रति किये गये अन्याय से लाभ उठाते थे और जो इस प्रकार अज्ञान के गर्त में पड़े हुए थे।

अतएव, परिणाम यह निकलता है—सारग्राहिता का अर्थ यदि सभी हितकर प्रभावों के प्रति हृदय का खुला रखना है और उसके द्वारा भीतर के दोषों का निराकरण तथा बाहर के गुणों का ग्रहण ही उसका लक्ष्य है, तो कबीर पूर्ण सारग्राही थे। परंतु उक्त शब्द से अभिप्राय विचित्र काल्पनिक बातों के लिए उत्साकांक्षापूर्वक प्रयत्न करना और उसके आधार पर एक नितांत नवीन कंथा सीकर तय्यार करना है (और मुझे भय है कि सर्वसाधारण की बोली में सारग्राहिता का तात्पर्य यही समझा भी जाता है तथा इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर उक्त प्रश्न को भी उठाया गया था) तो, न तो कबीर ऐसे सारग्राही थे और न

निर्गुणपंथ ही ऐसे किन्हीं प्रयत्नों का परिणाम था।* कबीर 'वेदांती व वैष्णव, सर्वात्मवादी व परात्परवादी अथवा ब्राह्मण व सूफ़ी पृथक् पृथक् नहीं थे; वे सभी कुछ एक ही साथ थे। अंडरहिल जैसे लोगों को यदि वे 'यह' व 'वह' पृथक् पृथक् दीख पड़ते हैं तो उसका कारण यही है कि कबीर का मत उक्त सभी प्रकार के सिद्धांतों के सार का प्रतिनिधित्व करता था।

२. क्या निर्गुणपंथ सांप्रदायिक है ?

निर्गुणपंथ का प्रवर्तन संप्रदाय के रूप में नहीं हुआ था। इसका उदय ही उस सांप्रदायिकता के विरुद्ध हुआ था जो हिंदुओं के विरुद्ध मुसलमानों तथा उन दोनों धर्मों के अंतर्गत आनेवाले भिन्न-भिन्न संप्रदायों को एक को दूसरे के विरुद्ध लड़ते समय जाग्रत हुआ करती थी। कबीर की यह कभी महत्वाकांक्षा नहीं थी कि वे प्राचीन धर्मों को दबाकर उनके स्थान पर चलाये गये किसी नवीन धर्म के प्रवर्त्तक बन जायँ। उनको यह मान्य था कि प्रत्येक धर्म, चाहे वह सत्य के किसी भी अंश का प्रचारक हो, उसके पूर्ण रूप पर अधिष्ठित रहता है और यदि यथार्थ रूप से अनुसरण किया जाय तो, वह ईश्वर की प्राप्ति में सहायक होता है। जैसा जायसी ने कहा है कि, "परमात्मा तक पहुँचने के लिए उतने ही मार्ग हैं जितने आकाश में तारे तथा शरीर में रोएँ हैं"†। अथवा जैसा टेनिसन का कहना है कि 'परमेश्वर अपनी इच्छा की पूर्ति अनेक प्रकार से किया करता है" कबीर प्रश्न

---

*—अंडरहिल 'वन हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर' (डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर) भूमिका पृ० २।

†—विधना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते॥
—'जायसी ग्रंथावली' पृ० २५३।

करते हैं कि "यदि पथिक विचारपूर्वक न चला करे और विपथ होकर जंगल में जा पड़े तो, मार्ग को भला क्या दोष दिया जा सकता है ?"*

धर्मों के भीतर सांप्रदायिकता के कटु भावों के प्रविष्ट होने के दो कारण हैं। प्रथम यह है कि धार्मिक संस्थाएँ साधारणतः सत्य के पक्ष विशेष को ही अपनाया करती हैं और उतने भर को ही पूर्ण सत्य मान लेती हैं। इसी कारण वे एक दूसरे के मतों का विरोध करने लगती हैं। इसके लिए यह दृष्टांत उद्धृत किया जा सकता है जो निर्गुणियों ने बौद्ध ग्रंथों से लिया है। उसके अनुसार उक्त संस्थाएँ उन अंधों के समान हैं जो अपने हाथों से किसी हाथी के केवल भिन्न भिन्न अंगों को ही स्पर्श कर उसके पूरे शरीर के विषय में कल्पना कर लें।† जिस अंधे को उसके कान स्पर्श करने को मिले उसने उसका रूप किसी सूप के समान समझा, जिसे उसके पैर मिले उसने उसे खंभे के समान माना, जिसने उसके शरीर को स्पर्श किया उसने उसे दीवार जाना और जिसके हाथ उसकी सूँड़ पर पड़ गये उसने उसे सर्पवत् अनुमान किया तथा उनमें से प्रत्येक अपने कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिए लड़ने पर उतारू हो गया। दूसरा कारण यह है कि, उक्त आंशिक सत्य के भी ऐसी लाक्षणिक भाषा में व्यक्त किये जाने के कारण, जिसे उन धर्मों के अनुयायी शब्दशः मान लिया करते हैं, उसका वास्तविक रहस्य उनकी आँखों से पूर्णतः ओझल रहा करता है और वे केवल उस कर्मकांड के ही पीछे लड़ने लगते हैं जो वस्तुतः उस रूपकता का शव स्वरूप रहता है और जिसमें उसका कोई संकेतमात्र भी नहीं रह जाता।

---

*—राह बिचारी क्या करै, पंथि न चलै बिचारि।
आपन मारग छाड़िकै फिरै उजारि उजारि॥ 'बीजक'

†—आंधरो ने हाथि देखि झगरो मचायो है।
—'सुंदर विलास' पृ० १६०।

परंतु निर्गुणपंथ न तो सत्य की किसी पार्श्वगत भावना पर आश्रित है और न यह पूजन पद्धतियों वा कर्मकांड की विधियों को ही कोई महत्त्व देना चाहता है। सत्य के उसी पूर्णरूप को यह अपने लक्ष्य में रखता है जिसके विचार से कोई भी धर्म एक दूसरे का विरोध नहीं करता, वरन् एक दूसरे का पूरक अथवा कभी-कभी उसके साथ अभिन्न तक रहा करता है। इस विशेषता के कारण यह पंथ सभी धर्मों का सारस्वरूप कहा जाता है।* इसी दृढ़ आधारशिला पर कबीर ने एकता के मंदिर की उस अचल भित्ति का निर्माण किया था जो निर्गुणपथ का अंतिम ध्येय है। इस दृष्टि से थियासाफिकल आंदोलन भी निर्गुणपंथ का ही एक नवीन रूप है। निर्गुणपंथ का अनुयायी होने के लिए यह आवश्यक नहीं जान पड़ता कि कोई अपने जन्मगत धर्म का परित्याग करे, क्योंकि कोई भी धर्म स्वतः बुरा नहीं कहा जा सकता; उसके ऐसा होने के लिए वह दृष्टिकोण उत्तरदायी है जिससे उस पर विचार किया जाता है। कबीर ने कहा है कि, 'वेद वा कुरान झूठे नहीं, झूठे तो वे हैं जो उनकी बातों पर विचार नहीं करते।'† उनके संबंध में पंडितों व मुल्लाओं की धारणाएँ ही उन्हें झूठा बना देती हैं, और इसी विपरीत दृष्टिकोण की उपेक्षा निर्गुणी किया करता है। उसका काम धार्मिक विरोधों का साथ देना नहीं, जो सांप्रदायिक भाव रखनेवालों की विशेषता है। दादू कहते हैं, 'हे भाई, मेरा पंथ इस प्रकार का है— इसके भीतर कोई पक्षपात का भाव नहीं, क्योंकि इसका आधार पूर्ण, एक एवं अवर्ण है। हम लोग किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ते और संसार में सबसे न्यारे भी बने रहते हैं।'‡

---

*—'बीजक', पृ० ४८९ व 'कबीर ग्रंथावली', सा० ६, पृ० ३६।

†—वेद कतेब कहेहु मत झूठा झूठा जो न विचारे।
'गुरु ग्रंथसाहब', पृ० ७२७।

‡—'दादूदयाल की बानी' भा० २, पद ६७, पृ० २९।

अतएव, निर्गुणपंथ का सांप्रदायिकता के साथ कोई भी साम्य नहीं। तुलना करने पर निर्गुणियों का मार्ग जो ज्ञान का मार्ग है, सांप्रदायिकों के अंधकार व अज्ञान के मार्ग से नितांत भिन्न जान पड़ेगा। मारवाड़ के दरिया साहब के शब्दों में, "मतवादी, तत्ववादी की बात नहीं समझ पाता, सूर्य के उगने पर उल्लू के लिए अँधेरी रात आ जाती है।"*

परंतु निर्गुणमत के, सांप्रदायिकता के साथ, शब्द एवं भाव दोनों के अनुसार विरोध होने पर भी, इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से पंथ जिनका उदय निर्गुणमत के बड़े-बड़े संतों के उपदेशों के आधार पर हुआ है और जो उनकी स्मृति को चिरस्थायी रूप देना चाहते हैं, वे निरे विधिनिर्वाहक सम्प्रदायों से भिन्न नहीं। यद्यपि उन सत्य के पुजारियों ने कर्मकांड के विरुद्ध आजीवन युद्ध किया था, फिर भी ये उनके नाम-धारी संप्रदाय उग्र विधिनिषेधों के प्रबल समर्थक हो गये हैं।

उदाहरण के लिए कबीर-पंथ को ही लीजिये। इसमें प्रवेश करते समय सब किसी को उस पान के सुगंधित बीड़े का 'परवाना' लेना पड़ता है जिसपर ओस की बूँदों से 'सत्यनाम' लिखा रहता है और परवाने के साथ ही वह मृत्यु के द्वार से होकर परलोक भी जाया करता है। चौका के नाम से इसमें वैष्णवों की 'षोडशोपचार' सात्विक पूजा को स्वीकार किया जाने लगा है। नानक के सिख धर्म में भी स्वर्णमन्दिर एवं अमृत के तालाब को (जिस कारण नगर का भी नाम अमृतसर पड़ गया है) दिव्यता प्रदान कर दी गई है और 'ग्रन्थ' को पूज्य मानकर मूर्तिपूजा का स्थान पुस्तक-पूजा को दे दिया गया है। माला का प्रवेश, इनमें से प्रायः सभी में हो गया और 'नामसुमिरन'

---

*—मतवादी जानै नहीं, ततवादी की बात।
सूरज ऊगा उल्लुआ गिनै अँधारी रात॥

'संतबानी संग्रह', भाग १, पृ० १२९।

भी केवल मनकों की गिनती मात्र हो गया। कई ऐसे पंथों में वर्ण-व्यवस्था भी स्वीकृत कर ली गई है। गरीबदास-द्वारा प्रचलित किये गये पंथ में केवल द्विज ही दीक्षित किये जाते हैं।† अन्य पंथों में भी सामाजिक साम्य के आदर्श के प्रति केवल मौखिक भक्ति का ही प्रदर्शन हुआ करता है।

परिस्थितियों का विपरीत प्रभाव तो यहाँ तक पड़ा है कि जिन विधियों के प्रवर्त्तकों का कभी ध्यान तक न गया होगा उन्हें उनके नामों पर प्रचलित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए ऐसी एक विधि 'गायत्री क्रिया' कहलाती है जिसका कोटवा के सत्तनामियों में प्रचार है और जिसमें मानव शरीर के मलों से तैयार किये गये एक मिश्रण के पीने का विधान है।‡ इस प्रकार की विधियाँ उन प्रभावों का परिणाम हैं जो वाममार्ग-द्वारा बाहर से घुस आई हैं और जिनके विषय में हम आगे भी कुछ चर्चा करेंगे। जान पड़ता है कि उक्त विधि उस अघोर-पंथ की देन है जिसमें ऐसी विधियाँ इस कारण बरती जा रही हैं कि उनके द्वारा हम अपनी इंद्रियों को उनसे घृणित कर्म भी कराकर बिना उद्विग्न हुए वश में ला सकें। इसमें संदेह नहीं कि इंद्रियों को शक्ति-हीन बनाने अथवा उन्हें बलपूर्वक दबाने जैसे कठोर नियमों के तुल्य होने के कारण, यह भी निर्गुणपंथ के आदर्शों के प्रतिकूल है और इसी कारण सत्तनामी संप्रदाय की कोटवा शाखा के प्रवर्त्तक जगजीवन-दास की बानियों में हमें इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु यह बात हम राधास्वामी संप्रदाय के उस आदेश के विषय में नहीं कह सकते जिसमें गुरु की पीक पी जाने की व्यवस्था दी गई है।+

†—फर्कुहर 'आउट लाइन्स आफ दि रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया'। पृ० ३४५।

‡—वही, पृ० ३४३।

+—फिर सब पीक आप पी जावे—
'सारवचन' भाग १ पृ० २३५।

और न उनकी उस विधि के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है, जिसमें गुरु की जूठन या उच्छिष्ट पदार्थों से बने हुए 'जोग प्रसाद' को प्रसाद-वत् ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार की एक विधि वह भी है जो कबीर-पंथियों में प्रचलित है जिसमें गुरु के चरण धोये हुए जल या 'चरणामृत' × का पान किया जाता है अथवा जिसमें कहीं-कहीं वह जल ही रहा करता है जिसमें जीवित गुरु के स्थान पर कबीर की भूली काल्पनिक काष्ठ पादुकाओं का ही जल रहता है अथवा वे गोलियाँ रहती हैं जो इस प्रकार के चरणोदक-द्वारा गूँधी हुई मिट्टी की बनी होती हैं। इन विधियों का आरम्भ गुरु को प्रदान किये गये महत्व के ही कारण हुआ था। गुरु का चरणोदक, उसकी जूठन और उनका थूक तक पवित्र समझे जाते हैं। हाँ गुरु के व्यक्तित्व को इतना पवित्र माननेवाले अकेले निर्गुण-पंथी ही नहीं हैं।

इसी प्रकार हिमालय की पहाड़ियों के डोमों में यह विधि प्रचलित चली आती है कि वे निरंकार के नाम पर सुअरों का बलिदान किया करते हैं और कहते हैं कि इस प्रथा का आरम्भ कबीर के जीवन की किसी पौराणिक घटना से हुआ था। इस विषय के उपाख्यान का सारांश यह है कि एक बार कबीर ने निरंकार के लिए एक टोकरी अन्न और दो नारियल उपहार के स्वरूप में देना चाहा और निरंकार उसे लेने के लिए स्वयं कबीर के घर पर लंगड़े भिखारी के भेष में उस समय पहुँचे जब वे किसी संदेश के प्रचारार्थ कहीं बाहर गये हुए थे। भिखारी ने कबीर की स्त्री से भीख माँगी। किन्तु उसने कहा कि मेरे घर में सिवाय उस एक टोकरी अन्न तथा दो नारियल के और कुछ नहीं है, जो निरंकार

×—हिन्दुओं के यहाँ उस चरणोदक का महत्व है जिसमें मूर्त्ति, पुरोहित वा अतिथि के चरण धोये जाते हैं परन्तु जो अधिकतर किसी 'देवमूर्ति' का ही चरणामृत होता है।

के लिए पहिले से ही समर्पित कर दिया गया है। भिखारी ने उसमें से केवल एक लोटे भर अन्न माँगा, किंतु उसका पात्र पूरी टोकरी के खाली हो जाने पर भी नहीं भर सका और बेचारी स्त्री को दोनों नारियल तक दे देने पड़े। उसे इस बात का भय हुआ कि कबीर लौटने पर इस बात के लिए उसे झिड़केंगे। परन्तु उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उसका घर फिर अन्न से भरपूर हो गया और उसे निश्चय हो गया कि भिखारी स्वयं निरंकार के अतिरिक्त दूसरा कोई न था। वह अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए बाहर आयी, किंतु भिखारी तब तक लँगड़ाता हुआ चला गया था। संयोग वश उसे दिये गये दोनों नारियल किसी अपवित्र स्थान पर गिर पड़े थे और वे एक सुअर तथा एक सुअरी के रूपों में परिणत भी हो गये थे। उसी समय से निरंकार के लिए सुअरों का बलिदान आरम्भ हो गया।

इस उपाख्यान में हमें स्पष्ट दीख पड़ता है कि यहाँ पर जितनी चिंता एक अनुयायी की अपने मतप्रवर्तक के उपदेशों का अनुसरण करने की नहीं है उतनी हिंदू धर्मावलंबियों में से आये हुए किन्हीं ऐसे कबीर-पंथियों की उत्कंठा है जो जन्म से ही मुसलमान कहलानेवाले व्यक्ति के शिष्य होने के नाते अन्य हिंदुओं-द्वारा मुसलमान समझकर तिरस्कृत किये जाने लगे थे और जो अपने को हिंदू मानने के लिए कोई ऐसा कार्य करना चाहते थे जो मुसलमानों की औचित्य भावना के प्रतिकूल पड़ता हो और यह बात भी केवल इसी कारण थी कि ऐसे लोगों में उस अनुभूति की कमी थी जिसके द्वारा कबीर ने हिंदुओं व मुसलमानों की वास्तविक एकता को समझाया था।

इन संप्रदायों ने केवल हिंदुओं तथा मुसलमानों की वास्तविक एकता को ही नहीं भुलाया प्रत्युत उन सिद्धान्तों को भी विस्मृत कर दिया जिनके आधार पर स्वयं वे सब भी निर्मित हुए थे और इसी कारण वे अनेक भिन्न-भिन्न वर्गों के रूप में गिने जाने लगे। एक ही

निर्गुणमत पर श्राश्रित होने पर भी इनमें से प्रत्येक संप्रदाय को इस बात के लिए कोई न कोई चिह्न धारण करना पड़ता है जिससे वे एक दूसरे से भिन्न समझे जा सकें। उदाहरण के लिए कबीरपंथी अपने ललाटों पर सीधी रेखाएँ धारण करते हैं, सत्तनामी अपनी कलाइयों पर धागे बाँधते हैं और सिक्ख अपने पाँच ककारों का पालन करते हैं। जिनमें से 'केश' का अर्थ लम्बे बालों का रखना 'कंघा' से अभिप्राय उसपर कंघे का धारण करना, 'कटार' का अर्थ कटारी को लटकाये रहना, 'कड़ा' से लोहे का एक कड़ा पहनना तथा 'कछ' से एक जाँघिये का धारण करना है, इन निर्गुणपंथियों में से कुछ का इस बात के लिए प्रयत्न करना कि अन्य ऐसे पंथों को पराजित करें और उनके अनुयायियों को अपनी ओर आकृष्ट करें, उनकी इसी सांप्रदायिक भावना का द्योतक है जिसे अधिकांशतः निर्गुणमत पर आश्रित रहते हुए भी इन्होंने उस आध्यात्मिक दृष्टि को खोकर अपनाया था जिसके बलपर उनके पंथों के मूलप्रवर्तक इतने बड़े उदार महापुरुष हो सके थे।

इन मूलतः आध्यात्मिक पंथों के इस प्रकार गिर जाने का कारण यह था कि इनकी आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्रों में व्यक्तिगत विशेषताओं का प्रवेश हो गया और उक्त अनुभूति को स्पष्ट करने के लिए रूपकों से भरी भाषा का प्रयोग करना भी आवश्यक समझा जाने लगा। यदि कोई मनुष्य सत्य का ज्ञान उपलब्ध करना चाहे तो अन्तिम सत्ता का अनुभव करना ही पड़ेगा। बिना ऐसे अनुभव के कोई भी आध्यात्मिक रूपकों का रहस्य नहीं समझ सकता। जब तक वह महापुरुष, जिसके अनुसरण में संप्रदाय उदय होता है, जीवित रहकर अनुयायियों का नेतृत्व करता तथा उन्हें उपदेश देता है तब तक वह संस्था अपने आध्यात्मिक रूप में उन्नति करती जाती है, किंतु उसका देहांत होते ही वह उग्रता धारण करने लगती है। रूपकता का महत्व जाता रहता है और उसका स्थान शुष्क कर्मकांड लेने लगता है।

उदाहरण के लिए कबीर के समझे जानेवाले इस वर्णन को ही

लीजिये—'पूर्णिमा के दिन 'आदि मंगल' का गान कीजिये और गुरुचरणों को स्पर्श करके परमपद की प्राप्ति कीजिये। सबसे पहले अपने (हृदय) को स्वच्छ करके उसे चंदन के लेप द्वारा (आत्मानुभूति की मनोवृत्ति धारण कर) पवित्र कर लीजिये। फिर उस पर नवीन वस्त्रों से बना चँदोवा (परमात्मा की शरण की छाया) खड़ा कीजिये। सतगुरु के लिए आसन लगाइये। उनके चरणों को धोकर उस पर बिठा दीजिये (उन्हें सम्मानित कीजिये) गजमुक्ता (विवेक ज्ञान) द्वारा चौका दिलवाइये। उस पर धोती, नारियल व मिठाइयाँ रखिये। केले व कपूर भी ला रखिये। आठों प्रकार की सुगंधियाँ, पान व सुपारी (प्रेम निवेदन का भाव) मँगा लीजिये। कलश (शरीर) को ईश्वरभक्ति से विभूपित कर वहाँ पर दीपक (ज्ञान का प्रकाश) जलाइये। मृदंग पर ताल दीजिये। अनाहत नाद को जाग्रत कीजिये। अन्य साधुओं के साथ कीर्तन कीजिये। प्रार्थना के अनंतर नारियल (प्रेमोत्थत आत्मा, प्रेम स्मृति वा सुरति) को सुसज्जित कीजिये। उसे पुरुप के प्रति समर्पित कीजिये। सभी उपस्थित व्यक्ति मिलकर उसका आस्वादन कीजिये (उसे प्रेमस्मृति द्वारा अनुप्राणित हो जाइये) तभी आप की वह (मिलन की) भूख मिट सकेगी जो युगों से लगी हुई थी, उसका स्वाद पूर्णरूप से लीजिये। आनंदित हृदय के साथ गुरु को प्रसन्न करने के प्रयत्न कीजिये और तब निश्चय है कि, आप को वह लोक (ईश्वरीयपद, परमपद) मिलेगा।*"

'स्पष्ट है कि यह वैष्णव की पोडशोपचार सात्विक पूजा' के सिवाय

---

*—पूरनमासी आदि जो मंगल गाइए,
सतगुरु के पद परसि परम पद पाइए।
प्रथमै मंदिर झराइ कै चंदन लिपाइए,
नूतन वस्त्र अनेक चंदोव तनाइए॥
तब पूरन गरु हेत असन्न बिछाइए,
गुरु चरन पखालि तहाँ बैठाइए।

और कुछ नहीं है। यदि यह पद कबीर की ही रचना है तो जिस व्यक्ति ने पाखपूजन की निंदा की थी उसने इसका अभिप्राय शब्दशः नहीं लिया होगा। परन्तु उनके कबीरपंथी अनुयायियों ने इसकी रूपकता के उस वास्तविक रहस्य को विस्मृत कर दिया है (जिसे मैंने उपर्युक्त कोष्ठकों में दिये गये संकेतों के सहारे, पद के अन्तर्गत स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है) और इसे एक निरे कर्मकांड का रूप देकर उसका शब्दशः पालन करना चाहा है।

जब इस प्रकार के आध्यात्मिक प्रतीक, विधियों का रूप ग्रहण कर नीचे स्तर पर आ जाते हैं और परमात्मा का मार्ग एक पंथ बन जाता है तो उस समय आध्यात्मिक क्षितिज पर एक नया नक्षत्र उदय होता है और वही उन लोगों का मार्ग-प्रदर्शन करने लगता है 'जिन्हें उसके मिलने' की भूख रहा करती है। फिर उसके भी चारों ओर संप्रदाय संगठित होता है जिसका पतन होने पर इस प्रकार का चक्र पूर्ववत चलने

गजमोतिन की चौक सुतहां पुराइए,
तापर नरियर धोति मिठाई धराइए॥
केरा और कपूर वहुत विध लाइए,
अष्ट सुगन्ध सुपारी मान मंगाइए।
पल्लव कलस सँवारि सुज्योति वराइए,
ताल मृदंग वजाइ के मंगल गाइए॥
साधु संग लै आरति तवहिं उतारिए,
आरति करि पुनि नरियर तवहिं भराइए॥
पुरुष को भोग लगाइ सखा मिलि खाइए,
युग युग क्षुधा बझाइ तो पाइ अघाइए।
परम अनंदित होइत गुरुहिं मनाइए,
कह कबीर सतभाय सो लोक सिधाइए॥

कबीर साहब की बानी, पद २२८ पृ० १८८-९।

लगाता है। इस प्रकार ऐसे महापुरुष के प्रयत्न जो ईश्वर के पुत्रों के दोषपूर्ण तर्क को वस्तुतः समझता है और जो अपने प्रति प्रदर्शित उनकी भक्ति के बंधन को (जिसका असली उद्देश्य उन्हें पृथक् पृथक् न करके भ्रातृभाव के एक सूत्र में ग्रथित कर देने का है) उनके भेदभावों को दूर करने में ही लगाता है, अंत में एक वैसे ही अन्य यंत्र को जन्म दे देता है जैसे पहले से चले आ रहे थे।

उनके साथ-साथ उनके अंधविश्वास भी चले आये जिन्हें वे धर्म नाम देकर अपनाते रहे। वे उन बाहरी प्रभावों से भी अपने को बचा सके जो निर्गुण मत के विरुद्ध पड़ते थे और मानव शरीर के मलों-द्वारा तैयार किये गये प्रेम पदार्थ के पान करने की विधि का कारण भी इसी बात में ढूंढ़ा जा सकता है।

इसके सिवाय हमें एक और बात स्मरण रखनी चाहिए। प्रत्येक बात का सम्बन्ध जिससे हम किसी मानव समाज के हृदय की तह को प्रभावित करना चाहते हैं उन भावनाओं के साथ भी रहा करता है जिन्हें जनता युगों से अपनाये चली आती रहती है। वर्त्तमान प्रचलित बातों के विपरीत जाने के लिए यह आवश्यक होता है कि हम इस बात को भी स्पष्ट करते चलें कि जो कुछ विरोध किया जा रहा है वह वस्तुतः विरोध नहीं, वरन् वस्तुस्थिति को सच्चे ढंग से समझने का प्रयत्न मात्र है। इस प्रकार पुराने प्रतीकों को नया महत्व प्रदान करना पड़ता है और पुरानी बोतलों में नवीन सुरा भरनी पड़ती है। हिंदुओं के शब्दप्रमाण वा श्रुति की प्रामाणिकता का यही रहस्य है। इसीलिए प्रत्येक हिंदू दार्शनिक नवीन सिद्धांतों वा पद्धतियों का निरूपण करते समय भी, एक भाष्यकार के ही विनीत भाव को धारण कर लेता है और उनके लिए श्रुति के प्रामाण्य का दावा करना ही उसके मत को स्थायित्व भी प्रदान करता है।

इसी प्रकार यद्यपि सूफ़ीमत इस्लाम से नितांत भिन्न है, फिर भी उसके सिद्धांतों का स्थायी प्रभाव इस्लामी विचारधारा पर पड़ा है और

सूफी इस समय सर्व सम्मति से मुसलमान फकीरों की परंपरा के अंतर्गत गिने जाने लगे हैं। मुस्लिम मनोवृत्ति के ऊपर इस प्रभाव के पड़ने का कारण यह है कि अद्वैती मर्यादावाद को, वे लोग इस्लाम के विरुद्ध होने पर भी कुरान की पंक्तियों में दर्शा दिया करते हैं। कबीर भी इसी बुद्धिसम्मत मार्ग को ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं जब वे कहते हैं कि, "वेद व कुरान झूठे नहीं हैं, झूठे वे हैं जो उन पर विचार नहीं किया करते। *" क्या ही अच्छा हुआ होता कि कबीर की यह मनोवृत्ति स्थायी रही होती और निर्गुण मत के लिए यह उसी प्रकार एक विशेषता बन गई होती जिस प्रकार यह थियोसोफिस्ट की हो रही है और जिसके कारण थियोसोफिकल आन्दोलन, संसार के भिन्न भिन्न धर्मों को भ्रातृत्व के एक सूत्र में बाँधने के लिए एक स्थायी शक्ति बनता जा रहा है।

परन्तु कबीर ने प्रधानतः दूसरे ढंग से ही काम किया और निर्गुण-पंथ ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। उन्हें इन दोनों अर्थात् हिन्दुओं व मुसलमानों तथा दूसरे धर्मवालों से भी काम था, इसलिए उन्होंने सोचा था कि अपना द्वार सब के निमित्त मुक्त रखने के लिए, उन्हें चाहिए कि वे सभी परस्पर विरोधी धर्मों की परंपरागत मान्यताओं का परित्याग कर दें। इसी आधार पर निर्गुणी सभी धर्मों से अपने लिए अनुयायी आकृष्ट कर सके थे, किन्तु पंथवाले उन पर अपना अधिकार अधिक दिनों तक नहीं कायम रख सके और शीघ्र ही उन विधियों व आचारों के स्तर तक आ गये जिन्हें वे पहले भी अपनाया करते थे।

इसी भाँति शीघ्र उन नये धर्मोपदेशकों का भी आविर्भाव होता है जो पंथ की ही बातों का उपदेश नये नाम देकर दिया करते हैं और इस प्रकार वह चक्र भी चलने लगता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। निर्गुण पंथ के अन्तर्गत, इसी नियम के अनुसार, संप्रदायों का

*—वेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न विचारे।

गुरु ग्रंथ साहब, पृ० ७२७।

एक जमघट सा लग गया। इन्हीं में से कुछ के नाम कबीरपंथ, दादूपंथ, नानकपंथ, कबीर शिष्य जग्गूदास द्वारा प्रवर्तित जग्गापंथ, जगजीवनदास का सत्तनामीपंथ, मारवाड़ी दरिया का दरियापंथ, तुलसी साहब के अनुयायियों में प्रचलित हाथरस का साहिबपंथ तथा शिवदयाल का राधा-स्वामीपंथ हैं। अंतिम दो निर्गुणपंथ की बहुत आधुनिक शाखाएँ हैं।

उपर्युक्त विविधपंथ, पृथक् धार्मिक संप्रदायों के रूप में, निर्गुणपंथ के सिद्धांतों के उतने ही विरुद्ध हैं जितने वे साधारण धर्म जिनकी निर्गुणियों ने भरपूर निंदा की है। इन उपदेशकों ने पहले के अवनत संप्रदायों का परित्याग कर नवीन पंथों की स्थापना की थी किन्तु जब इनमें भी अज्ञान का प्रचार बढ़ने लगा तो इनके भी भीतर विरोध की अभिव्यक्ति दीख पड़ने लगी। सबसे पहली विरोध की ध्वनि तुलसी साहब की सुन पड़ी। यह देखकर कि नये नाम से किसी पंथ का प्रचार करने से भ्रम एवं अज्ञान की वृद्धि हो रही है उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं कोई भी पंथ अपने नाम न चलाऊँगा।* और उन्होंने निर्गुणपंथ के अन्य अनुयायियों से भी सांप्रदायिक मनोवृत्ति का त्याग करने को कहा, किन्तु दैवदुर्विपाक से इनके अनुयायियों ने भी एक पृथक् संप्रदाय चला दिया जिसका नाम साहिबपंथ पड़ा।

उन्होंने विविध संप्रदायों के अनुयायियों को व्यथितहृदय होकर समझाया कि भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी निर्गुणपंथ वस्तुतः एक ही है। "परन्तु तुम उसे समझ कैसे सकोगे? तुम तो नाम के आधार पर चला करते हो। पंथ का अर्थ धर्म वा संप्रदाय नहीं। इसका सीधा सादा अर्थ 'मार्ग' है और कबीरपंथ वह मार्ग है जिससे होकर

---

*—तासे तुलसी पंथ न कीना। जगत भेख भया काल अधीना॥

'घटरामायण' पृ० २३२।

कबीर ने ईश्वरत्व की उपलब्धि की थी। चेलों की किसी परंपरा का स्थापन मात्र कर देना ही पंथ नहीं। यह तो वर्णव्यवस्था का ही अन्य रूप है।"†

कबीरपंथी महंत फूलदास से उन्होंने कहा था कि, "कबीर द्वारा प्रदर्शित मार्ग को तुमने मिटाकर अपने निजी मतानुसार नवीन पंथ चला दिया। जो कुछ कबीर ने कहा था वह आत्मा की मुक्ति के लिए था किन्तु उसके स्थान पर तुमने एक नवीन जाल बिछा दिया।"‡ उन्होंने इस बात का स्पष्टीकरण किया कि किस प्रकार कबीर की समझी जानेवाली रचनाओं में बतलाये गये विधिपरक आदेशों का अभिप्राय सच्चे मार्ग के प्रतिपादन का लाक्षणिक वर्णन मात्र है। "नारियल का फोड़ना या मोड़ना भौतिक मन का मारना और आत्मा का अपने ईश्वरीय स्थान की ओर जाग्रत होकर मुड़ जाना है। चौका का अर्थ पदों को केवल मुख से गाने के लिए एकत्रित होना ही नहीं है, यह वास्तव में, वह स्थिति है जिसमें अंतःस्थित ईश्वरीय स्वरैक्य की प्रतिध्वनि निकलती है। पान का बीड़ा वह हृदय है जो भक्ति के रंग में

---

†—संतमता विधि एकहि जाना। नाम कही विधि आनहि आना ॥
तासे तुमको बूझ न आवे। अनि मनि नाम धरे विधि गावे ॥
पंथ नाम मारग का होई। मारग मिले पंथ है सोई ॥
पंथ कबीर सोई है भाई। कहै कबीर जेहि मारग जाई ॥
ये नहि पंथ कहावें भाई। चेला करि सिख राह चलाई ॥
ये सब जाति पाँति कर लेखा। यासे गुरु सिख तरत न देखा ॥
—वही, पृ० १८४ व १९७।

‡—येहि कबीर जो राह बताई। मन मत अपनी राह चलाई ॥
वही, पृ० १८४।

रँगा हुआ है। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरी बात परमात्मा को प्रसन्न नहीं कर सकती।"×

पलकराम नानकपंथी से उन्होंने कहा था। "तुम नानक के मार्ग का अनुसरण नहीं कर रहे हो। नानक ने तुम्हें कहा है कि तुम उस गुरु का अनुसरण करो जो तुम्हें उस दूसरे वा सत्ता के एकमात्र पद की ओर ले जाय किन्तु इस समय तुम ऐसे गुरु के पीछे चल रहे हो जो तुम्हें ऐहिक बातों की ओर ही प्रेरित करता है। वे तुम्हें आदेश देते हैं कि आत्मा को 'काढ़कर' वा निकालकर उसे 'पर साध' वा परमात्मा में लीन करो किन्तु तुम 'कढ़ाव' भर हलवा (प्रसाद) तैयार करते हो। वे तुम्हें अमृत के उस तालाब में स्नान करने का आदेश देते हैं जिसे योगी लोग मानसरोवर कहा करते हैं। उनका अभिप्राय पंजाब प्रांत स्थित अमृतसर के उस तालाब से नहीं था जिसकी तुम प्रशंसा किया करते हो। उन्होंने मूर्तिपूजा की निन्दा की थी, किन्तु तुम एक बाँस के डंडे की पूजा किया करते हो।"+ तुलसी साहब यहाँ पर उस झण्डे के उत्सव का उल्लेख करते हैं जिसे सिख लोग देहरादून में प्रतिवर्ष अप्रैल के मास में मनाते है। 'तुम मांस खाते हो; किंतु नानक के उपदेशों से ऐसा करना सिद्ध नहीं होता। उन्होंने सिखों की एक शाखा के साहेबजादा लोगों में प्रचलित इस प्रणाली का भी घोर विरोध किया है जिसके अनुसार वे लोग अपनी पुत्रियों को, उनके जन्म समय पर ही मार डालते हैं।

तुलसी साहब के इन विरोधसूचक शब्दों से निर्गुणपंथ का स्वरूप

×—सुरति नारियर मोड़—नरियर ऐसे कबीर बतावे।
मोड़त छिन पद-पुरुष दिखावे—
चौका सोइ साजा, जहाँ शब्द अखडित गाजा।
वही, पृ० २७० व १९०।

+—बावे बाह गुरु बतलावा। तुमने याह गुरु मन लावा.........।

स्पष्ट हो जाता है और यह विदित हो जाता है कि उसका तात्पर्य कोई संकीर्ण सांप्रदायिक रूप कभी नहीं था। किसी सीमित समाज के सदस्य होने की जगह निर्गुणी अपना सम्बन्ध सभी के साथ मानते थे और उन्हें अपना समझते थे। दूसरों का उनके दावे का खंडन करना उनकी उक्त स्थिति में कोई अंतर नहीं लाता। वे सारे विश्व में अपने को विलीन कर देने का दम भरते हैं और इस जगत में आत्मविस्तार की भावना लेकर चलते हैं। जब एक निर्गुणी कहता कि मैं न तो हिंदू हूँ और न मुस्लिम ही हूँ तो उसका अभिप्राय यह रहता है कि उन दोनों में से एक न होने के ही कारण, वह एक प्रकार से दोनों है क्योंकि वह दोनों के ही धर्मसम्बन्धी दुराग्रह से मुक्त है। कालांतर में, जब भारत में ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ तो, निर्गुणपंथ ने दोनों के ही अनुयायियों का स्वागत किया। पन्ना के प्राणनाथ ने जो धामी संप्रदाय के प्रवर्त्तक थे, मुसलमानों, हिंदुओं व ईसाइयों की एकता की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की। निर्गुणियों के मतानुसार मानव समाज को धर्म के नाम पर भिन्न भिन्न वर्गों में विभाजित करना असत्य पर आश्रित है। उसका अपना धर्म सभी प्रकार की वर्ग-भावना से रहित है, उसमें सच्चे धर्म के सभी मुख्य अंश निहित रहते हैं और, धार्मिक दुराग्रह को किसी रूप में न अपनाने किसी भी प्रकार के पार्थक्य की भावना को प्रश्रय न देने तथा जीवन के क्षुद्रातिक्षुद्र अंश को भी अछूता न छोड़नेवाली अपनी विशेषता के कारण, उसका प्रभाव सदा व्यापक व सार्वभौम हुआ करता है।

सुरति काढ़ि पर साधे कोई, तुम कहाव विधि हलवे जोई।
जोगी मानसरोवर राखा, वावे अम्मर सर तेहि भाखा।
जो पंजाब अमरसर गाया, सो वावे नहीं बताया।
इक वह डंड बांस को पूजा, देखो जट संग लगे अबूझा।
घट रामायण, पृ० ३५२, ३५३, ३६१ व ३६३।

षष्ठ अध्याय

अनुभूति की अभिव्यक्ति

आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का साधन यद्यपि अपर्याप्त है और उसके अभिव्यक्त रूप के अभिप्राय को पूर्णतः अवगत कर लेना भी दूसरे के लिए अत्यन्त कठिन है फिर भी उस एकमात्र सत्य के अनुभव के आनंद को अपने भीतर छिपा न सकने के कारण उसका अनुभवी उसे प्रकट करने के प्रयत्नों में लग जाता है और इस प्रकार की चेष्टा में ही उसके भीतर से एक ऐसी काव्यसरिता फूट निकलती है जो सत्य के रहस्य से परिचित होने की अभिलाषा में उसके भीतर पैठनेवालों के लिए एक उद्धारक का काम दे देती है। वास्तव में सत्य की अभिव्यक्ति के लिए काव्य एक स्वाभाविक साधन है। आत्मद्रष्टा की अनुभूति यदि व्यक्त होना चाहे तो वह संगीत की ध्वनि से गुंजित हो उठनेवाले काव्य के रूप में ही प्रकट होती है। कहते हैं कि सेंटपाल किसी के साथ पत्रव्यवहार करते समय भी सत्य के कथन के इस एकमात्र साधन अर्थात् कविता का ही प्रयोग करने लगते थे। * संस्कृत साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञों ने काव्य के आनंद को

१. सत्य का साधन

*—अंडरहिल 'दि लाइफ़ आफ़ दि स्पिरिट ऐंड दि लाइफ़ आफ़ टुडे।' पृ० ४२।

ब्रह्मानंद तुल्य, उसे 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहकर स्वीकार किया है। मम्मट ने जो रस की परिभाषा दी है और जिसे लगभग सभी प्रधान साहित्यज्ञों ने भी अपनी दी हुई परिभाषाओं का मूल आधार माना है वह भी जबतक हम यह न जान लें कि वह उक्त आनंद की दशा के साथ केवल तुलना मात्र के लिए दी गई है, एक आध्यात्मिक पुरुष के ही अनुभव सी समझ पड़ती है। 'शृंगारादिक रसों का आस्वादन, ऐसा जान पड़ता है मानों वह सामने ही स्फुरित हो रहा है, हृदय में पैठता जा रहा है और शरीर के प्रत्येक अंग में सम्मिलित सा होता जा रहा है। वह अन्य सभी विषयों को विस्मृत सा करता हुआ ब्रह्मानंद सदृश अनुपम सुख का अनुभव उपलब्ध करा देता है और इस प्रकार एक अलौकिक चमत्कार का जनक बन जाता है।†

हिन्दू साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञों के अनुसार उच्च कोटि का काव्य निर्माण करने में 'ध्वनि' एक आवश्यक उपकरण का काम देती है। हिंदू साहित्यशास्त्र के भिन्न भिन्न मतों के एक सर्वांगीण पद्धति में संश्लिष्ट हो जाने के पहले ध्वनि-सम्बन्धी मत का एक पृथक् संप्रदाय ही था। फिर सभी मतों को उक्त प्रकार से संयोग हो जाने पर भी ध्वनि किसी न किसी भाव अथवा रस को जागृत करने की क्रिया-द्वारा विद्वानों को अधिकाधिक प्रभावित करती गई और यद्यपि एक मतविशेष के उस अंधविश्वास का आजकल आग्रह नहीं है कि कोई भी सत्यकाव्य बिना 'ध्वनि' के संभव नहीं फिर भी यह माना ही जाता है कि ध्वनि अच्छे काव्य का एक अंग है. ध्वनि को यह महत्व प्रदान करने का कारण

†—पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक चमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः। 'काव्यप्रकाश', उल्लास ४, कारिका २७।

उसकी व्यंजना शक्ति है क्योंकि शब्द का अर्थ इस प्रकार अपने से भिन्न किसी अन्य अभिप्राय का द्योतक बन जाता है। शब्दों का वास्तविक मर्म उनके परे रहा करता है, किन्तु फिर भी वह स्पष्ट रूप में लक्षित होता रहता है। 'रस' के सम्बन्ध में भी सबसे बड़ी बात यही है कि यह स्पष्ट समझ में न आकर केवल व्यंजितमात्र हुआ करता है। इसी प्रकार उस अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभव को भी, जिसे कबीर आदि संतों ने वेदांतियों की भाँति गूँगे का स्वाद बतलाया है, केवल व्यंजित ही किया जा सकता है। गूँगा मनुष्य केवल संकेतमात्र कर सकता है। आध्यात्मिक अनुभूति को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति कबीर के शब्दों में "उस अगम्य, असीम एवं अनुपम तत्व को देखता है, किन्तु प्रयत्न करने पर भी अपने उस अनुभव को प्रकट नहीं कर सकता। मिठाई खा चुके हुए गूँगे व्यक्ति की भाँति वह मन ही मन प्रसन्न होता है। और संकेतमात्र किया करता है।"* दादू ने भी कहा है "कितने ही पारखी प्रयत्न करके थक गये, किन्तु उसका मूल्य निर्धारित नहीं कर सके, गूँगे के गुड़ का स्वाद पाकर उसे प्रकट करने में सभी हैरान हैं।"†

निर्गुण संप्रदाय के संत कवि इसी सांकेतिक भाषा में कथन किया करते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण करनेवाले सभी कवियों को सांकेतिक भाषा की ही शरण लेनी पड़ती है। हमारे युग के दो प्रधान कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा 'यीट्स' भी इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। किसी मरणासन्न महिला का वर्णन करते हुए 'यीट्स' कहते हैं कि

---

*—अविगत अकल अनूपम देख्या कहता कह्या न जाई।
सैन करै मनही मन रहसै गूँगे जानि मिठाई॥
'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९० पद ६।

†—केते पारिख पचि मुए कीमति कही न जाइ।
दादू सब हैरान है गूँगे का गुड़ खाइ॥
बानी, दादू।

"जब उस रमणी की आत्मा अपने निर्दिष्ट नृत्य प्रदेश को उड़ चलती है मेरे पास वाणी नहीं, किन्तु युवाकाल के स्वप्नों के बीच बनी असंस्कृत भाषा या एक संकेत है जिसके द्वारा मैं प्रकट कर सकता हूँ कि उसे प्रत्यक्ष होने दो।‡" यह सांकेतिक भाषा (अथवा पाश्चात्य विद्वानों के शब्दों में वा प्रतीकमयी भाषा जिससे भी ध्वनि का समानार्थक भाव लक्षित होता है) ही सत्य की अभिव्यक्ति को काव्य का रूप प्रदान किया करती है।

मानव जाति के अस्तित्व के लिए प्रतीकवाद की आवश्यकता पड़ती है। मानवजीवन का सारा यंत्र ही अपनी गति के लिए उस पर आश्रित रहता है। धर्म का कर्मकांड सम्बन्धी अंश भी विशुद्ध प्रतीकाश्रित विधियों के सिवाय और कुछ भी नहीं। भाषा भी वस्तुतः एक प्रतीकात्मक उपायमात्र है। "जीवन में प्रतीकों का काम निश्चित, संयत व पुनरभिव्यजनीय बनकर उसे अपनी भाव-भरी शक्ति से भरपूर कर देना होता है। प्रतीकों के प्रयोग-द्वारा वर्ण्य विषय का अभिप्राय उनकी कुछ न कुछ वा सभी विशेषताओं से ओत-प्रोत हो जाता है और इस प्रकार उसे शान्त भाव एवं क्रिया का अंग बनकर इष्ट परिणाम के स्तर तक पहुँचने में सहायता मिलती है।+" परन्तु जैसा हमने देख लिया है प्रतीकवाद की आवश्यकता सबसे अधिक आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ही प्रतीत होती है जहाँ उसे ऐसे अत्यंत सूक्ष्म सत्य को भी स्पष्ट व भावपूर्ण बनाकर प्रकट करना पड़ता है, जो सर्वसाधारण के लिए किसी भी अन्य प्रकार से, बोधगम्य नहीं हो पाता। जीवन के अंतस्तल तक प्रवेश पाये हुए, तथा सूक्ष्म दृष्टिवाले आत्मद्रष्टाओं की प्रतिभा द्वारा अनुभूत सत्य मानव जाति के उपयोग में तभी आते हैं जब उन्हें गहरे रंगो में रंजित एवं पूर्ण सौंदर्ययुक्त प्रतीकों के बने

‡—यीट्स 'अपान् ए डाइंग लेडी' सेक्सन ६।

+—ए० एन० ह्वाइटहेड 'सिम्बालिज्म, इट्स मीनिंग ऐंड इफ़ेक्ट'।

रूपकों का आश्रय मिल जाता है। परन्तु इस सांकेतिक भाषा को समझने के पहले कुछ न कुछ सीखने की भी आवश्यकता पड़ती है। ऐसा न होने पर प्रतीकों का सच्चा मर्म समझने में भूल हो जाया करती है। जिस कारण प्रतीकवाद यथार्थवाद में परिणत हो जाता है और उसके फिर वैसे अनेक दोष आने लगते हैं जैसे हमें कुछ सद्भावपूर्ण वैष्णव संप्रदायों में भी दीख रहे हैं। कबीर ने इसीलिए उपदेश किया है कि सांकेतिक भाषा को जो समझ न सके उससे बातचीत भी न करो। × साधारण काव्य के लिए भी ऐसी शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है।

परन्तु निर्गुणी कवि की योग्यता का मूल्यांकन करने के पहले हमें एक अन्य बात पर भी विचार कर लेना चाहिए। वह यह है कि ये लोग प्रधानतः कवि नहीं थे। काव्य का कलात्मक सृजन उनका निश्चित उद्देश्य न था। ऐसे कवियों से उन्हें घृणा थी जो काव्यरचना को ही अपना कर्त्तव्य माना करते हैं। कबीर ऐसे लोगों को अवसरवादी कहते हैं। * इन्हें किसी सत्य की उपलब्धि नहीं होती। कवि लोग कविता करते हैं और मर जाते हैं। † निर्गुणियों के यहाँ 'काव्य काव्य के लिए' का कोई भी मूल्य नहीं। उनके लिए कविता एक उद्देश्य का साधनमात्र है। वे सत्य के प्रचारक थे और कविता को उन्होंने सत्य के प्रचार का एक प्रभावपूर्ण साधन मान रखा था। वे केवल थोड़े से शिक्षितों के लिए ही नहीं कहते थे; उनका लक्ष्य उन सर्वसाधारण के हृदयों पर अधिकार करना था जो जनता के प्रधान अंग थे। वे उन तक स्थानीय बोलियों के ही सहारे पहुँच सकते थे। संस्कृत और प्राकृत जो धर्मग्रंथों तथा काव्य के लिए भी परिष्कृत भाषाएं समझी जाती थीं उनके सामने

×—'संतबानी संग्रह' भा० १, पृ० ४५।

*—कविजन जोगि जटाधर चले अपनी औसर सारि।

†—कवि कवीनै कविता मूये।

'कबीर ग्रंथावली', पद ३१७ पृ० १९५।

उपेक्षित बन गईं। और प्राकृत भी तो बहुत पहले से ही बोली नहीं जा रही थी। इनसे न तो उनके उद्देश्य की पूर्ति होती थी और न ये उनके लिए सुगम ही थी। न तो संत लोग इन भाषाओं को जानते थे और न जनता ही इन्हें समझ पाती थी। कहते हैं कि ‡ कबीर ने संस्कृत को न बहनेवाला 'कूप जल' तथा देशी भाषा को प्रवाहपूर्ण नदी का जल बतलाया था। जब कभी कोई संत संस्कृत की कविता करने बैठता तो उसके फलस्वरूप एक विचित्र बोली की सृष्टि हो जाती जो हास्यास्पद बन जाती और जिसे नकली संस्कृत कह सकते हैं।+ जिन स्थानीय भाषाओं का उन्हें दुहरी विवशता के कारण, प्रयोग करना पड़ता था वे भी काव्य रचना के लिए वैसी अनुपयुक्त न थीं।

सर्वप्रथम संत कवि के लगभग एक शताब्दी पहले अमीर खुसरो ने मनोहर पद्यों की रचना की थी। जो हिंदी भाषा की सबसे महत्वपूर्ण बोलियों अर्थात् ब्रजभाषा, अवधी एवं खड़ी बोली में थे। परन्तु उन्होंने संभवतः गोरखनाथ का अनुसरण किया था, क्योंकि उक्त पदों में पद्यों में व्याकरण तथा पिंगल के नियमों की पूरी उपेक्षा के अतिरिक्त एक ऐसी अपनी वर्णनशैली भी दीख पड़ती है जिसके कारण वे भद्दे से जान पड़ते हैं। सुन्दरदास जो कदाचित् सभी निर्गुणियों में एकमात्र शिक्षित व्यक्ति थे, उनकी इस साहित्यशास्त्र के प्रति प्रदर्शित उपेक्षा के कारण इतने क्षुब्ध थे कि उन्होंने विवश हो कर कह दिया था, "केवल तभी बोलो जब बोलने की आवश्यकता पड़े, अन्यथा मौन धारण कर बैठे रहो। पद्य-रचना तभी करो जब तुम्हें उन विषयों का ज्ञान हो और

---

‡—संस्कीरत है कूपजल भाषा बहता नीर।

'संतबानी संग्रह' भा० १, पृ० ६३।

+—करमं फलं फूलं भोगियं, पुनि जन्म मरणं।

माला मृत पायं धामं जनउ मुख दायक॥

शब्दावली, भा० १, पृ० २४५।

तुम्हारी पंक्तियों में तुक, छन्द एवं अर्थ की अनुपमता आ सके। गाना तभी गाओ जब तुम्हारा स्वर मधुर हो और कानों के सुनते ही उसे मन भी ग्रहण कर ले। ऐसी बानी की रचना कभी न करनी चाहिए जिसमें तुकभंग एवं छन्दोभंग का दोष हो और जिसमें किसी अर्थ की भी अभिव्यक्ति न होती हो।×

क्या ही अच्छा हुआ होता यदि ये निर्गुणी कवि साहित्यशास्त्र की अधिक चिंता न करते हुए भी, केवल साधारण व्याकरण एवं पिंगल-संबंधी नियमों को ही जानते होते तो थोड़ी सी कलात्मकता से भी इनके कथनों में, चमत्कार की बहुत बड़ी वृद्धि हो गई होती। अपनी वर्तमान दशा में उनकी भाषा कभी-कभी इतनी भद्दी दीख पड़ती है कि जिन लोगों को काव्य एवं भाषा की चमक-दमक को एक साथ देखने का अभ्यास है उनके लिए ये सुन्दर नहीं जँचा करतीं। परन्तु इन आत्मद्रष्टाओं के निकट हमें उनकी अभिव्यक्ति के सौंदर्य के लिए नहीं किंतु भावना-सौंदर्य के लिए जाना उचित है। जैसा कि विलियम किंग्सलैंड ने कहा है "आत्मद्रष्टा का अधिकार सदा भाषा पर न भी रहे, फिर भी हमें चाहिए कि उस सत्य को ही हम ग्रहण करें जिसे व्यक्त करने का वह प्रयत्न करता रहता है और उसकी गूढ़तम सत्ता की अभिव्यक्ति

× —बोलिये तौ तब जब, बोलिबे की बुधि होइ,
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिये॥
जोरिये तौ तब जब, जोरिबे की जानि परै,
तुक छंद अरथ अनूप जामैं लहिये॥
गाइये तौ तब जब, गाइबे को कंठ होइ,
स्रवण के सुनत ही, मन जाइ गहिये॥
तुकभंग छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बाणी नहिं कहिये॥
'संतबानी संग्रह' भा० २, पृ० ११४।

के लिए असमर्थ भाषा पर वैसा विचार न करें। सबसे बड़े कलाकार के समान इस बात को कोई नहीं जानता कि जिन साधनों के द्वारा अपनी कृति प्रस्तुत करनी पड़ती है वे कितने अपर्याप्त हैं और न भाषा के सर्वश्रेष्ठ जानकार के अतिरिक्त इस बात को ही कोई समझ सकता है कि जिस जीवित सत्य से उसकी अन्तरात्मा अनुप्राणित है उसे भाषा कहाँ तक प्रकट कर सकती है।"*

निर्गुणियों में हमें न केवल भाषा की असमर्थता प्रत्युत उसके सुन्दर रूप के प्रति पूरी उपेक्षा भी देखने को मिलती है। परन्तु उनकी बानियों में बाह्य सौंदर्य का अभाव रहता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनमें विषय का सौंदर्य बहुत कुछ रहता ही है। वास्तव में उत्तम काव्य की विशेषता उसके रूप में न होकर उसके विषय से ही सम्बन्ध रखती है। हाँ उसकी पहचान के लिए अभ्यस्त आँखें होनी चाहिए। किसी सरिता के स्वाभाविक सौंदर्य का अनुभव ऊबड़-खाबड़ पर्वत में अवस्थित मूलस्रोत में रहने के कारण बिना कष्ट उठाये नहीं हुआ करता। स्वभावतः पर्याप्त काव्यमय होने पर किसी भाव का ठीक-ठीक अनुवाद अन्य भाषा में नहीं किया जा सकता, किंतु यह मानी हुई बात है कि निर्गुणी कवियों की बहुत सी रचनाएँ अपने मूल रूपों से अधिक सुन्दर अनुवादों में ही जान पड़ती हैं; कारण यह कि अनुवाद करने पर काव्य का केवल सौरभ ही प्राप्त नहीं होता बल्कि उसकी कथनशैली का भद्दापन भी जाता रहता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचना 'वन हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर' एवं तारादत्त गैरोला के 'सांग्स आफ दादू' के उदाहरण इस सम्बन्ध में दिये जा सकते हैं। बात यह है कि उन लोगों ने परंपरागत अंधानुसरण की उपेक्षा सर्वत्र की है। फिर भी उनके प्रचार-कार्य को वैसा ही महत्त्व मिलता है जितना किसी अच्छे काव्य को मिल सकता था। जो जीवन

*—'रैशनल मिस्टिसिज्म', पृ० ६५।

वे स्वयं व्यतीत करते थे उसी से उन्हें अपने प्रचारकार्य की प्रेरणा मिला करती थी और उनकी कविता का चाहे जो कुछ भी मूल्य हो, वह उनके अन्तर्जीवन के व्यक्तीकरण पर ही आश्रित रहा करता है।

संत कवियों की बानियाँ दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं जिन्हें 'साखी' व 'सबद', कहते हैं और ये दोनों शब्द मूलतः पर्यायवाची बनकर ही व्यवहृत होते आये जान पड़ते हैं। मालिक वा गुरु का कथन (शब्द) ही परमात्मा के शब्द का साक्षी (साखी) बन जाता है। परन्तु अब 'साखी' एवं 'सबद' काव्य-रचना के एक निश्चित रूप को प्रकट करनेवाले समझे जाने लगे हैं। 'सबद' का अर्थ आजकल गीत या राग समझा जाने लगा है और 'साखी' का अभिप्राय किसी अन्य प्रकार की छन्दोमयी रचना या दोहे से है। विषय की दृष्टि से इन दोनों में बहुधा कुछ अन्तर भी लक्षित होता है। जैसे 'सबद' का उपयोग भीतरी तथा अनुभव आह्लाद के व्यक्तीकरण के लिए किया जाता है वैसे ही 'साखी' का प्रयोग दैनिक जीवन में लक्षित होनेवाले व्यावहारिक अनुभव को स्पष्ट करने में हुआ करता है। सूफियों की शब्दावली के अनुसार 'सबद' का सम्बन्ध जहाँ 'कुदरत' के क्षेत्र से है वहाँ 'साखी' 'हिकमत' में काम आती है। 'कुदरत' की अभिव्यक्ति 'हक़ीक़त' (सत्य) के उस प्रकाश द्वारा होती है जो मानव के भीतर उसके 'वज्द' (आनंद) एवं 'ज़ौक' (उल्लास) की दशा में अव्यक्त रहा करता है। और 'हिकमत' का उदय अक़्ल (बुद्धि) व हदीस (प्रमाण) की प्रेरणा से हुआ करता है।* साखियों का क्षेत्र इस प्रकार जहाँ व्यवहार तक रहता है वहाँ सबद का लगाव आध्यात्मिक अनुभूति तक से रहा करता है। किंतु फिर भी ये साधारण प्रवृत्तियाँ ही हैं, इनके द्वारा उनका किन्हीं नपे-तुले वर्गों में विभाजित होना नहीं समझा जा सकता और कभी-कभी इनमें से एक दूसरे की जगह व्यवहृत हुआ देखा भी जाता है।

*—'अवारिफुल मारिफ' पृ० १७।

साखियों का संग्रह 'अंगों' या अध्यायों के अनुसार किया गया रहता है और इनके विषय—गुरु, सुमिरन, दीनता, परचा (अनुभूति) जर्णा (स्थिरीकरण), लौ (लय), पतिव्रता, चितावनी, साच, सबद, सूरातन (शूरता), दया, निंदा, हैरान (अर्थात् अपने आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन न कर सकने की विवशता) इत्यादि हुआ करते हैं। (इन अध्यायों के विषय प्रस्तुत ग्रंथ के अन्तर्गत, अपने-अपने उचित स्थानों पर आ गये हैं)। किंतु सबदों का संग्रह विषयों के अनुसार न हो कर उन रागों के आधार पर किया गया रहता है (जैसे रामकली, गौड़ी, धनासरी, बसंत आदि) जिनमें उनकी रचना हुई रहती है।

हिंदी, उस चौपाई लिखने की लोकप्रिय शैली के लिए कबीर की ऋणी है जिसमें दोहे गुंफित रहते हैं। और जो तुलसीदास की रचना 'रामचरित मानस' तथा मलिकमुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' में अपनायी गई है। उनकी 'रमैनी' नाम की रचनाएँ इसी शैली में लिखी गई हैं। अपभ्रंश भाषा की रचनाओं में हमें यह शैली घट्टा (चौपाई) तथा दोहरा के प्रयोगों में अवश्य दीख पड़ती है, किन्तु हिन्दी में यह सर्वप्रथम, नियमित रूप से, कबीर की रचनाओं में ही मिलती है। रमैनी में कई पद होते हैं। प्रत्येक पद का आरम्भ एवं अंत एक-एक दोहे से होता है और बीच में कई एक चौपाइयाँ रहा करती हैं। पदों की संख्या के ही अनुसार रमैनी कई प्रकार की होती है जैसे द्विपदी, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टपदी, इत्यादि। विषय की दृष्टि से रमैनी में कोई न कोई दार्शनिक विवेचन रहा करता है जो बहुत कुछ दूर तक चलता है। फिर भी ऐसी बात नहीं कि, कबीर ने अनेक प्रकार के छन्दों का आविष्कार किया था। उन्होंने परंपरागत छन्दों का ही प्रयोग किया। बहुत लोग इसमें विश्वास करते हैं, किंतु इसके लिए कोई आधार नहीं है।

इन दिनों दयालबाग स्थित राधास्वामी सत्संग के प्रधान 'साहिबजी' ने, निर्गुणियों की साखी, सबद व रमैनी लिखने की साधारण परिपाटी का परित्याग कर तथा मतप्रचार के लिए नाटक को अधिक उपयुक्त

साधन स्वीकार कर, अपनी 'स्वराज्य' नामक रचना प्रस्तुत की है। करते ५ उन्होंने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि राजनीतिक स्वराज की कारण आध्यात्मिक स्वराज अर्थात् शरीर के ऊपर आत्मा के अधिकार द्वारा इसमें संभव हो सकती है। हाँ, संतों से, उनके संत रहते हुए ही, यह आशा नहीं की जा सकती कि वे नाट्यशास्त्र की दृष्टि से कोई उत्तम नाटक लिखने में सफल हो सकेंगे।

२. निर्गुण बानियों का काव्यत्व

प्रत्येक कविता में दो बातें आवश्यक हैं एक हृदय की सचाई और दूसरी कल्पना। आध्यात्मिक कविता पर इस दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ेगा कि वास्तविक सौंदर्य वही है जिसे कवि ने अपने जीवन में स्वतंत्र अनुभव किया है और जिसे वह सर्वसाधारण-द्वारा अनुभूत क्षणस्थायी सौंदर्य के आधार पर व्यक्त किया करता है। केवल इसी रूप में वह उन्हें प्रेरित कर सकता है कि वे अपने स्तर से ऊपर उठें। आध्यात्मिक कविता क्या वस्तुतः सभी कविताएँ दुधारी तलवारें हुआ करती हैं। और उनकी बनावट ऐसी होती है कि वे दूसरों को तभी काट पाती हैं जब पहले अपने हथियानेवाले को ही टुकड़े टुकड़े किये हों, और इसी कारण, जिन पर प्रहार किया जाता है वे उनसे अपने को बचा नहीं पाते। काव्य का काव्यत्व इसी में है कि वह अंत-जीवन को व्यक्त करे। जिसका भाव जीवन में अनुभूत नहीं वह कविता कविता नहीं हो सकती। परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत की गई रचना कविता का बनावटी प्रतिरूप हो सकती है, किंतु उसे काव्य नहीं कह सकते जीवन में जितनी अधिक गंभीरता होगी उतना ही सरल व स्वच्छ उसका व्यक्तीकरण भी होगा। और उसी के अनुसार उसे सच्चा काव्य भी कहेंगे।

निर्गुणी संतों का वह अनुभव जो उनकी सत्ता के अंतर्गत ओत-प्रोत है और जो उनके भावों के निम्न स्तर तक को भी अनुप्राणित करता रहता है, ऐसी धार है जो उक्त हथियानेवाले पर वार करती है

और दूसरी धार उनकी वे प्रतीकात्मक कल्पनाएँ हैं जो या तो साधारण जीवन से ली गई होने के कारण किसी प्राचीन युग की भावपूर्ण मधुर स्मृतियों को जाग्रत करती हैं अथवा ऐसी होती हैं जो काव्य के परम्परागत प्रयोगों में से आये होने के कारण कई पीढ़ियों से दुहराई गई रहती हैं जिनके कारण उनका मनोमोहक प्रभाव सबके हृदय-क्षेत्र पर अनायास पड़ जाता है और उनके न जानने पर भी वे उनके मानसिक व्यापारों का अंग बनकर उन्हें चोट पहुँचाये बिना नहीं रहतीं। पहली धार जहाँ ऐसी कविता को प्रवाह प्रदान करती है वहाँ दूसरी उसे प्रभाव से युक्त कर देती है।

पहले के उदाहरण में दादू का यह भावपूर्ण कथन दिया जा सकता है जिसे उन्होंने अपने एक प्रेम-भरे गीतों के सम्बन्ध में किया है और जो निर्गुण काव्य के विषय में भी लागू हो सकता है। उनका कहना है कि "अपने प्रेमपात्र से मिलने की तीव्र अभिलाषा जाग्रत होने पर मेरे भीतर से रात-दिन गीत अपने आप निकल पड़ते हैं और मैं अपनी पीर को गानेवाले पक्षी की भाँति व्यक्त करने लगता हूँ।"*

यह आप से आप हो जाने की प्रवृत्ति ही—यह दुःखरहित हो जाने की स्थिति, जो बिना इच्छा के वा वस्तुतः बिना दुःखरहित हुए भी प्राप्त हो जाती है—सभी प्रकार की सत्कविता के लिए प्रेरक शक्ति बना करती है। निर्गुण काव्य में वह सावधानी नहीं दीखती जो किसी भी लिखित रचना के लिए आवश्यक है, इसमें असावधानी से की जानेवाली बात-चीत का निर्बाध प्रवाह रहता है और उसी प्रकार उसकी सभी त्रुटियाँ भी रहा करती हैं। ऐसी कविता सचमुच बातचीत के ही रूप में होती

---

*—ऐसी प्रीति प्रेम की लागै, ज्यूं पंषी पीव सुणावै रे।
त्यूं मन मेरा रहै निस बासुरि, कोइ पीवकूं आणि मिलावै रे।।
बानी, पृ० ४१७।

भी थी। संत लोग ऐसे प्रश्नों के उत्तर में गा-गा कर कहा करते थे जो उत्साही शिष्यों वा खोजियों की ओर से किये जाते थे इसी कारण उनकी रचनाओं को 'बानी' वा वचन का नाम दिया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि उनमें भरे हुए भाव गंभीर मनन का परिणाम हुआ करते थे किन्तु उनके माध्यम के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते। उनमें व्यक्त कला 'कलाहीन' होती थी। साधारणतः उन्होंने अपनी रचना को कोई कृत्रिम अलंकार प्रदान करना नहीं चाहा। साहित्यिक कौशल उन्हें पसन्द नहीं था। यमक एवं श्लेष के प्रयोग उन्होंने जान बूझ कर अवश्य किये हैं और उनके द्वारा उन्होंने अपने उपदेशों में कुछ चमत्कार भी ग्रहण किया है, फिर भी उन्होंने अपनी रचनाओं को किन्हीं अन्य अलंकारों से सुसज्जित करने की चेष्टा नहीं की चाहे उन सब के प्रयोग कहीं न कहीं ऐसी रचनाओं में भले ही आ गये हों।† उन्हें इनकी कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि वे उस अलौकिक प्रभाव

---

†—उदाहरण के लिए कबीर कहते हैं कि "वही सुरतान (सुलतान) है जो दो श्वासों (दोनों सुरों) को तानता (अभ्यास करता) है" (सो सुरतान जो दोइ सुरतानै—क० ग्र० पृ० २००) अथवा "झूठे (कलमा) को पढ़कर सच्चे (जीव) को मारनेवाला काजी (सत्कार्य करनेवाला) अकाज (बुरा कर्म) कर बैठता है" (साँचे मारे झूठ पढि काजी करै अकाज—वही पृ० ४२) अथवा "जब यह मन उस मन को (उन्मन का) जान लेता है तब मनुष्य रूप के परे पहुँच जाता है" (जब थै इनमन उनमन जाना तब रूप न रेप तहाँ ले जाना—वही पृ० १५८) अथवा जैसा मलूकदास ने कहा है "वही पीर (गुरु) है जो दूसरों की पीर (दुःख) को समझता है" (मलूक सोई पीर है जो जानै पर पीर संत बानी संग्रह भा० १ पृ० ९९) तुलसी साहब को इस प्रकार का प्रयोग करना बहुत पसंद है।

अथवा अपने हृदय के स्फुरण से अभिभूत रहते थे जिससे सभी प्रकार की कला को प्रेरणा मिला करती है। कबीर का कहना है कि, "मेरा हृदय सैकड़ों कलाओं के आनन्द में मग्न हो थिरकता रहता है।" उन कवियों की रचनाओं में जो कुछ भी अलंकार पाया जाता है वह बलपूर्वक लाया गया नहीं रहता, वह स्वभावतः आ जाता रहता है। यदि ड्राइडन के उन शब्दों में कहा जाय जिनका प्रयोग उसने शेक्सपियर के सम्बन्ध में किया था तो कहेंगे कि, 'वे अपने प्रतीकों को यत्नपूर्वक नहीं लाते थे सौभाग्यवश लाते थे।' सच्चे रहस्यद्रष्टा के लिए तो प्रत्येक वस्तु अपने लिए स्थित न होकर किसी परे की वस्तु के प्रतीक रूप में ही विद्यमान है। इन रहस्यद्रष्टा सन्तों के सभी रूपक व उपमाएँ दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। अपने प्रतीकात्मक मूर्त भावों के लिए उन्हें कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। मथना, हल चलाना, मधु चुआना, बुनना व्यापार करना यात्रा करना, ऋतुओं के चक्रादि सभी दैनिक जीवन के व्यापार उनके काम आ जाते हैं।

निर्गुणियों की काव्यरचना-सम्बन्धी सफलता उनके रूपकात्मक प्रेमसंगीत, विनय तथा आनन्दोद्रेक में देखी जाती है, क्योंकि उन्हीं में उनकी आंतरिक अनुभूति का पता चलता है तथा सौंदर्य, प्रेम एवं सत्य की त्रयी की अभिव्यक्ति भी उन्हीं में होती है। उनमें स्वरैक्य है, रंग है व गति भी है। वे प्रधानतः गीत होते हैं, उनमें गहरी भावुकता होती है और उनकी गति में भी एक प्रकार की दृढ़ता लक्षित होती है। सौंदर्य की ओर अपने ध्यान के सदा बने रहने पर आत्मा भी सुन्दर हो जाती है और उसकी अभिव्यक्ति उन मधुर स्वरों द्वारा होने लगती है जिसे संगीत कहते हैं। भक्त की भावुकता तथा प्रेम के क्षेत्र में गतिशील होना गतिमयी अभिव्यक्ति को आकर्षक बना देता है। सत्य की अनुभूति से एक प्रकार की गति स्वभावतः उत्पन्न होती है जो बहिर्मुखी न होकर अंतर्मुखी रहा करती है जो सभी गतियों के मूलस्रोत अन्तिम शांति में विलीन हो जाती है। फिर इसी से इस

प्रकार की कविता आध्यात्मिक विस्तार के लिए एक शक्तिशाली साधन भी बन जाती है। संगीत के कारण श्रोता के भीतर एक प्रकार के तत्त्वगत एवं नियमित स्फुरण उत्पन्न होते हैं जो उसके भावुक स्वभाव को केन्द्र की ओर पूर्णतः गतिशील बना देते हैं और ईश्वरोन्मुख संगीत की भावप्रवणता के कारण उसके लिए आध्यात्मिक अनुभव का उपलब्ध कर लेना सरल हो जाता है।

परन्तु ज्योंही निर्गुणी आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र से बाहर आता है त्योंही वह एक निरा उपदेशक बन जाता है। निर्गुणकाव्य का एक बहुत बड़ा अंश उपदेशात्मक ही है। कबीर के सिवाय निर्गुण-पंथ के किसी भी अन्य संत ने नैतिक प्रवचन नहीं दिये हैं जो एक सच्चे काव्य के अंग होते हैं। केवल कबीर ने ही अपने उपदेशों को सुन्दर प्रतीकों का पहनावा देकर कभी-कभी सुसज्जित किया है। अन्य संत, काव्य के उच्चस्तर तक पहुँचकर भी कबीर में पायी जानेवाली प्रतीकों की विविधता प्रदर्शित नहीं कर पाते। वे लोग प्रेमात्मक प्रतीकों के अतिरिक्त केवल उन परंपरागत वेदांती रूपकों का ही अधिकतर प्रयोग करते हैं, जो अच्छे दृष्टांत होने पर भी स्पष्ट चित्रों की श्रेणी में नहीं आ सकते। जैसा कहा गया है, कबीर भी सदा काव्य के ऊँचे स्तर तक नहीं पहुँच पाये हैं। उनके पद्यों में केवल कुछ ही ऐसे हैं जो अच्छी कविता के अन्तर्गत आ सकते हैं और जिनमें प्रदर्शित चित्र भी सुन्दर हैं। शेष या तो उपदेशात्मक उद्गार हैं अथवा योग एवं वेदांत के विविध सिद्धान्तों के रूपकों-द्वारा व्यक्त किये गये अंश हैं। इस प्रकार के काव्यों को हम काव्य की दृष्टि से रूपकात्मक नहीं कह सकते। कबीर की प्रसिद्ध उलट-बाँसियाँ भी अधिकतर नियमों के ही रूप में हैं। परन्तु जहाँ कहीं पर वे ऐसी भावनाओं से ऊपर उठ गये हैं वहाँ उनका प्रवेश सच्चे काव्य के क्षेत्र में हो गया है और ऐसी-स्थिति में वे कल्पना के एक विशेष आलोक से विभूषित जान पड़ते हैं। ऐसे समय उनकी कल्पना के अंतर्गत एक ऐसी

विचित्र स्फूर्ति दीख पड़ती है जो साधारण प्रकार की बातों एवं दैनिक जीवन की घटनाओं को आवृत कर लेती है जिसके कारण उनमें विशेष महत्त्व की एक चमक सी लक्षित होने लगती है। कबीर की अंतर्दृष्टि ऐसी थी कि उसकी सहायता से वे प्रत्येक वस्तु के अंतस्तल तक पहुँचने में समर्थ हो जाते थे और क्षुद्र से क्षुद्र बातों व घटनाओं में भी वे महान् सत्य के ऐसे प्रतिबिंब देखने लगते थे जो साधारण व्यक्तियों के अनुभव की बात नहीं है। यहाँ पर एक रूपकात्मक चित्र का उदाहरण दिया जाता है जो बहुत साधारण होने पर भी एक ऊँचे सत्य का प्रतिपादन करता है "एक चींटी अपने मुँह में चावल लेकर चली थी कि उसे मार्ग में दाल मिल गई। वह दोनों को नहीं ले जा सकती। एक को ले जाने के लिए उसे दूसरे को छोड़ना ही पड़ेगा।"* इस महान् सत्य को हृदयंगम कराने का एक आकर्षक ढंग है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं और वह सत्य इस प्रकार है, "भौतिक तत्त्व पर आश्रित आपे के साथ आत्मतत्त्व का संयोग कभी संभव नहीं है। उनमें से किसी एक को तिरोहित होना ही पड़ेगा; दोनों के लिए कोई एक स्थान नहीं है। †"

उनके प्रकृति-निरीक्षण ने भी उनके कवि होने में सहायता की है। जिन चित्रों का निर्माण वे इनके आधार पर करते हैं उनमें कला एवं उपदेश दोनों ही दृष्टियों से एक विशेष प्रकार का सौंदर्य लक्षित होता है। ऊँची से ऊँची शाखाओं के भी पत्तों से किसी वृक्ष को विरहित करनेवाले पतझड़ को वे उस मृत्यु का प्रतीक मानते थे जिसके लिए उच्च व नीच का कोई प्रश्न ही नहीं उठा करता। वे कहते हैं कि "फागुन

---

*—च्यूंटी चावल, ले चली बिच में मिल गई दार।
कह कबीर दोउ ना मिले एकले दूजी डार॥
सं० बा० सं०, पृ० २२।

†—एवेलिन अंडरहिल... (sic) — उन्डरहिल...

†—अंडरहिल: वायस् आफ़ साइलेंस—पृ० १२।

मास को, निकट आता हुआ देखकर जंगल मन ही मन रोने लगा। ऊँची शाखाओं पर लगे हुए जो नये-नये पत्ते हैं वे भी अब क्रमशः पीले ही पड़ते जायँगे" ‡ इसी प्रकार उन्होंने मालिन द्वारा तोड़े जानेवाले नये-नये फूलों का सांसारिक सुखों की क्षणिकता दिखलाने के लिए रूपक बाँधा है जैसे मालिन को आती हुई देखकर फूलों की कलियाँ चिल्ला उठीं और कहने लगीं कि आज उसने फूलों को तोड़ लिया, कल हमारी भी बारी आ जायगी। + फिर "दावानल द्वारा अधजली लकड़ी खड़ी-खड़ी पुकार कर कह रही है कि कहीं लोहार के हाथों न पड़ जाऊँ नहीं तो वह दुबारा जला देगा ÷" का उदाहरण देकर वे उस मनुष्य का वर्णन करते हैं जो सांसारिक प्रपंचों की आँच से दग्ध होने के कारण घबराकर सोचने लगता है कि कहीं मृत्यु का भी भय उपस्थित न हो जाय।

यहाँ पर हम उनके कुछ और ऐसे उदाहरण देते हैं जिनमें उन्होंने जीवन की वास्तविकता की ओर निर्देश करते हुए निर्वेदभरे भावों से पूर्ण चित्र सफलतापूर्वक प्रदर्शित किये हैं। वे कहते हैं कि "बढ़ई को आता देख कर 'वृक्ष काँपने लगा' और कहने लगा कि हे पक्षी मुझे

---

‡—फागुन आवत देखकर वन रूना मन माँहि।
ऊँची डाली पात है दिन-दिन पीले थाँहि॥
क० ग्रं०, पृ० ७२।

+—मालिन आवत देखि करि कलियाँ करी पुकार।
फूले-फूले चुनि लिए कालिह हमारी वार॥
वही, पृ० ७२।

÷—दौ की दाधी लाकड़ी ठाढ़ी करे पुकार।
मति वस पड़ौं लुहार के जालै दूजी वार॥
वही पृ० ७३।

अपने कटने का डर नहीं पर अब तू अपने घोंसले की ओर उड़ जा। ×"
यहाँ पर शरीर (वृक्ष) अधिक अवस्था आ जाने पर आत्मा (पक्षी)
को सचेत कर देता है कि आती हुई मृत्यु (काटे जाने) के लिए खेद
न कर ब्रह्म में लीन हो जाने का प्रयत्न करो। पक्षी के लिए उड़कर
अपने घोंसले में चले जाने का यही तात्पर्य है।

नीचे दी हुई चेतावनी में सूर्य के प्रकाश बिना मुरझाती हुई उस कमलिनी का वर्णन है जिसके चारों ओर उसे जीवन प्रदान करनेवाला जल भरा हुआ है, कमलिनी मनुष्य है, जल ब्रह्मतत्त्व है क्योंकि वही आत्मा के लिए आध्यात्मिक पोषण प्रदान करता है और सूर्य का प्रकाश सांसारिक वैभव के लिए आया है। "हे कमलिनी तू क्यों मुरझाई जा रही है? तेरे निकट तो तालाब का पानी भरा हुआ है? जल से ही तू उत्पन्न हुई थी और उसी में रहती भी है; वही तेरा घर है। न तो तेरे नीचे किसी प्रकार की गर्मी है और न ऊपर से आग ही जल रही है; तेरी लगन किससे लगी हुई है? कबीर का कहना है कि जो जल में मग्न है वह मेरी समझ में मर नहीं सकता।"❀ जो कोई एक मात्र नित्यवस्तु ब्रह्म में लीन हो गया है वह वास्तव में अमर है। और फिर "सन्ध्या के निकट आते ही घने बादल घिर आये, अगुआ जंगल में राह भूल गये और दुलहिन दुलहे से दूर पड़ गई।

×—बाढी आवत देख करि तरवर डोलन लाग।
हमे कटे की कुछ नही पंखेरू घर भाग॥

वही पृ० ७२।

❀—काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरेहि नालि सरोवर पानी॥टेक॥
जल मैं उतपति जल मै वास, जल मै नलिनी तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि॥
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहि मुए हमारे जान॥६४॥

क० ग्रं०, पृ० १०८।

उसके सिर पर चौपर्ता कम्बल पड़ा है और वह जो कभी एक फूल का भी भार सहन नहीं कर सकती थी अपनी सखियों से रो-रो कर बातें कर रही है। कम्बल ज्यों-ज्यों भीगता जा रहा है त्यों-त्यों वह भारी पड़ता जा रहा है।"† परमात्मा यहाँ पर दुलहा है और जीवात्मा दुलहिन है, अन्धकार का आवरण माया है, अगुए पुरोहित हैं, वर्षा सांसारिक दुःख है और चौपर्ता कम्बल वे कर्म हैं जिन्हें सांसारिक दुःखों से बचने की आशा में जीवात्मा किया करती है, किंतु जो नष्ट होने की जगह निरंतर बढ़ते ही जाते हैं और उस जीवात्मा के लिए भार-स्वरूप बन जाते हैं जो कभी अपनी मौलिक शुद्ध दशा में उनसे मुक्त थी।

दाम्पत्यप्रेम जो ईश्वरीय प्रेम का स्थान ग्रहण करता है हमारे इन ज्ञानी कवियों को बहुत पसन्द है। वास्तव में इन प्रेमात्मक रूपकों के गीतों में ही इनके हृदय अपने को पूर्ण रूप से व्यक्त करते हुए जान पड़ते हैं। ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक बनकर दाम्पत्यप्रेम आत्मद्रष्टा कवियों में सब कहीं अपनाया जाता आया है। अंग्रेज कवि 'पैटमोर' ने ईसाई धर्म के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा था, "ईसा मसीह के साथ जीवात्मा का उनकी विवाहिता स्त्री का सम्बन्ध ही उस भक्तिभाव की कुंजी है जिससे युक्त होकर उनके प्रति प्रार्थना, प्रेम एवं श्रद्धा प्रदर्शित होनी चाहिए"‡ मध्यकालीन ईसाई योगी परमात्मा के साथ प्राप्त किये गये

२. प्रेम का रूपक

†—उनइ बदरिया परिगो संझा, अगुवा भूले बन खँड मंझा॥
पिय अंते धनि अंते रहई, चौपरि कामरि माथे गहई॥
फुलवा भार न सहि सकै, कहै सखिन सों रोय।
ज्यों-ज्यों भीजै कामरी, त्यों-त्यों भारी होय॥
'बीजक' रमैनी १५।

‡—कवेंट्री पैटमोर 'मेम्वायर्स' १, १४६ (मिस स्पर्जन द्वारा अपनी पुस्तक 'मिस्टिसिज्म इन इंग्लिश लिटरेचर', में उद्धृत। पृ० ४६।)

इस संयोग को ही आध्यात्मिक विवाह कहा करते थे। और सारा का सारा सूफी काव्य भी इसी रूपकात्मक भावना पर आश्रित है।

हिंदुओं के लिए भी यह भावना नितांत नयी न थी। पुरुष एवं प्रकृति, सांख्य दर्शन के अनुसार विश्व की प्रेमभरी लीला में पुरुष एवं स्त्री के ही प्रतीक बहुत काल से समझे जाते आये। उपनिषदें भी, जिन्हें शुष्क तत्त्वज्ञान का ग्रन्थ समझा जाता है, परमात्मा के साथ जीवात्मा के मिलन की तुलना दो प्रेमियों के आलिंगन के साथ करती हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि "जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रियतमा-द्वारा आलिंगित होने पर, सभी बाहरी या भीतरी बातों को एकदम भूल जाता है, इसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाने पर सभी बाहरी वा भीतरी बातों का ज्ञान खो देता है।*" कृष्ण की प्रेमिका गोपिकाएँ वैदिक ऋचाओं की प्रतीक मानी जाती थीं और उनका प्रेम इतना उग्र था कि भगवान् के साथ अति निकट का संपर्क रखे बिना उन्हें संतोष ही न था। संत आंदाल ने जो एक बहुत प्राचीन आलवार संत कवयित्री थी, अपने गीतों में विष्णु के साथ सम्पन्न हुए अपने विवाह का स्वप्न देखा था।† राबिया जो एक पुरानी सूफी थी रात के समय अपने घर की छत पर चली जाती थी और कहा करती थी कि "हे भगवन् अब दिन का कोलाहल बंद हो गया और प्रेमी अपनी प्रिया के साथ हैं किंतु

---

*—तद्यथा प्रियया स्त्रिया सं परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनांतर-मेव मेवा यं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनांतरम् तद्वा अस्य एतदाप्तकामं आत्मकामं अकामं रूपम्।

बृहदारण्यक ४-३ २१।

†—तामील स्टडीज, पृ० ३२४, तथा कारपेंटर: थीज्म।

पृ० ३८१।

मेरे लिए तूही एकमात्र प्रेमी है।‡ और यह उसकी एक प्रतिरूप ही थी। फ़ारसी भाषा के सूफ़ी कवियों ने प्रेमगाथा को ही ईश्वरीय प्रेम का रूपक बनाया और उसके पीछे इस परंपरा का पालन हिंदी के सूफ़ी कवियों ने भी किया। परन्तु हिंदू कवियों ने इसे कदाचित् तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक सूफ़ियों के संपर्क में आकर कबीर ने तथा उनके अनुयायियों ने इसे महत्त्व नहीं दिया। हम देखते हैं कि उपनिषदों का उद्देश्य जितना रूपकों के आधार पर उक्त सम्बन्ध का वर्णन करना नहीं था उतना अनुभूति के बल पर उसे व्यक्त करना था।

कृष्णभक्त वैष्णव कवियों के यहाँ भी मधुर भाव अथवा प्रेमरस का महत्व देखा जाता है। संत आंदाल की ही भाँति मीराबाई ने भी कहा है 'मेरे लिए तो गिरिधर गोपाल के सिवाय और कोई भी नहीं है। मेरा पति वही है जिसके शिर पर मोरमुकुट है। +" परन्तु कृष्णभक्त हिन्दीकवि कृष्ण के प्रति प्रदर्शित गोपियों के उत्कट प्रेम को अपने धार्मिक जीवन में 'सखी भाव' के रूप में अपनाते हुए उसे स्वानुभूत रूप में नहीं वरन् परानुभूत (objective) रूप में ही वर्णन करते हुए जान पड़ते हैं। वल्लभ संप्रदाय का सिद्धान्त है कि पुरुषोत्तम ही एकमात्र पुरुष है और जो कोई उससे प्रेम करते हैं उन्हें स्त्री समझना चाहिए। × राधावल्लभ संप्रदाय में प्रतीकात्मक भाव और भी स्पष्ट हो गया है। स्वामी हरिदास की उग्र भावुकता ने रूपक को नाटक एवं कर्मकांड का आधार बना डाला है। इसके फलस्वरूप उनके द्वारा प्रचलित किये गये सखी या टट्टी संप्रदाय में

---

‡—एच० डबल्यू० क्लार्क 'दि अवारिफुल मारिफ़' (भूमिका पृ० २)।

+—मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोरमुकुट मेरो पति सोई।
शब्दावली, पृ० २४।

×—'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता', पृ० ५१७।

पुरुष भक्तों को पुरुष नामों के अतिरिक्त कोई न कोई स्त्री-नाम भी रखने पड़ते हैं। फिर भी हिन्दी कविता की कृष्णमयी शाखा में भी मीराबाई के सिवाय अन्य किसी भी कवि में प्रेम का रूपक उतना स्पष्ट नहीं है।

यद्यपि निर्गुण काव्य को प्रेम-सम्बन्धी रूपक सूफियों से ही मिले हैं तथापि सूफी व भारतीय परंपराओं में विशिष्ट अंतर लक्षित होते हैं। फ़ारसी साहित्य में काव्यात्मक वर्णन के लिए साधारणतः स्त्री को रिझाने के लिए पुरुष की ओर से किये गये प्रयत्न ही आधार बनाये जाते हैं, किन्तु भारतीय साहित्य के अंतर्गत स्त्री का पुरुष के लिए प्रदर्शित प्रेम-विरह अधिक विस्तार के साथ निरूपित किया जाता है। फ़ारसी में मजनूँ लैला के लिए आकाश-पाताल एक कर देता है किन्तु लैला उससे उतनी प्रभावित नहीं जान पड़ती; उधर भारतीय नायिका सभी प्रेमकाव्य की पुस्तकों में अधिक कष्ट झेलती हुई देखी जाती है। अतएव यह उपयुक्त है कि फ़ारसी की परंपराओं का अनुसरण करने-वाला सूफ़ी कवि परमात्मा को पत्नी के रूप में प्रदर्शित करे। भारतीय परंपरा का अनुसरण करनेवाले कबीर इसके विपरीत परमात्मा को पति के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि इस प्रकार प्रकट किया हुआ एक व्यक्ति का प्रेम भेंट के रूप में होता है जहाँ परमात्मा-द्वारा अपने जीवों के लिए प्रदर्शित प्रेम स्वभावतः दया का रूप ग्रहण कर लेता है।

निर्गुणी के लिए वही एकमात्र पुरुष है और अन्य सभी उसी एक की पत्नियाँ हैं और उनका कर्तव्य है कि उसे प्रसन्न करने के लिए सब कुछ करें। कबीर ने कहा है, "मैंने उस एकमात्र अविनाशी स्वामी के साथ विवाह कर लिया है।"* दादू का कहना है कि; "हम सभी कोई उस एक पति की पत्नियाँ हैं और उसी के लिए अपना शृंगार किया

*—कहै कबीर हम ब्याहि चले है, पुरिष एक अविनासी।
कबीर ग्रं०, पृ० ८६।

करते हैं।"† नानक कहते हैं कि "सब लोग उस कंत की पत्नियाँ हैं और उसके लिए शृंगार करते हैं"+ और शिवदयाल ने भी कहा है कि "अब दुलहिन, प्रियतम का साथ करो, तुम अपने मैके में हो और वह आकाश में है।"÷

प्रेम की दो दशाएँ हैं जिनमें से एक संयोग की है और दूसरी वियोग की। भारतीय साहित्यिक भाषा में ये क्रमशः 'संयोग' व 'विप्रलंभ' की कही जाती हैं। सूफ़ी फकीर इन शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'विसाल' व 'फिराक़' के प्रयोग करते हैं और निर्गुणियों ने इन्हीं को 'मिलन' व 'विरह' नाम दिया है। निर्गुणियों का 'मिलन' पृथक्त्व की दशा का संयोग नहीं जैसा अनेक सूफ़ियों में देखा जाता है और इसी कारण उसका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं मिलता। वह पूर्णतः लीन हो जाने का भाव है। संयोग के होते ही प्रेमी एवं प्रेमपात्र की सारी विभिन्नताएँ नष्ट हो जाती हैं और खेल समाप्त हो जाता है। यह बात केवल विशिष्टाद्वैती निर्गुणियों में नहीं पाई जाती, जो पृथक्त्व की दशा के संयोग में विश्वास करते हैं; किंतु इन लोगों ने भी उस संयोग का विस्तृत विवरण नहीं दिया है। परात्पर के साथ मिलन की चाह को सूचित करनेवाले 'विरह' का विवरण उनके यहाँ विशद रूप में पाया जाता है। इस विषय से संबंध रखनेवाली कुछ कविताएँ असाधारण रूप से ललित हैं और उनका सौंदर्य मनोहर अभिव्यक्तियों में परिस्फुट

---

†—हम सब नारी एक भरतार, सब कोई तन करै सिंगार।

बानी, (ज्ञानसागर) पृ० २२२।

+—सबे कंत सहेलिया, सगलीआ करहि सिगार।

गुरु ग्रंथ साहब, पृ० २८।

÷—दुलहिन करे पिया का संग,

दुलहा तेरा गगन बसेरा तू बसे नैहर अंग।

सारबचन, पृ० ३७७।

होता है। यह सच है कि निर्गुणियों की कुछ ऐसी भी बानियाँ हैं जिनके ऊपर कुछ दोषदर्शी समालोचक आक्षेप किया करते हैं × किंतु ऐसी कविताओं के भी काव्यगत सौंदर्य की कोई उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रेमिका अपनी विरह-दशा में, दुःख भरे शब्दों के साथ, अपने हृदय के संदेश भेजती है। दादू कहते हैं कि "प्रियतम के वियोग में मरी जा रही हूँ और प्राण अभिलाषा की अतृप्ति में ही निकले जा रहे हैं। =" "हाय, कभी-कभी तो मैं विरह की पीर का ऐसा अनुभव करती हूँ कि यदि मैं प्रियतम को देख न लूँ तो मर जाऊँ। हे सखी, मेरे दर्द की कहानी सुनो। प्रियतम के बिना मैं तड़पा करती हूँ जिस प्रकार मछली बिना जल के छटपटाया करती है उसी प्रकार मैं भी बिना प्रियतम के बेचैन रहती हूँ। प्रियतम से मिलने की उत्कट अभिलाषा में मैं रात दिन पक्षी की भाँति गाकर अपनी पीर प्रकट किया करती हूँ। हाय, कौन ऐसा है जो मुझे उससे मिला देगा? कौन मुझे उसका मार्ग दिखला कर मुझे धैर्य बँधायेगा? दादू कहते हैं कि हे स्वामी मुझे एक क्षण के लिए ही अपना मुख दिखला दो जिससे मुझे संतोष हो।" ⊥ तुलसी साहब का कहना है कि "विरह के कारण पागल बनकर मैं व्याकुल हो रही हूँ और मेरे नेत्रों में आँसुओं की झड़ी लगी है। प्रत्येक क्षण दर्द की टीस जान पड़ती है और मेरी सुधि-बुधि जाती रहती है, नाड़ी का परीक्षक वैद्य मेरे रोग का निदान नहीं कर सकता फिर उसकी दवा से क्या लाभ है? चिनगारी हृदय के अंतस्तल में लगी है उसे कोई शब्द कैसे व्यक्त कर सकता है? तुलसी कहते हैं कि जिसे यह पीर लगती है वही इसे जान पाता है। √" साधारणतः प्रकार से आनंद प्रदान करनेवाली वस्तुएँ भी

×—कबीर वचनावली, भूमिका, पृ० ३७१।

=—तारादत्त गेरोला:—साम्स आफ़ दादू, पृ० १००।

⊥—वही पृ० ५-६।

√—संतबानी संग्रह, भाग २ पृ० २४५।

विरह की दशा में विपरीत प्रभाव डालने लगती है। बुल्ला साहब ने कहा है, "हे प्रियतम, मेरे ऊपर काली घटाएँ घिर रही हैं, सूनी सेज भयंकर जान पड़ती है और मैं विरह की आग से जल रहा हूँ। प्रेम का मार्ग यहाँ है। तुम्हारे चरणों से बँधा हुआ होने के कारण तुम्हें मैं क्षण भर के लिए भी भूल नहीं पाता। बुल्ला तुम्हें बलि जा रहा है और उसका तुम्हारी प्रतीक्षा में उत्सुक रहना बंद नहीं होता।*" प्रेम उस दिन की आशा करता है, "जब मैं उन्हें जिनके लिए मैंने शरीर धारण किया है भरपूर आलिंगन करूँगा।†" वह अपने प्रियतम के लिए प्रत्येक प्रकार की, आग्रह वा अन्य बातों से भरी युक्तियों का प्रयोग करती है वह उससे अनुरोध करती है, और उलाहना देती है, उसके वचन पालन की योग्यता में संदेह करती है और अपने दुःखों का वर्णन करती हुई उसके हृदय को पिघलाना चाहती है। उसका कहना है कि, "हे दीनदयालु जबसे मैंने तुम्हारे विषय में सुना है तब से मेरी दशा ही बदल गई है। तुम्हारा कहला कर मैं और किसकी शरण जाऊँ। मैंने तुम्हारे प्रेम का बाना पहन लिया है और अब तुम्हीं मेरी एकमात्र आशा बने हुए हो। हे मुरारी, तुम जैसा अन्य कोई भी यशस्वी नहीं है और मैं पुकार कर

---

*—देखो पिया काली घटा मोपै भारी।
सुन्नि सेज भयावन लागी मरौं विरह की जारी॥
प्रेम प्रीति यहि रीति चरन लगु, पल छिन नाहि बिसारी॥
चितवत पंथ अंत नहि पायो, जन बुल्ला बलिहारी॥
संतबानी संग्रह, पृ० १७२।

†—वे दिन कब आवेंगे माइ।
जा कारणि हम देह धरी है मिलिबो अंग लगाइ।
क० ग्रं०, पृ० १९१।

कहता हूँ कि यदि मेरी हँसी हुई तो इसमें तुम्हीं हास्यास्पद बनोगे।+" फिर, "हे स्वामी, मेरे घर आ जाओ। मेरा शरीर तुम्हारे लिए कष्ट पा रहा है। सभी कहते हैं कि मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, किंतु मुझे इस बात में आश्चर्य हो रहा है। किस प्रकार का प्रेमभाव तुम मेरे प्रति रखते हो ? जब मैं अभी तक तुम्हारी गोद में कभी नहीं सो पाई। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो मेरे संदेश को हरि तक पहुँचा देगा और उससे कह देगा कि कबीर की दशा अब ऐसी हो गई है कि वह अब तुम्हें बिना देखे जी न सकेगा।÷" "यदि मैं तेरे साथ, मन एवं प्राणों से हिलमिल कर खेलता, यदि तू मेरी इस कामना को पूरी कर देता तो मैं कह देता कि तू सर्वशक्तिमान है।=" "हे मेरे प्रियतम, तू मेरी सेज पर आ जा, मैं तेरी युवती दासी हूँ। मैं तेरी प्रतीक्षा में हूँ और तेरे लिए मैंने सेज सजा रखी है। मेरा हृदय तेरे लिए निछावर है। जब मैं तेरे आँगन में पहुँच कर तेरे दर्शन कर लेती हूँ तभी मेरे जीवन का उद्देश्य पूरा होता है। मुझे अपने मिलन का आनंद दो और अपने दर्शनजनित यश के भागी बनो। तेरे प्रेम ने मुझे पागल बना डाला है, मैं तेरे रंग में रंगा जा चुका हूँ।

+—दीनदयाल सुने जबते तबतें मन में कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ, तुम्हरे हित की पट खैंचि कसी है।
तेरो ही आसरो एक मलूक, नहीं प्रभु सो कोउ दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कही, अब मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है।

सं० वा० सं०, पृ० १०४।

÷—'कबीर ग्रं०, पृ० १९२ (पद ३०७)।

=—हौं जानूँ जे हिल मिल खेलूँ, तन मन प्राण समाइ॥
या कामना करौ परिपूरण समरथ हौ राम राइ॥

वही, पृ० १९१, पद ३०६।

और मैं तेरे ऊपर बलिहारी जाता हूँ।×" "हे मेरे प्राणों से भी प्यारे अब भी मुझसे मिल जाओ। हे दीनदयाल, कृपानिधि मेरे अपराधों को क्षमा करो। मुझे चैन नहीं, और मेरा सारा शरीर व्याकुल है। आँखों से पनारे बहे जाते हैं, मांस जल गया और रक्त सूख गया। हड्डियाँ प्रतिदिन उभरती जा रही हैं। सारी इंद्रियाँ अपने स्वाद को जैसे जुए में हार गई हों। मैं अपने दिन, तेरे मार्ग की ओर दृष्टि लगाये हुए तथा रात, तारों को गिनते हुए, काटा करता हूँ। जिन दुखों को मैं सह रहा हूँ वे वर्णनातीत हैं, किंतु तुझे विदित है कि मेरे भीतर क्या हो रहा है। धरनी कहते हैं कि मेरा जीवन बुझते हुए दीपक की भाँति अस्थिर हो रहा है, अंधकार घिरने जा रहा है, मेरे ऊपर प्रकाश डालो।*"

अपने व्यापक प्रेम-द्वारा अभिभूत होकर विरहिनी सारी सृष्टि को

×—बाला सेज हमारी रे, तूँ आव, हौ वारी रे, दासी तुम्हारी रे,
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुन्दर सेज सँवारू रे, जियरा तुम पर वारूँ रे॥
तेरा अंगना पेखो रे, तेरो मुखड़ा देखो रे, तब जीवन लेखो रे।
मिलि सुखड़ा दीजे रे, यह लाहा लीजे रे, तुम देखे जीजे रे॥
तेरे प्रेम की माती रे, तेरे रंगड़े राती रे, दादू वारणे जाती रे॥
संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० ९४।

*—अबहूँ मिलो मेरे प्राणपियारे,
दीनदयाल कृपाल कृपानिधि, करहु छिमा अपराध हमारे॥ १॥
कल न परत अति विकल सकल तन, नैन सकल जनु बहत पनारे।
माँस पचो अरु रक्त रहित मे, हाड़ दिनहुँ दिन होत उघारे॥ २॥
नासा नैन स्रवन रसना रस, इंद्री स्वाद जुवा जनु हारे।
दिवस दसों दिसि पंथ निहारत राति विहात गनत जस तारे॥ ३॥
जो दुख सहत कहत न बनत मुख, अंतरगत के हौ जाननिहारे।
धरनी जिव झिलमिलत दीप ज्यों होत अँधार करो उजियारे॥ ४॥
वही, पृ० १२६।

अपने रंग में ही रँगी हुई पाती है। परमात्मा से मिलने की उत्कंठा में ही नक्षत्र अपने-अपने चक्रों पर घूम रहे हैं और अपने प्रियतम के प्रेम की ही वे प्रदक्षिणा कर रहे हैं। सारा विश्व उसे प्रसन्न करने के लिए बेचैन है और इसी के निमित्त उसके चरणों में अपने को अर्पित कर देना चाहता है। नानक कहते हैं "आकाश के थाल में सूर्य एवं चंद्रमा दीपक बने जल रहे हैं और नक्षत्रगण मोतियों के समान बिखरे हुए हैं। मलयपर्वत की ओर से आता हुआ अनिल धूप का काम देता है, हवा चमर डुला रही है और वृक्ष अपने सुन्दर-सुन्दर फूलों को उपहार में लेकर खड़े हैं। अनहद नाद की भेरी बज रही है। विश्व तेरे समक्ष क्या ही भली आरती कर रहा है!"† दादू ने भी कहा है कि, "सूर्य और चन्द्रमा तेरी आरती कर रहे हैं; पृथ्वी, वायु व आकाश तेरा पूजन कर रहे हैं, सभी तेरी सेवा में लगे हुए हैं, हे मेरे निरंजन देव।‡"

विरह की आग एकबार प्रज्ज्वलित हो जाने पर फिर बुझना नहीं जानती। ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ पर यह वर्तमान न हो। प्रत्येक वस्तु, जिसे आग का बुझनेवाला समझ कर कोई व्यक्ति अपनाना चाहता है वह स्वयं जल उठता है, इसे बुझा नहीं पाता। कबीर का कहना है कि "विरह की आग से जलती हुई जब मैं तालाब के निकट जाती हूँ तो मुझे देखते ही वह स्वयं जलने लगता है। हे संतगण, मैं

---

†—गगन में थाल रविचंद दीपक बने तारका मंडल जनक मोती।
धूप मलयानिलो पौन चौरो करे वनराइ फूलंत जोती।
कैसी आरति होइ भवखंडना तेरी आरती अनहता बाजत भेरी।
गु० ग्रं० पृ० ७०८।

‡—चंद सूर आरति करै, नमो निरंजन देव।
धरनी पवन अकास अराधैं, सबै तुम्हारी सेव॥ दादू॥
पौड़ी हस्तलेख, पृ० १०६।

इसे अब कहाँ जाकर बुझाऊँ ?+" फिर "प्रेम की ज्वाला से जलती हुई मैं दुःखित हो रही हूँ। मैं पेड़ों की छाया में इसलिए नहीं जाती कि कहीं वे भी जल उठेंगे।×"

परमात्मा के प्रेमी का विरह-संदेश इतना करुण है कि वह दूसरों के हृदयों को दुखित किये विना नहीं रहता। प्रेमिकाओं के संदेश साधारण संदेश नहीं। प्रेमिका अपने प्रेमपात्र में अपनी सारी आत्मा उँडेल देती है और वह शरीरधारी आत्मत्याग सा दीखने लगता है। कबीर कहते हैं कि, "मैं अपना शरीर जलाकर उसकी स्याही से 'राम' को पत्र लिखूँगा। मेरी हड्डियाँ मेरी लेखनी का काम देंगी और इस प्रकार मैं उसे प्रेमपत्र भेजूँगा।÷"

यद्यपि अपने प्रियतम का हृदय द्रवित करने के लिए प्रेमिका उसके निकट अपने दुःखों को प्रकट करती है। फिर भी उसे तब तक शांति नहीं जब तक वह उसे स्वयं उपलब्ध न हो जाय। प्रियतम की अनुपस्थिति में उसकी विरहपीर ही उसे सांत्वना प्रदान करती है और उसे वह अपने हृदय में सुरक्षित रखा करती है। इस कारण जितना ही वह कष्ट झेलती है उतना ही वह उसे अपनाया करती है। कबीर कहते हैं कि, "मैं विरह की आग में जलनेवाली लकड़ी हूँ और बहुत धीरे-

---

+—विरह जलाई मैं जलौ, जलती जलहरि जाउँ।
मो देख्यां जलहरि जलै, संतौ कहां बुझाउँ॥ (३९)
क० ग्रं०, पृ० १०।

×—विरह जलाई मैं जलौं मो विरहनि के दूख।
छाँह न बैसौं डरपती, मति जलि ऊठै रूख॥ ४६॥
वही, पृ० ११ (टि०)

÷—यहु तनु जालौं मसि करौं, लिखौ राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥ १२॥
वही, पृ० ८।

धीरे धूमिल होती रहती हूँ। यदि मैं इस प्रकार जल जाऊँ तो विरह भी जाता रहेगा।*" फिर "इस शरीर को जलाकर मैं कोयला कर दूँगी, जिससे इसका धुँआ आकाश तक पहुँच जाय, किंतु कहीं ऐसा न हो कि राम मेरे ऊपर कृपा करके इस पर वर्षा करने लगें और यह बुझ जाय।†"

प्रत्येक वस्तु, जिसके द्वारा प्रेमिका अपने प्रियतम के प्रति प्रेम का दूरस्थ सम्बन्ध दृढ़ करती है, उसके लिए प्रिय बन जाती है। यदि उसका शरीर जलानेवाली आग का धुआँ उसके प्रियतम तक पहुँच जाय तो इस बात से भी उसे शांति मिल जाती है। अधिक से अधिक कष्ट झेलती हुई भी वह कभी निराश नहीं होती। उसका हृदय सदा प्रेम की आशावादिता के कारण उद्दीप्त रहा करता है। उसे अपने स्वामी में पूर्ण विश्वास है और वह जानती है कि मेरी सरल व निर्दोष प्रार्थनाओं-द्वारा वह कभी न कभी मिल ही जायगा। पलटू का कहना है कि, "मैं अपने प्रियतम को यह समझा बुझाकर शीघ्र मना लूँगी कि सेवकों से सैंकड़ों अपराध हो जाया करते हैं।+"

आनंद एवं भय के मारे धड़कते हुए हृदय के साथ वह अपने प्रियतम से मिलने की प्रतीक्षा करती रहती है। उसके जीवन की इस महती अभिलाषा के साथ-साथ एक त्रास भी बना रहता है और वह

---

*—हौं र विरह की लाकड़ी, समझि समझि धुधुआउँ।
छूटि पड़ौं या विरह तै, सारीही जलि जाउँ॥ ३७॥
क० ग्रं०, पृ० १०।

†—यह तन जालौं मसि करौं, ज्यौं धूवाँ जाइ सरगि।
मति वै राम दया करैं, वरसि बुझावै अग्गि॥ ११॥
वही, पृ० ८।

+—अपने पिया को मैं वेगि मनैहौं सो तकसीर होत प्रभु जन से॥
सं० बा० सं०, पृ० २२१।

उचित नहीं। १" वह भीतर ही भीतर बेचैन रहती है, किंतु अपनी कृत्रिम लज्जा का परित्याग नहीं कर पाती। पर्दे का हटना तभी संभव है जब परमात्मा स्वयं दयापूर्वक उसके निकट, अनजान में, आ जायँ और नदी तट पर उसके एकांत, शीतल और सुगंधिमय स्थान के कारण, मिलन के लिए उत्साहित बनी हुई, उस प्रेमिका का घूँघट स्वयं अपने हाथों से उठा दें। २ यही भक्ति भाव से भरी मनोवृत्ति के लिए उपयुक्त भी है। यद्यपि भक्त को उस माया (अपने पर्दे) को हटाने के लिए प्रयत्न करने पड़ते हैं जो उसके एवं भगवान् के बीच खड़ी रहती है, फिर भी भगवान् की कृपा के द्वारा ही वह दूर की जा सकती है।

यद्यपि निर्गुणी संतों के प्रेम-रूपक कभी-कभी शृंगार भाव तक पहुँचते हुए जान पड़ते हैं फिर भी उससे उनके चित्त का विपर्यय नहीं सूचित होता। वे अपनी कल्पना के लिए वह स्वेच्छाचारिता नहीं चाहते जिसे कई एक बनावटी संतों ने अपनी संभोगपरक अभिलाषा को छिपाने के लिए, आवरण बना रखा था। उमरखय्याम की रुबाइयों में ऐसी कोई भी बात लक्षित नहीं होती, जिससे उसके मद्य एवं कामिनी को हम उनके उसी रूप में सिद्ध न कर सकें। किंतु यही बात निर्गुणी कवियों के संबन्ध में भी नहीं कही जा सकती। इनके शृंगारात्मक प्रतीकों से—यदि उन्हें शृंगारात्मक कहा जा सकता है—केवल यही सूचित होता है कि ये परमात्मा को एकांत भाव के साथ चाहते हैं और यही एकमात्र आधार उस विशिष्ट चेतना के लिए भी है जो आत्मद्रष्टा लोगों की विशेषता है। अपने प्रेम संगीत के स्वरूप पर ही टिप्पणी करते

१—घूँघट का पट खोल रे, तोको पीव मिलेंगे॥—(कबीर)
सं० बा० सं०, भा० २, पृ० १२।

२—नदिया किनारे बालम मोर रसिया दीन घूँघट पट टारि॥
वही, पृ० ६।

हुए कबीर ने कहा है "कि मैंने अपने शब्दों में आत्मोपलब्धि के साधनों का सार देकर उसकी व्याख्या की है।*" एक सौंदर्य के रहस्यवादी का जो स्त्रियों की मनोमोहकता में भी ईश्वरत्व के दर्शन करता है हम केवल यही कह सकते हैं कि "वह एक तेजस्वी देव है जिसके हृदय एवं मस्तिष्क विशाल हैं और जो केवल सौंदर्य का ही प्रेमी है (वह सौंदर्य जो प्रत्येक प्रकार के रूप व चित्र में पाया जा सकता है)।†" निर्गुणी कवि. कीट्स कवि के साथ-साथ कह सकते हैं कि 'सौंदर्य की वस्तु सदा आनंदप्रदायक होती है,' परन्तु सौंदर्य उनके लिए बाह्य आकृति के अनुपातों में न होकर उस वस्तु की सुसंगति में पाया जाता है जिसे टेनिसन ने 'चित्त' अर्थात् आत्मा कहा है। हृदय के सौंदर्य से विहीन रूप-सौंदर्य की वे निंदा करते हैं। 'सोने के बर्तन में भी भरी हुई मदिरा की साधु लोग निंदा ही किया करते हैं।+" उनका लक्ष्य सदा नियमित व संयत जीवन का रहा है। जब आगे चलकर, काव्य में मुगल दरबारों की विलासिता की प्रतिध्वनि सुन पड़ने लगी और हिंदू करद सामन्तों के यहाँ भी उनके अनुकरण की होड़ लग गई तथा स्त्रियों के नखशिख की चर्चा प्रतिदिन का कार्य बन गई तो उन्होंने इसके विरुद्ध सर ऊँचा किया। इस प्रकार की कविता केवल निम्नस्तर के मनोविचार जाग्रत करने का साधन मात्र थी। सुन्दरदास ने उसे अस्वास्थ्यकर असंयम ठहराया

---

*—तुम्ह जिन जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार रे।
केवल कहि समझाइया, आतमसाधन सार रे॥
क० ग्रं० पृ० ८९ पद ५।

†—A glorious Devil, large in heart and brain.
That did love beauty only (Beauty seen
In all varieties of mould and mind)—Tennyson.

+—सोवन कलस सुरै भरथा, साधू निंधा सोइ।
क० ग्रं०, पृ० ४८।

और केशवदास की 'रसिकप्रिया' तथा स्वयं अपने नामधारी व सम-सामयिक कवि सुंदररायकी 'रसमंजरी' एवं 'सुन्दर शृंगार' जैसी रचनाओं का प्रतिषेध किया।×" निर्गुणी लोग उन अनर्थकारी बातों में नहीं पड़ते जिन्हें 'फासेट' के अनुसार, 'पश्चिमी देशों के शृंगारोन्मत्त संत एवं धार्मिक श्रद्धालु' जन, भक्तिमान्, आत्मद्रष्टा के रूप में, अपनाया करते हैं।÷" भारत में भी शृंगारोन्माद की प्रतिध्वनि तंत्रानुयायी शाक्त रहस्यवादियों तथा अन्य कतिपय संप्रदाय के लोगों में सुनी जाती रही है।

तांत्रिक शाक्त सम्प्रदायों ने तो औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर दिया। उन्होंने केवल स्त्रियों से यह सीखने का उपदेश ही नहीं दिया कि हमें प्रेम, प्रतिष्ठा एवं अपने आप को भी किस प्रकार अर्पित कर देना चाहिए, प्रत्युत साधकों को अनुचित प्रेम करने की भी शिक्षा दे दी। कारण यह कि उनकी स्थूल दृष्टि के अनुसार अपनी पत्नी की ओर से किसी प्रकार के पातिव्रत भंग करने का तो, इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। बंगाल में आज भी सहजिया संप्रदाय इस बात का जीता-जागता उदाहरण है। सहजिया लोगों का विश्वास है कि उक्त सम्प्रदाय के अनुयायियों का परमात्मा के प्रति जैसा उत्कृष्ट प्रेम होना

×—रसिकप्रिया रसमंजरी और सिंगारहि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आनि॥
विषै बनाई आनि लगत विषयिन कौ प्यारी।
जागै मदन प्रचंड सराहै नख शिख नारी॥
ज्यों रोगी मिष्टान खाइ, रोगहि विस्तारै।
सुंदर यह गति होइ, जो रसिक प्रिया धारै॥ ५॥

'सुंदर विलास,' पृ० ५२।

÷—'डिवाइन इमर्जिंग,' पृ० ६३।

लिए वह केवल उन गुप्त प्रेमियों में ही सम्भव है जिनके सम्बन्ध में अनौचित्य एक आवश्यक अंग रहा करता है।

कहा जाता है कि इस प्रकार का प्रेम कभी-कभी लाभदायक सिद्ध हो जाता है। 'डिवाइन कमेडिया' नामक प्रसिद्ध काव्यग्रंथ, उस प्रेम-द्वारा ही अनुप्राणित रहा जिसे, उसके रचयिता इटालियन कवि दान्ते ने अपनी प्रियतमा विट्राइस के प्रति, उसे दूसरे की पत्नी हो जाने पर भी अपने हृदय में संचित कर रखा था। जर्मन कवि गेटे की भी बहुत सी कविताएँ उसकी कामुकता का ही फलस्वरूप थीं। वे गोपियाँ भी जिनमें राधा सबसे प्रमुख थी और जो वैष्णवों के अनुसार भक्तों की दृष्टि में रखी जाने के लिए, आदर्श रूप थीं, परकीया ही थीं।

परन्तु निर्गुणियों को, कबीर के अनुसार, इस बात में स्वभावतः विश्वास था कि, "परमात्मा, यदि चाहे तो, अन्य पापों को क्षमा भी कर सकता है, किंतु कामुक का समूल नष्ट हो जाना निश्चित है।*" इसी कारण वे उक्त प्रकार के दुराचार का कभी समर्थन नहीं कर सकते थे और न उन्होंने किया ही है। अपने प्रतीकों का आधार, उन्होंने उस पूर्वराग के आदर्श को स्वीकार किया है जो किसी कामिनी के हृदय में अपने प्रियतम के गुणों को श्रवण करने पर उत्पन्न होता है और जो अपनी प्रगाढ़ता के ही कारण उसे उसके निकट आकृष्ट कर दोनों के परिणाम के सूत्रों द्वारा जा जोड़ता है। निर्गुणी संतकवि, अपनी अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो जाने के कारण, ऐसी कल्पना के स्तर तक उठ जाता है जो चित्र के साथ-साथ पवित्रता के गौरव से भी युक्त रहती है। अपने एक प्रेमगीत के स्वरूप को प्रकट करते हुए कबीर ने कहा है कि, "मैंने अपने शब्दों में आत्मोपलब्धि के साधनों का सार देकर

---

*—और गुनह हरि बकससी कामी डार न मूल।

क० ग्रं०, पृ० ४० (सा० १७)

उसकी व्याख्या की है।"† उनका प्रेम जैसा कि हम व्यवहार में भी पाते हैं, खोज के उस सच्चे मार्ग का प्रतीक है जिसकी परिपुष्टि इंद्रिय-वृत्तियों द्वारा हुआ करती है। कबीर कहते हैं कि, "हे सखी, प्रियतम के साथ मिलने के लिए उत्कंठित हो रही हूँ। मेरे यौवनकाल में विरह मुझे सता रहा है और मैं अब ज्ञान की गली में इठलाती हुई चल रही हूँ, जहाँ पर मेरे सतगुरु ने मुझे उस प्रियतम का प्रेमपत्र भी दे दिया है।+" कबीर ने एक दूसरे स्थल पर भी कहा है कि, "प्रियतम के मिलन की चाह पर ही सब कुछ आश्रित है। मैं तो चाह का ही दास हूँ।÷" तथा "वह उस चाह के ही आनन्द में मग्न रहा करता है।×"

४. उल्टवासियाँ आदि

आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण साधक को कभी-कभी परस्पर विरोधी उक्तियों द्वारा व्यक्त करने का ढंग अपनाना पड़ता है जैसे चन्द्रविहीन चाँदनी, सूर्यविहीन सूर्य प्रकाश, और इसके आधार पर ऐसे गूढ़ प्रतीकों की सृष्टि हो जाती है जिन्हें 'उल्टवासी' वा 'विपर्यय' कहते हैं। जब सत्य की अभिव्यक्ति बिना इन परस्पर विरोधी कथनों के सहारे, नहीं हो पाती तो, उसे आवश्यक सत्याभास कह सकते हैं। किंतु कभी-कभी इन उल्टवासियों का प्रयोग अर्थ को जान बूझ कर

---

†—तुम जिनि जानो यह गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार रे।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥
वही, पृ० २६१, पद ५।

+—सखियो हमहूँ भई बलमासी।
आयो जोवन विरह सतायो, अब मैं ज्ञान गली अठिलाती।
ज्ञान गली में सतगुरु मिलिगे, दई पिया की पाती॥
कबीर शब्दावली, भा० १, पृ० १०।

÷—रवींद्रनाथ ठाकुर: 'साग्स आफ़ कबीर', पृ० ६६।

×—वही, पृ० १००।

छिपाने के लिए भी हुआ करता है जिससे आध्यात्मिक मार्ग के रहस्यों का पता अयोग्य व्यक्तियों को न लगने पावे अथवा, यदि 'बाइबिल' के शब्दों में कहा जाय तो, मोती के दाने सुअरों के आगे न बिखेर दिये जायँ। ऐसी उलटवासियों को जानबूझ कर रची गई उलटवासियाँ कह सकते हैं। साधारण प्रकार से आध्यात्मिक साधनाओं को ही ऐसी उलटवासियों में स्पष्ट किया जाता है। उक्त पहले प्रकार की उलटवासियाँ सांकेतिक होती हैं जहाँ दूसरी का स्वरूप रहस्यमय हुआ करता है। इसमें सन्देह नहीं कि सांकेतिक उलटवासियों में उच्च श्रेणी का काव्य रहा करता है। किंतु, गुह्य उलटवासियाँ स्वभावतः काव्यगत सौंदर्य से हीन हुआ करती हैं। काव्य की विशेषता इसी बात में है कि उसके द्वारा जीवन के गूढ़तम रहस्यों का व्यक्तीकरण हो, उनका गोपन उसका उद्देश्य नहीं है।

परन्तु इस प्रकार के प्रयोगों का यदि उचित ढंग से उपयोग किया जाय तो इनके द्वारा उसके अभिप्राय के लिए श्रोता के हृदय में बलवती उत्कंठा जाग्रत की जा सकती है और उसका अर्थ लग जाने पर उसके ऊपर आश्चर्य का एक ऐसा सुखद प्रभाव पड़ सकता है कि वह उसे ग्रहण करने के लिए अन्य किसी प्रकार से भी अधिक उद्यत हो जाता है। इसके उदाहरण में हम निम्नलिखित पद उद्धृत कर सकते हैं। कबीर ने कहा है कि, "हे अवधू जो लोग नाव पर चढ़े (भिन्न-भिन्न इष्टदेवों का आधार लेकर चढ़े) वे समुद्र में डूब गये (संसार में ही रह गये), किंतु जिन्हें ऐसा कोई भी साधन न था वे पार लग गये (मुक्त हो गये)। जो बिना किसी मार्ग के चले वे नगर (परमपद) तक पहुँच गये, किन्तु जिन लोगों ने मार्ग (अंधविश्वासपूर्ण परंपराओं) का सहारा लिया वे लूट लिये गये (उनके आध्यात्मिक गुणों का ह्रास हो गया)। (माया के) बन्धन में सभी बँधे हुए हैं; किसे मुक्त और किसे बद्ध कहा जाय। जो कोई उस घर (परमपद) में प्रविष्ट हो गये उनके सभी अंग भीग गये (वे ईश्वरीय प्रेमरस से सिक्त हो गये), किंतु जो बाहर रह गये (जो उससे प्रभावित

न हो सके) वे पूर्णरूप से चूके हैं (उससे वंचित हैं)। वे ही सुखी हैं जिन्हें माया जग गया है (जो सतगुरु के वचनों द्वारा प्रभावित हो चुके हैं अथवा जिनके भीतर आध्यात्मिक विरह जाग्रत हो चुका है) और अभागे या दुखी वे हैं जिन्हें उसकी चोट नहीं लग सकी। अन्धे लोग (जिनकी आँखें संसार की ओर से बन्द हैं) सभी कुछ देखते हैं, किन्तु आँखवाले (सांसारिक मनुष्य) कुछ भी नहीं देख पाते।*" और फिर, "हे मेरे स्वामी, विना मांस लिये मत आना, न तो जीवित को मारना और न मृतक (आध्यात्मिक दृष्टि से निर्जीव) को ही लाना। उस मांसवाले शरीर में न तो वक्षस्थल होना चाहिए, न खुर चाहिए, न पीठ चाहिए और न वास्तव में, शरीर की रूपरेखा ही चाहिए। फिर भी ऐसा सावज न आना चाहिए जिसमें मांस व रक्त का अभाव ही हो। उस दूसरे वाले व्याध (परात्पर ब्रह्म) के पास अपने धनुष में कोई तीर नहीं है। हिरन भी विना शिर के है, किंतु वह लता की ओर (माया के प्रति) आकृष्ट रहा करता है। कबीर कहते हैं कि यह गुरु का ही कौशल है जिससे एक सावज (संसार की ओर से) मारा गया होने पर भी (आध्यात्मिक दृष्टि से) जीवित रूप में वर्तमान है। हे स्वामी, तुम्हारे साथ मिलन की अभिलाषा में मैं विना पत्तों की लता

---

*—अवधू ऐसा ग्यान विचारं।
भेरै चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं ॥ टेक ॥
ऊघट चले सु नगरि पहूँते, वाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटाने, के वांधे के छूटे ॥
मंदिर पैसि चहूँदिसि भीगे, वाहरि रहे ते सूका।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अन मारे ते दूषा ॥
विन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या धंधा ॥ १७५ ॥
क० ग्रं०, पृ० १४७।

बना हूँ।*" सुंदरदास ने भी इसी प्रकार कहा है कि, "चींटी (जीवात्मा) ने हाथी (वस्तुतः विस्तृत संसार वा माया) को निगल लिया है और शृगाल ने सिंह को खा लिया है। मछली (आत्मा) को (ज्ञान की) आग में ही सुख मिल रहा है; यह पानी (माया) में ही बेचैन थी। लँगड़ा (अधिक एकाग्रचित्त होने के कारण अपनी इंद्रियों का प्रयोग त्याग कर) पहाड़ी पर आत्मानुभूति की उच्च दशा तक) पहुँच गया है। मृत्यु (संसार की ओर से मर गये) मृतक से भयभीत हो रही है। सुंदर का कहना है कि, जिसे अनुभव होता है वही ऐसी बानी का रहस्य जान सकता है।†" अब आइये, शिवदयाल साहिब से भी एक उदाहरण लें। इनका कहना है कि, "गुरु ने मुझे एक आश्चर्य का खेल दिखला दिया। मुझे एक घड़ा बहुमूल्य रत्नों से भरा मिल गया।' मक्खी ने (आत्मा ने), मकड़ी (आत्मा) को खा

---

*—जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै,
मासविहूँणां घरियत आवै हो कंता ।। टेक ।
उर बिन पुर बिन चंच बिन, वपु विहूँना सोई।
सो स्यावज जिनि मारै कंता, जाकै रगत मास न होई ।।
पैली पार के पारधी, ताके धुनही पिनच नहीं रे।
तावेली को ढूंक्यौ मृगलौ, तामृग कै सीस नही रे ।।
मार्‍या मृग जीवता राख्या, यह गुर ग्यान मही रे।
कहै कबीर स्वामी तुम्हारे मिलन कौ, बेली है पर पात नहीं रे ।।२१२।।
क० ग्रं०, पृ० १६० ।

†—कुंजरकूँ कीरी गिल बैठी, सिंघहि खाइ अघानो स्याल।
मछरी अग्नि माहिं सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल ।।
पंगु चढ़्यो परवत के ऊपर, मृतकहि डरानै काल।
जाका अनुभव होय सो जानैं, सुंदर उलटा ख्याल ।।
पौड़ी हस्तलेख, पृ० ३२३।

लिया। भुनगे (सूक्ष्म शरीर) ने पृथ्वी को तोल दिया (भौतिक सत्ता मात्र से ऊपर उठ गया), बस्ती (आत्मा) का परिणय जंगल (भौतिक पदार्थों) से होता था किंतु वह सारे विश्व (पदार्थों) को निगल गई। आग (माया) पानी (अमृत या आध्यात्मिकतत्त्व) को सुखा रही थी, किंतु अब बिल्ली (मृत्यु) चूहे (आत्मा) के भय से भाग रही है। कौवा (चित्त) मधु स्वर में गाने लगा (उसने आध्यात्मिक प्रवृत्ति ग्रहण कर ली और मेढक (आत्मा) अब समुद्र (क्षुब्ध पदार्थों) को तोल रहा (उनके ऊपर उठता जा रहा) है। चतुर व्यक्ति (काल) मूर्ख (बहिर्मुख चित्त जो अब अंतर्मुख हो गया है) के सामने हार मान चुका है और आकाश (पटचक्र) धरती में रह कर (शरीर में रहते हुए) पुकारने लगा है। राधास्वामी उलटवाँसी गा रहे हैं और उल्लू (आत्मा) को सूर्य (परमात्मा) के दर्शन करा रहे हैं।*"

किंतु किसी भी अभिप्राय को जब चाहे तभी कठिनतापूर्वक समझ में आनेवाली परस्पर विरोधी बातों में छिपा देने की दूषित प्रवृत्ति स्वभावतः घृणित सिद्ध होने लगती है। ऐसी गद्य उलटबासियों के सम्बन्ध में कठिनाई इस बात से भी बढ़ जाती है कि भिन्न-भिन्न रूपकों

---

*—गुरु अचरज खेल दिखाया। सुत नाम रतन घट पाया।।
चींटी चढ गगन समाई। पिंगुल चढ़ पर्वत आई।।
गूँगा सब राग सुनावे। अंधा सब रूप निहारे।।
मक्खी ने मकड़ी खाई। भुनगे ने धरन तुलाई।।
धरती सब खिलकत खाई। जंगल में बस्ती ब्याही।।
मूसी से बिल्ली भागी। पानी में अग्नी लागी।।
कउआ धुन मधुरी बोले। मेडक अब सागर तोले।।
मूरख से चतुरा हारा। धरती में गगन पुकारा।।
राधास्वामी उलटी गाई। उल्लू को सूर दिखाई।।

सारवचन, भा० २, पृ० ४५०–२।

का प्रयोग सदा एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए नहीं किया जाता। इस विषय में संतोषजनक बात केवल इतनी ही है कि ऐसी उलटवासियों द्वारा अधिकतर आध्यात्मिक साधनाओं तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का ही वर्णन किया जाता है और हृदय की अभिलाषाओं का व्यक्तीकरण सीधी सादी एवं चुभनेवाली कविताओं के आधार पर हुआ करता है। यद्यपि काव्य की ओर उससे भी अधिक आध्यात्मिक विचारगर्भित काव्य की मर्मज्ञता के लिए कल्पना के कुछ न कुछ सौंदर्य की आवश्यकता पड़ती है। फिर भी समालोचना की आधुनिक प्रवृत्ति के विरुद्ध किया गया 'आइ०.ए० रिचार्ड्स' का यह कथन आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ढील पड़नेवाली उक्त मनोवृत्ति के विषय में भी लागू हो सकता है कि "जो कुछ हम कहा करते हैं उसमें से प्रायः सभी बातों को भाषा छिपा देने में समर्थ है।†"

कबीर इस प्रकार की मनोवृत्ति-द्वारा बहुत अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं और यही बात सुन्दरदास में भी लक्षित होती है जिन्होंने अपने 'सुन्दर विलास' का एक पूरा का पूरा अध्याय इन विपर्ययों से भी भर दिया है। कभी-कभी कबीर इस बात का प्रदर्शन करते हुए जान पड़ते हैं कि वे अपने पदों को समझने में अत्यंत कठिन बना सकते हैं। वे सबको इस बात के लिए आह्वान तक कर देते हैं कि जो कोई भी उनके कथन के अभिप्राय को समझ सकेगा उसे वे अपना गुरु स्वीकार कर लेंगे। वास्तव में कबीर की उलटवासियाँ उनके सिद्धान्तों को यथार्थतः समझने में बाधक सिद्ध हुई हैं। स्व० रीवाँनरेश विश्वनाथसिंह ने जो कबीर के सिद्धान्तों के सबसे सफल मर्मज्ञ समझे जाते हैं, उन्हें सबसे अधिक विपरीत समझा है। उस निरपेक्षवादी कबीर की कविताओं का उन्होंने स्थूल व साधन्त विषय-

---

†—आइ० ए० रिचार्ड्स 'प्रिंसिपल्स आफ् लिटरेरी क्रिटिसिज्म'। पृ० २१।

परक अर्थ लगा दिया है जो केवल एक बहुत सूक्ष्म प्रकार की ही सांप्रदायिकता को प्रश्रय दे सकता था। कबीर की अनेक बानियाँ आज भी बोधगम्य नहीं हैं किंतु कुछ लोगों की भाँति यह कह देना कि वे किसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए नहीं लिखी गई थीं, नितांत मिथ्या है।

परिशिष्ट

(१) पारिभाषिक शब्दावली

नीचे उन सांकेतिक शब्दों का एक कोष दिया जाता है जिन्हें निर्गुण मत वाले संत अपने भिन्न-भिन्न भावों को व्यक्त करते समय बहुधा प्रयोग में लाते हैं। इससे पता चलेगा कि एक ही सांकेतिक शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न भावों के लिए हुआ करता है। ऐसे स्थलों पर केवल प्रसंग से ही जान पड़ता है कि अमुक शब्द का प्रयोग वहाँ अमुक बात को स्पष्ट करने के लिए हुआ है। गरीबदास का "भवन प्रबोध ग्रंथ" इस सूची को तैयार करते समय बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

ॐ--शब्द, पवन, सास, जीव, सबद, सुर, सूर, उजास, ससा, संघ, सेसदम, नाद, स्यंम, व स्याल।

अंतःकरण—कमल, घड़ा, कलस, गगन, आँगणा, ताखा व कुआँ।

अजपाजाप—उस प्रकार को उपासना की पद्धति व स्थिति जिसमें सभी प्रकार के बाह्य साधनों के प्रयोग छोड़ दिये जाते हैं और एक अंतःक्रिया मात्र चलती रहती है।

आत्मा—बादशाह, हंस, अवधूत, अर्जुन, महर, गूजर, प्रजापति, सुलतान, राजा, साह, काजी, खग, सती, विरहिनी, वैरागिनी, वियोगिनी, बाँझ, सुन्दरी, दुलहिनी, रूह, अरवाह, बेली, अंजनी।

इंद्री —पांडव, पाँच ज्ञंद्रिका।

इड़ा—योगनाड़ी जो नाक की बायीं ओर आकर समाप्त होती है, चन्द्रमा, इला, गंगा, वरणा।

इच्छा—मनसा, गायत्री, सुरही, (सुरभि=गाय) बच्छी, तरंग, जमुना, मृगछी (मृगाक्षी), माखी, मूंगी, देवी, सखी, डीबी, जोगनी, मानी, मालिन, कलाली, गौरी, पारबती, दामिनी, तृषा, मौरी, मंजारी, बगुली, चावंड, (चामुन्डा), चोल, चींटी।

उनमनि—तन्मनस्कता, बहमन, अतिचेतना।

ऊँट—स्वाँसा (श्वास)

कम्मल—कर्म, कामनापूर्ण कार्य।

कुआँ—अंतःकरण (औंधा कुआँ) त्रिकुटी या आकाश में स्थित अमृतकूप।

गुरु —सिकलीगर, साह, सुनार, चन्दन, चिंतामणि, पारस, भृंगी, वैद्य, हंस, पारिष।

चित—चातृग, (चातक) चकोर, चकवा, चक्र, चिड़ा (चिड़िया) चोर, चूल्हा, चक्की, चरखा।

चन्द्रमा – इलानाडी, आज्ञाचक्र में स्थित अमृतस्रावक चंद्र, ज्ञान, पुरुष।

जरणा—जीर्ण करना, पचाना, किसी धारणा को आत्मसात् कर लेना।

जीव—माया, पातशाह, अर्जुन, अवधूत, जोगी प्रपित, हंस, महर, राजा, शाह, काजी, खग, भट, कुष्टी, कंज, विरहिनी, बाँझ, सुन्दरी, दुलहिन, रूह, भरवाह, बेटी, अंजनी।

तेंतीस करोड़ देवता—३ गुण (सत, रज और तम) ५ तत्व (जल, वायु, आकाश, अग्नि, पृथ्वी) और २५ प्रकृति।

तेल—भगवत्प्रेम, जीवन विस्तार, स्नेह।

दीपक—शरीर, ज्ञान।

दुलहिन—सुरति, जीव, माया।

दुविधा—दुर्मति, द्रौपदी, कुदाली, कागजी, कुहू (अमावस्या) कसाइण माया (दे० 'माया' भी)।

ध्यान – चिंतन, तागो, धागा, त्राटक, निद्रा, समाधि।

निरति—परमात्मा के साक्षात्कार का आनन्द (नृत्य), पूर्ण तन्मयता।

परचा—परिचय, परमात्मा का साक्षात्कार।

परमात्मा—अविहड़, अनाहद, दरिया, सागर, रमिताराम, रमैया, मूल, प्रीतम, सम्पति, कारीगर, कुम्हार। परमात्मा के नाम अनन्त हैं।)

पिंगला—जमुना, असी, सूर्य, वायीं, नाड़ी में मिलनेवाली योगनाड़ी।

वाणी—गंगा, भागीरथी, शारदा, सुरसरी।

बाती—प्राण, उन्मेष की प्रवृत्ति।

वंकनालि—सुषुम्ना (पूर्ववर्ती संतों के अनुसार); त्रिकुटी के आगे का एक सूक्ष्म मार्ग जिसमें ऊँचे पर्वत व नीची घाटियाँ बतलायी जाती हैं (परवर्ती संतों के अनुसार)।

मन—मनि, मृग, मेंढक, मंजार, मूसा, मर्कट, मोतीहार, मोर, गरुड़, हाथी, पशु, पतिंगा, सुनहा, सूका, कउवा, महादेव, अवधूत, देव रावल, कउवा, बगुला, बाज, काइथ, जोगी, खूँटा, बँधुवा भँवरा, भोमी, फटक (स्फटिक) धौल (धवल), कलाल, रिंद, सैतान, बकरी, रोहू।

मानसरोवर—सुन्न में स्थित अमृतकुण्ड।

माया - मैणी, मोहनी, मजारी, मगर, डंकिणी, संकणी, साँपणी, पापणी, जापिनी, कामिनी, भामिनी कोढणी।

मूल—परमात्मा, मूलाधारचक्र, मूलप्रकृति।

बिंदु—सुकल, जलन्धर, व्यंद, पाणी, वीर्य, व विंदुस्थान।

वैराग्य – विरह, फिराक, प्यास, तपति, औचट, तदफ, तालाबेली, उदास, फिकर।

त्रिसाह्यणा—क्रय-विक्रय, आवागमन ।

शब्द—गुरु की शिक्षा, सिचाए, परोसा, कूँचो, वाण, मस्त, निर्भय-वाणी, अनहद वाणी, नन्दलाल, परमात्मा ।

शंका—समा, टंक, स्याल, मूसा, मोर, कुत्ता, दुविधा, माया ।

शरीर—पिंड, घट, आकार, वन, पृथ्वी, समुद्र, पंकज, मोम, पाड गोकुल, वृंदावन, वेलि, पयूलनी, पुतला, कीज, अम्बूज, सीमुद, देहुरा, महल, मसीत, व्यापर, परिवार, चादर ।

संसार—समुद्र, भौ, वन, वाणी, मोह, जंजाल, मृग, वृक्ष, चाक (चौरासी लाख योनि) हाट, आवागमन ।

सुमिरण—जाप, डोरी, तान, लौ, धूरि, भजन ।

सुखमन—सुषुम्ना, सरस्वती, बंकनाली ।

सुरति—जीव, सीप, सुन्दरी, सरस्वती, लगी, कुड़ाजी, शुक, चेन, मछली, जीव ।

सूरज—पिंगलानाड़ी, मूलाधार में स्थित विषस्रावक सूर्य ।

ज्ञान—चाँदणि, तत्त, उजास, सूरज, चन्द्रमा ।

हाट—हट्ट, संसार ।

परिशिष्ट

(२) निर्गुण संप्रदाय सम्बन्धी पुस्तकें

निर्गुण संतमत का अध्ययन करने के लिए सबसे पहले उन संतों की प्रामाणिक रचनाओं का पढ़ना आवश्यक है जिन्होंने इसे प्रचलित किया था। किंतु यह भी कोई सरल काम नहीं है १, संत साहित्य और विशेषकर उन संतों की कृतियों का अध्ययन जो पहले हो चुके हैं। इन संतों के कतिपय श्रद्धालु भक्तों ने अपने गुरुओं के सिद्धान्तों को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से कुछ ऐसे पद्यों की रचना कर डाली है जो इनके ही कहलाकर प्रसिद्ध हो चले हैं और ऐसा करना उन्होंने कदाचित् अपना अधिकार समझा है। अन्य ऐसे व्यक्तियों ने अपने गुरुओं की कृतियों में या तो क्षेपक भर दिये हैं अथवा इनके ही नामों से नितांत नवीन सामग्री तयार कर इनके प्रति भक्ति प्रदर्शन की जगह किसी अपने उद्देश्य की सिद्धि की है। मूल गुरुओं के सिद्धान्तों पर आश्रित सम्प्रदायों का रंग शीघ्रता से बदलता आता रहा है और नवीन परिस्थिति के अनुकूल प्रमाणों की रचना भी उन्हीं के नामों पर होती आई है। अतएव कभी-कभी प्रसिद्ध बानियों में से प्रामाणिक पदों को पृथक् कर लेना एक अत्यंत कठिन काम हो गया है।

यह बात विशेषकर कबीर के सम्बन्ध में देखी जाती है जो पूर्ण रूप से अशिक्षित थे और जिन्होंने कभी लेखनी उठायी ही नहीं थी।

कहा जाता है कि जो कुछ वे कहते थे उसे अनेक अनुयायी लिख लिया करते थे। उनकी मृत्यु के अनन्तर ऐसे शिष्यों व इनके भी अनुयायियों ने उनके नाम से बहुत कुछ लिख मारा। उनके उपदेश इसी कारण ऐसे लोगों की कृतियों के साथ इस प्रकार मिल गये हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। कबीर का अध्ययन करने के लिए बाबू क्षितिमोहन सेन द्वारा संपादित कबीर बानियों का बोलपुरवाला संग्रह (चार भाग) और उसी प्रकार उनका बेलवेडियर प्रेसवाला संस्करण जिसके चार भागों में उनकी शब्दावली, साखी संग्रह, ज्ञानगूदड़ी, रेखते, भूलने व अखरावती सम्मिलित हैं तथा श्री वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित साखियों का संस्करण बहुत उपयोगी हैं परन्तु इनके संग्रहकर्ताओं ने इस बात का प्रयत्न नहीं किया है कि कबीर की प्रकाशित रचनाओं में से दूसरों की कृतियों को पृथक् कर लें इस कारण इनमें अनेक ऐसी बानियाँ आ गई हैं जो कबीर की नहीं हो सकतीं। कबीर के एक सौ पदों का डा० रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा किया गया अनुवाद क्षिति बाबू के उपर्युक्त संस्करण के आधार पर निकला है तथा पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'कबीर वचनावली', नामक छोटा सा संग्रह उक्त बेलवेडियर प्रेसवाले संस्करण के आधार पर तैयार होकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा, की ओर से प्रकाशित हुआ है और अपने ढंग का अच्छा है।

सिक्खों के आदि ग्रंथ में संगृहीत कबीर की रचनाओं का संग्रह बड़ी सावधानी के साथ किया गया जान पड़ता है। किंतु कबीर के दंडित होने के सम्बन्ध में उनकी ओर से प्रदर्शित चमत्कारों का उसमें सम्मिलित कर लिया जाना, स्पष्ट रूप में सिद्ध कर देता है कि यह संग्रह भी संदिग्ध बातों से मुक्त नहीं। बीजक प्रायः सभी कबीरपंथियों के अनुसार कबीर की प्रामाणिक रचना माना जाता है किंतु यह भी पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं समझ पड़ता। उसमें ऐसे पद्य आ गये हैं जिनका दूसरों की कृति होना निश्चित रूप से बतलाया जा सकता है। उदाहरण के लिए 'बीजक' का "संतो राह दुनों हम दीठा" से आरम्भ होनेवाला

१० वाँ शब्द बपना का माना जाता है और उसका "कोइ राम रसिक पियहुगे" से आरंभ होनेवाला २० वाँ शब्द, रज्जबदास की सर्वांगी, के अनुसार स्वामी सुखानंद का समझा जाता है। पहला शब्द बपना की 'बानी' में भी संगृहीत है। कुछ साखियाँ भी जो आज कबीर की कही जाती हैं वास्तव में बपना की हो रचनाएँ हैं जैसे "सत्त नाम निज औषधी, सतगुरु दई बताय। औषधि खाय रु पथ रहि ताकी वेदन जाय॥" (संत बानी संग्रह भा० १, पृ० ५, सा० १२) आदि।

संत साहित्य की एक विशेषता यह है कि उसमें अन्य किसी की रचनाओं को अपना बतलाने के उदाहरणों का सर्वथा अभाव दीख पड़ता है। पिछले खेवे के संतों का यह अपराध हो सकता है कि उन्होंने अपने शब्दों को अपने पूर्ववर्ती संतों के मुख से कहला दिया है, किंतु इनकी रचनाओं को इन्होंने कभी अपना नहीं कहा। सुखानंद कबीर के समकालीन व गुरुभाई थे और इनसे कम प्रसिद्ध भी थे। उनकी रचनाएँ, इसी कारण, कबीर की कहला सकती हैं, किंतु कबीर की, उनकी नहीं कहला सकतीं।

विद्वानों का कथन है कि 'बीजक' वाला संग्रह कबीर के जीवन काल में प्रस्तुत नहीं हुआ था। वेस्टकाट साहब का अनुमान है कि इसका संपादन सर्वप्रथम संभवतः सन् १५७० ई० में सिखों के आदि ग्रंथ का संपादन होने से २० वर्ष पहले, हुआ होगा किंतु यह अनुमान ही अनुमान है और इसके लिए कोई भी प्रमाण नहीं कि यह ग्रन्थ 'आदि-ग्रन्थ' अथवा रज्जबदास की 'सर्वांगी' से प्राचीन है। भाषाशास्त्र के नियमानुसार तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'आदि ग्रन्थ' 'बीजक' से प्राचीन है। दादू कबीर के वचनों को सत्य मानते थे और दादूपंथियों ने भी इसी कारण, उनकी रचनाओं को बड़ी श्रद्धा के साथ देखा है। बपना व रज्जबदास दोनों ही दादू के शिष्य थे। दादू पंथियों की रचनाएँ बड़ी सावधानी के साथ लिखी गई थीं और इसके लिए संदेह करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि उनमें क्षेपक भरे हुए हैं, हाँ,

यह बात, कदाचित् स्वयं दादू की रचनाओं के संबन्ध में भी इसी प्रकार न कही जा सके।

मैं इसीलिए, समझता हूँ कि 'बीजक' का वर्तमान संग्रह अपना (लगभग सन् १६०३ ई०) के अनन्तर ही किया गया था और पूर्णरूप से प्रामाणिक नहीं है। फिर भी इसके अंतर्गत संगृहीत अधिकांश पद सदोष स्मरणशक्ति के कारण बहुत कुछ परिवर्तित होते हुए भी, कबीर की ही रचनाएँ हैं। 'बीजक' के बहुत से संस्करण हैं जो, सिवाय इसके कि उनके भिन्न अंशों के क्रम में कुछ अंतर हो या साखियों की संख्या में कमी-बेशी हो, परस्पर भिन्न-भिन्न नहीं जान पड़ते। किंतु, पूरनदास का संस्करण जो आज-कल अधिक प्रचलित है और यही, संभवतः 'बीजक' का सबसे प्राचीन रूप भी है। हाँ 'आदिमंगल' व 'प्रीतम अनुसार' मूलग्रन्थ के अंश नहीं माने जाते।

प्रो० श्यामसुन्दरदास-द्वारा सम्पादित 'कबीर-ग्रन्थावली' एक अन्य ग्रन्थ है जो इस बात में प्रामाणिक समझे जाने का गंभीर दावा करता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें उस सांप्रदायिक कृत्रिमता का अभाव है जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों-द्वारा प्रकाशित की गई अनेक रचनाओं में बहुधा पाई जाती है। और इसमें संगृहीत पदों का उन बानियों के साथ पूरा मेल भी खा जाता है जो दादूपंथियों की 'पंचबानी' में सुरक्षित हैं। दादूपंथ के प्रवर्तक दादूदयाल, कबीर के शब्दों को पूर्णतः सत्य मानते थे। 'आदिग्रंथ,=' के अनेक पद इस संग्रह में प्रायः उसीरूप में आये हैं और इस 'ग्रंथावली' तथा 'बीजक' में भी बहुत कुछ समानता दीख पड़ती है। ÷ यद्यपि 'बीजक' के साधारण

=—'आदि ग्रन्थ' में संगृहीत २४० साखियों व २२७ पदों में से 'कबीर ग्रन्थावली' के अंतर्गत केवल १०६ साखियाँ और ६५ पद आये हैं।

÷—एक 'वसंत' को लेकर २५ पद, 'ज्ञान चौंतीसी' (वा ग्रन्थावली की 'ख' प्रति के अनुसार (ककहरा) का लगभग पूर्वार्द्ध, प्रायः

पद्यों में पाठभेद भी पाया जाता है। इस संस्करण के शब्दों के रूप अन्य किसी भी संग्रह की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं और कबीर के समय की भाषा-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के अनुकूल भी जान पड़ते हैं। यह शैली उन दोहों वा साखियों में अधिक प्राचीन दीखती है जो अपभ्रंश के अपने छंदों में रची गई हैं। पदों वा रमैनियों में इसका अभाव लक्षित होने के कारण यह नहीं सिद्ध होता कि साखियाँ ही कम प्रामाणिक, मानी जा सकती हैं। कुछ समालोचकों की भाँति इन पर राजस्थानी व पंजाबी का प्रभाव स्वीकार कर लेने की अपेक्षा, यही अधिक ठीक होगा कि इनकी भाषा को उस समय की प्रचलित सधुक्कड़ी भाषा मान लिया जाय। इन प्राचीन रूपों व शब्दों में से कुछ आज भी राजस्थानी में तथा कुछ अन्य पंजाबी में पाये जाते हैं। इस बात के लिए प्रमाण है (जैसा कि ग्रंथावली के पृ० ७७ की पादटिप्पणी ५ से भी पता चलता है) कि कबीर की पूर्वी बोली को उस समय के लोग 'अस्पष्ट' बतलाया करते थे और हो सकता है कि इसी कारण उन्होंने सर्वत्र समझी जाने योग्य भाषा का ही व्यवहार किया हो। इस भाषा का उस प्रकार प्रयोग करनेवाले केवल कबीर ही नहीं थे। उन्होंने इस बात में उस परम्परा का हो अनुसरण किया था जिसे अनेक योगी कवि पहले से ही अपनाते आ रहे थे।÷ कबीर गोरखनाथ के बहुत दूर तक ऋणी थे और उन्होंने इनका-न

---

३८ साखियाँ और बहुत सी रमैनियाँ दोनों मे एक समान हैं। 'बीजक' की रमैनियाँ अक्रमबद्ध जान पड़ती हैं किंतु 'ग्रन्थावली' की रमैनियाँ क्रमानुसार हैं। रमैनियों के एक समान अंश भी 'बीजक' में असंगत से हैं, किंतु वे ही 'ग्रन्थावली' मे आकर अपने-अपने उचित स्थानों पर संगृहीत दीख पड़ते हैं।

÷—दे० 'हिंदी काव्य मे योगप्रवाह' नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ११ पृ० ३८५-४०५।

केवल रहस्यवादी बातों को ही अपनाया तथा इनका गुह्य योगविद्या के विषय में अनुसरण किया, प्रत्युत, इनकी भाषा एवं शैली को भी स्वीकार कर लिया। 'बेलवेडियर प्रेस' वाले 'कबीर साखी संग्रह' में लक्षित होनेवाली पूर्वी भाषा की छाप सदा मौलिक नहीं समझी जा सकती; उसमें कई स्थलों पर पश्चिमी 'सधुक्कड़ी भाषा' का भी प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि कुछ राजस्थानी प्रभाव, जो अपभ्रंश की भी कोई विशेषता नहीं, संग्रहकर्त्ता वा प्रतिलिपिकारों के कारण नहीं पड़े होंगे। कबीर की रचनाओं के जितने भी हस्तलेख अभी तक मेरे सामने आये हैं वे या तो राजस्थान में वा किन्हीं राजस्थानियों के लिए ही लिखे गये थे। 'ग्रन्थावली' का (क) नामक हस्तलेख भी, जिसका बनारस में लिखा जाना कहा जाता है या तो किसी राजस्थानी के लिए वा किसी राजस्थानी-द्वारा लिखा गया था और यह बात, उसके अंत में लिखित "वाँचवि वलासूँ सूं श्रीराम राम छ" से भी स्पष्ट है।

फिर भी ग्रंथावलीवाले इस संस्करण को स्वीकार करते समय एक कठिनाई आ खड़ी हो जाती है। 'ग्रंथावली' दो हस्तलेखों पर आश्रित है जिनमें से पहले का लिपिकाल सं० १५६१ विक्रमीय (सन् १५०४ ई०) बतलाया जाता है और जिसे (क) कहा गया है तथा दूसरे का लिपिकाल सं० १८८१ विक्रमीय (सन् १८२४ ई०) समझा जाता है और जिसे (ख) की संज्ञा दी गई है। किंतु, इसमें संदेह है कि (क) नामक हस्तलेख उतनाही पुराना है जितना होने का वह दावा करता है। इस विषय में प्रो० जुले ब्लाश ने अपने सन् १९२९ वाले 'फारलांग व्याख्यानों' में कहा है कि "संपादक ने जो फ़ोटो वा प्रतिचित्र दिया है उससे इस बात का पता लगा लेना सरल है कि लिपि की मिती किसी दूसरे हाथ की लिखी है। संभव है कि हस्तलेख के दोनों लेखक समसामयिक ही रहे हों, किन्तु, बाबू श्यामसुन्दरदास इस

समस्या को हल नहीं करते और, जैसा मैंने पहले भी कहा है, उसे हल करने के लिए मेरे पास भी कोई साधन नहीं।''ॐ

मैंने इस हस्तलेख की स्वयं भी बड़ी सावधानी के साथ परीक्षा की है। इसमें संदेह नहीं कि पुष्पिका की लगभग डेढ़ पंक्तियों तथा हस्तलेख के शेष अंश में अंतर स्पष्ट है (दे० "संपूर्ण संमत् १५६१ लिप्य कृत्य वाणारस मध्य पेमचंद पठनार्थ मलूकदास वाचवि वालां सूं श्रीराम राम छ यादृसि पूस्तकं द्रष्ट्वा तादृस लितं मया यदि शुद्धं तो वा मम दोशो न दियतं)।" पुष्पिका में एक प्रधान अंतर 'य' और 'व' के नीचे किसी विंदु का अभाव है जो शेष अंश में जहाँ कहीं भी संयुक्ताक्षर न हों अवश्य दिया गया मिलता है। अंतिम पृष्ठ में अक्षरों के दुबारा लिखे जाने के भी चिह्न वर्तमान हैं और यह बात उस अंश में पायी जाती है जो लालरंग में लिखी है। पुष्पिका, पृष्ठांकन, और 'कबी' एवं 'राम' जो पृष्ठों के किनारों पर लिखे हैं सभी सर्वत्र दुहराये हुए हैं। दो भिन्न-भिन्न स्याहियों का भी प्रयोग हुआ है जिनमें से एक फीकी और दूसरी गाढ़ी है पुष्पिका की स्याही गाढ़ी है और पृष्ठ का शेष फीकी स्याही में लिखा हुआ है इसके कारण हस्तलेख के शेष अंश के विचार से, रंग में थोड़ी सी भिन्नता आ गई है। परन्तु यह बात भी हस्तलेख के महत्व को किसी प्रकार कम नहीं करती। हस्तलेख के अक्षरों की बनावट बहुत पुरानी है। इसमें कोई बात ऐसी नहीं जिससे इसे पुष्पिका के लेखानुसार प्राचीन न स्वीकार किया जाय और यही हम स्वयं उस पुष्पिका के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। 'व' एवं 'य' के नीचे विंदुओं के न होने से ही हम इसे हस्तलेख का समकालीन मानने से इन्कार नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए 'सरस्वती भवन बनारस' में सुरक्षित तुलसीदास के हाथ की लिखी 'वाल्मीकि रामायण' (उत्तरकाण्ड) को भी,

---

ॐ—दे० बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज, लंडन इंस्टिट्यूशन भा० ५ व भा० ६ पृ० ७४६—'सम प्राब्लेम्स आफ इण्डियन फाइलालोजी)।

जिसका लिपिकाल सं० १६२१ वि० है, यह विशेषता है÷ और यह बात कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तला' के कदाचित् सबसे प्राचीन उस हस्तलेख (लिपिकाल सं० १६१० वि०) में भी दीख पड़ती है जो काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय के पं० केशवप्रसाद मिश्र के यहाँ सुरक्षित है। हो सकता है कि उस हस्तलेख की पुष्पिका भी उसी लिपिकार की लिखी हो और उसने इसे बहुत घिसी हुई किसी लेखनी-द्वारा शीघ्रता में लिख दिया हो। व, छ, ल, न एवं य संयुक्ताक्षर अक्षरों में पायी जाने वाली समानता बहुत स्पष्ट है। पहले यह प्रथा थी, और आज भी देखी जाती है, कि लिपिकार पुस्तकों की विशेष माँगवाली प्रतिलिपियाँ कभी-कभी पहले से प्रस्तुत किये रहते थे और उन्हें किसी के हाथ देते समय उनके अन्त में पुष्पिका जोड़ देते थे।

सम्भव है कि यही बात इस हस्तलेख के सम्बन्ध में भी हुई हो। नवीन लिपि की स्याही के फीकेपन के ही कारण सम्भव है, दुहराना भी पड़ा हो। इस दुहराने के कारण यदि हस्तलेख (क) की प्रामाणिकता न भी स्वीकार की जाय, तो भी 'कबीर-ग्रन्थावली' के महत्व की उपेक्षा यों ही नहीं की जा सकती। (ख) नामक हस्तलेख नितांत संदिग्ध नहीं है। स्वयं मेरे पास दो हस्तलेख हैं जिनमें से एक का लिपिकाल सं० १८१६ वि० (सन् १७५६ ई०) है और दूसरे पर कोई समय नहीं दिया है और ये दोनों हस्तलेख (क) की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। 'पौड़ीहस्तलेख' में सम्मिलित 'कबीरवानी' भी जिसका वर्णन नीचे दिया जाता है इस प्रति से मुख्य-मुख्य बातों में भिन्न नहीं है और जोधपुर लाइब्रेरी में सुरक्षित व सं० १८३० वि० में लिखित कबीर की रचनाओं के आदि, मध्य तथा अन्त में दिये गये उदाहरणों से

÷—दे० श्यामसुन्दरदास एवं पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित 'गोस्वामी तुलसीदास' के पृ० १०४ के सामने का प्रतिबिंब)।

भी जो काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की खोजों की रिपोर्ट में प्रकाशित हैं, यह भली भाँति मेल खाता है। (क) वाला हस्तलेख अन्य लेखों से केवल एक ही बात में भिन्न है और वह संगृहीत पद्यों की संख्या है। (क) वाले हस्तलेख में सबसे कम पद्य हैं और यह इसी कारण सबसे प्राचीन भी है। रज्जबदास की 'सर्वांगी' के अन्तर्गत, ईसा की १८वीं शताब्दी के पूर्व भाग में संगृहीत, कबीर की रचनाएँ भी इसी प्रकार की हैं। यह भी सम्भव है कि दादूदयाल (जन्म संवत् १६०१–१५४४ ई०) को कबीर की बानियाँ इसी रूप में पहले-पहल मिली थीं और इन्हीं के आदर्श पर उन्होंने अपनी बानियाँ रची थीं। अतएव यह असम्भव नहीं कि कबीर की रचनाओं का यही रूप सन् १५०४ ई० में भी वर्त्तमान था जबकि (क) हस्तलेख की प्रति प्रस्तुत की गई थी।

परन्तु हस्तलेख की प्रामाणिकता एक बात है और उसके विषय की प्रामाणिकता दूसरी। और इस दृष्टिकोण के अनुसार मैं 'कबीर-ग्रन्थावली' को पूर्णतः विश्वसनीय नहीं मानता। इसके अन्तर्गत कुछ ऐसे पद्य हैं जो कबीर के नहीं हो सकते। कबीर के चमत्कारों के प्रसग वाले सभी पद्य ऐसे ही हैं। कबीर अपने पूर्ववर्त्ती संतों के चमत्कारों में चाहे विश्वास भी करते रहे हों, तो भी उनके जैसे सत्यवादी व्यक्ति ने अपने सम्बन्ध में झूठी बातें नहीं कही होंगी। फिर इनमें 'कथता बकता सुरता सोई' से आरम्भ होनेवाला एक पद्य* आया है जिसे 'आदिग्रन्थ' में सिखों के प्रथम गुरु नानक का कहा गया है। यह भी सम्भव है कि 'ग्रन्थावली' के सम्पादक के बजाय अन्य के सम्पादकों से ही यह भूल हो गई हो क्योंकि यह पद दादूपंथियों की 'पंच बानी' में भी आया है और वे लोग नानक के दादू से पूर्वकालीन होने पर भी उनकी बानियों के प्रति कोई श्रद्धा नहीं प्रदर्शित करते। तो भी जबकि इस विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता

---

*—पद ४२, पृ० १०२।

इसके द्वारा 'कबीर ग्रंथावली' को पूर्णतः प्रामाणिक मान लेने में भय भी उपस्थित हो जाता है। इसलिए 'कबीर ग्रन्थावली' 'आदिग्रन्थ' एवं बीजक को मैंने अधिक विश्वसनीय मानते हुए भी उनकी ऐसी कोई भी रचना स्वीकार नहीं की है जिसमें या तो सांप्रदायिकता की गन्ध आती है या जो उनके रचयिता के सम्बन्ध में किन्हीं असम्भव बातों का उल्लेख करती है। इसके साथ ही मैंने उपर्युक्त अन्य ग्रन्थों की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की है और मैंने उनसे ऐसे पद्यों को उद्धृत भी कर दिया है जो इन तीनों ग्रन्थों में स्वीकृत बातों के विरुद्ध नहीं पड़ते। जो पद्य इन तीनों ही ग्रंथों में आये हैं उनके पाठों को मैंने असांप्रदायिकता एवं पुरानी शैली के विचार से, 'ग्रंथावली' तथा 'आदिग्रंथ' के ही अनुसार ठीक माना है।

उन पद्यों के सिवाय जो कबीर की बानियों में मिल गये हैं कुछ ऐसी भी रचनाएँ चल पड़ी हैं जिनमें से बहुत सी तो कबीर-कृत कह-लाना चाहती हैं और अन्य अनेक ऐसी हैं जो उस प्रकार न कहलाकर भी कबीर की कृति होने का भ्रम उत्पन्न कर सकती हैं। कबीर के भिन्न-भिन्न जीवनचरित्रों में दी गई उनकी पुस्तकों की सूची में ऐसे बहुत से ग्रन्थों के नाम दिये गये मिलते हैं। ऐसे ४० ग्रंथों को एकत्रित करके कबीर-पंथी साधु युगलानन्द के सम्पादकत्व में, ११ भागों का एक 'कबीरसागर' जो एक दूसरे नाम से 'बोध-सागर' भी कहलाता है, बम्बई के श्री वेङ्कटेश्वर तथा लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस-द्वारा प्रकाशित किया गया है।

इन ४० ग्रंथों में से केवल 'आत्म बोध' (भा० ६) अंशतः उस रेख़ता का प्रतिनिधित्व करता है जो 'बेलवेडियर प्रेस' से प्रकाशित है और जिसे कबीर कृत माना जा सकता है। इसमें दिये गये कबीर के सिद्धांत 'ग्रन्थावली' एवं 'ग्रन्थ' के अनुकूल पड़ते हैं और 'रेख़ता' की खड़ी बोली भाषा के कारण भी इसका कबीर-कृत होना असम्भव नहीं है। किन्तु यह भी सम्भव है कि इसका रचयिता कबीर न होकर

मनोहरदास हो। इस ग्रन्थ के कई स्थलों पर 'दासमनोहर' शब्द का प्रयोग दीख पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त प्रयोग भौतिक मन के लिए किया गया है। फिर भी इसके विरुद्ध भी कोई कारण नहीं कि यह रचयिता का नाम होकर ही प्रयुक्त हुआ है।

शेष ३६ रचनाओं में से एक भी कबीर की नहीं और यह उनके विषय से ही प्रकट है। 'अनुराग सागर' (भा० २) ज्ञानसागर' (भा० १) 'अम्बुसागर' (भा० ३) 'स्वसम्वेदबोध' (भा० ६) 'निरंजन बोध' (भा० ७) 'ज्ञानस्थिति बोध' (भा० ८) 'सर्वज्ञ-सागर' (भा० ३) एक प्रकार के 'कबीर जातक' वा कबीर के अवतार-धारण की कथाएँ हैं। इन कथाओं में एक ऐसे सृष्टिक्रम का वर्णन है जो दार्शनिकता व पौराणिकता से भरा हुआ है और इसके अनुसार कबीर ज्ञानी कहे गये हैं तथा उन्हें आदि पुरुष के अनेक (कुछ पुस्तकों के अनुसार ५ और दूसरों के अनुसार १६) पुत्रों में से एक एवं निरंजन का भाई माना गया है। इस निरंजन को वंचक समझा गया है। यह अपने पिता को इस बात में ठग लेता है कि वह इसे सत्तलोक, मानसरोवर, तथा आदि माया (अष्टाङ्गी भवानी) दे दे और अपने मनोविकारों के आवेश में आकर आदि माया को यह निगल भी जाता है। तदनंतर आदिमाया उसके पेट को चीरकर बाहर निकल आती है और इसकी बातों में आकर इससे व्याह कर लेती है जिससे ब्रह्मा, विष्णु, व महेश नामक तीन पुत्रों की उत्पत्ति होती है। तब ये तीनों लड़के अपने जन्म के पहले से ही गुप्त हो गये हुए पिता की खोज में निकलते हैं। ब्रह्मा लौटकर असत्य बोलता है कि मैंने अपने पिता को देखा है जिसपर रुष्ट होकर आद्या उसे शाप देती है कि तुम्हारी न तो कोई पूजा होगी और न तुम्हें कोई भेंट अर्पित की जायगी और तुम्हारी संतान ब्राह्मण, भी धूर्त हुआ करेंगे।

विष्णु भी अपने प्रयत्नों में असफल हुआ और निम्न लोकों में जल-कर काला पड़ गया। उसने अपनी असफलता स्वीकार कर ली जिसके

कारण वह सबसे अधिक पूज्य बन गया। उसने अपने बड़े भाई (दुःखित ब्रह्मा) को वचन दिया कि मेरे अनुयायी तुम्हारी सन्तान का भी आदर व पालन-पोषण करेंगे सबसे छोटे लड़के महेश ने मौन रहना स्वीकार किया जिसके कारण वह अमर योगी बन गया। इन्हीं त्रिदेवों के द्वारा मृत्यु का स्वामी निरञ्जन सारे विश्व पर शासन करता है। निरंजन के मूल कपट से कोई भी नहीं बच सकता, जब तक ज्ञानी (कबीर) इस काम के लिए नियुक्त होकर स्वयं उसका उद्धार करना स्वीकार न कर लें। निरंजन ने इन उद्धारकर्ता कबीर को भी धोखा दिया और उनसे वचन ले लिया कि मैं तुम्हारे कार्यों में, सत्य, त्रेता एवं द्वापर युगों में अधिक हस्तक्षेप नहीं करूँगा। इन युगों में कबीर क्रमशः सत्यसुकृत, मुनींद्र तथा करुणामय नामों से विख्यात थे और उन्होंने पहले में केवल राजा धोंधल व खेमसिरी ग्वालिन, दूसरे में भाट विचित्र हनुमान (हनुमान बोध भा० ५), लक्ष्मण (क्योंकि इसी युग में राम समुद्र पर पुल बाँधकर कबीर की कृपा से लंका पहुँचे थे) और मंदोदरी (जिसका पति रावण केवल कबीर के शाप द्वारा से मारा गया था) तथा तीसरे में केवल गढ़ गिरनार की रानी का उद्धार किया था और इसी की प्रार्थना पर उसके पति को भी बचाया था। कलियुग में ये काशी में अवतीर्ण हुए और, उन्हें उस श्वपच सुदर्शन ने पहचानकर उनकी पूजा की जिसे कृष्ण के कहने पर युधिष्ठिर ने, अपने अश्वमेध यज्ञ की सफलता के लिए उसके पहले निमन्त्रित करना आवश्यक माना था। कृष्ण ने अपनी मृत्यु के अनंतर उड़ीसा के राजा इंद्रदमन को स्वप्न में आज्ञा दी कि वह पुरी में जगन्नाथ के लिए एक मंदिर का निर्माण करे। किंतु समुद्र ने राम को अपने ऊपर पुल बाँधने के अपराध को क्षमा नहीं किया था। जिस कारण उसने उक्त मंदिर के निर्माण में बाधा उपस्थित की और, कबीर के इस बीचबिचाव पर कि तुम पुरी के नगर की जगह द्वारका को डुबो लो, वह शांत हो सका। कबीर ने पुरी से अस्पृश्यता को दूर कर दिया, किंतु गोरखनाथ की धृष्टता

के कारण, उनके दर्शन योगियों को उपलब्ध न हो सके (लक्ष्मण बोध, भा० ५)। ये उपाख्यान इन पुस्तकों में केवल थोड़े से ही परिवर्तनों के साथ यत्र-तत्र दिये मिलते हैं। और इनके उल्लेख 'कबीरसागर' के बहुत से अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं।

इन ग्रंथों में से कई एक में कबीर के, कलियुग में रहकर किये गये उद्धार सम्बन्धी प्रयत्नों के वर्णन मिलते हैं। हजरत मुहम्मद (मुहम्मद बोध, भा० ६), बल्ख के सुलतान इब्राहिम अधम (सुल्तान बोध, भा० ६), विष्णु के वाहन गरुड़ (गरुड़ बोध भा० ५), लंका के राजा अमरसिंह जिसे कबीर ने भयकर नरकों को दिखला दिया था (अमरसिंह बोध, भा० ४)। काशी के वीरसिंह बघेल जिन्होंने कबीर की मृत्यु के अनंतर नवाब बिजली खाँ के विरुद्ध युद्ध ठानने की तैयारी की थी (वीरसिंह बोध, भा० ४), जलंधर के राजा भूपाल (भूपाल बोध, भा० ५) जगजीवन नाम के एक राजा (जगजीवन बोध, भा० ५) दिल्ली के शाह सिकंदर लोदी और अहमदाबाद के नवाब दरियाखाँ (कमालबोध, भा० १०) श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा राममोहन जिसका राज्य कश्मीर तक फैला हुआ कहा जाता है (गुरु माहात्म्य, भा० ११) आदि सभी के लिए कहा गया है कि उन्होंने कबीर की शरण माँगी थी और उन सबको उन्होने वचन लिया था। ज्ञानप्रकाश (भा० ४) में इस बात का पौराणिक वर्णन आता है कि धर्मदास का शिष्यत्व किस प्रकार प्राप्त किया था।

चौका स्वरोदय (भा० ७) और सुमिरण बोध (भा० १०) में कबीरपंथ में प्रचलित उपासना-पद्धतियों की चर्चा आती है और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की चौका, आरती, तिनका तोड़ना आदि सम्बन्धी विधियों के वर्णन पाये जाते हैं। अमरमूल (भा० ७) में पान परवाना, पारस एवं अमरमूल की विधियों की भी उपयोगिता बतलायी गई है। विवेकसागर (भा० ३) तथा धर्मविधि (भा० ६) में साधुओं एवं गृहस्थों के आचार-धर्म निरूपित किये गये हैं। कायापंजी, पंचमुद्रा,

संतोषबोध (सभी भा० ८) और स्वासगुंजार (भा० १०) में गुह्यविद्या की बातें दी गई हैं। कर्मबोध (भा० ७) में कर्म व उसके परिणामों का वर्णन है। ज्ञानबोध, भवतारणबोध, मुक्तिबोध और कबीरबानी (सभी भा० ७), नाम की सची महिमा का वर्णन करते हैं और उन अन्य बहुत सी बातों की भी चर्चा करते हैं जो, धर्मदास के अनुयायियों के अनुसार धार्मिक जीवन के लिए आवश्यक हैं।

कबीरपंथ ने हिंदुओं आदि के वर्तमान पौराणिक साहित्य से भी लाभ उठाया है और उनके आधार पर अपने आदर्शों व भावनाओं के प्रचार का प्रयत्न किया है। 'आगम निगमबोध' (भा० १०) में भिन्न-भिन्न धार्मिक संप्रदायों और उनके प्रचारकों जैसी प्रकीर्णक बातों के वर्णन पाये जाते हैं।

उग्रगीता (भा० ८) में कबीरपंथी-विचारानुसार 'भगवद्गीता' की बातें दी गई हैं। कहीं-कहीं तो महत्वपूर्ण स्थलों पर मूल का अक्षरशः अनुवाद तक मिलता है। मुख्य विषय तथा संवादों की संख्या तक में अंतर नहीं दीखता। कृष्ण से अंत में निर्गुण भक्ति का उपदेश दिलाया गया है और कहा गया है कि निर्गुण सगुण से श्रेष्ठ है किंतु वास्तविक परमात्मा निर्गुण से भी परे है। जैनबोध में जैनधर्म का वर्णन है जिसे कबीरपंथी लोग उसके अहिंसा-सिद्धान्त के कारण महत्व देते हैं। अलिफनामा (भा० ७) एक उपदेशात्मक ग्रंथ है जिसका प्रत्येक पद्य फारसी वर्णमाला के अक्षरों से आरम्भ होता है।

कबीरबोध (भा० ६) मूल से कबीरपंथ की रचना समझा जाता है। यह गोरखनाथ के मुस्लिम अनुयायी बाबा रतनहाजी की कृति जान पड़ता है। यह भी बहुत संभव है कि यह ग्रंथ गोरखपंथ व कबीरपंथ के बीच की एक कड़ी सिद्ध हो जाय। कबीरबानी (भा० ७) नाम सूचित करता है कि यह कबीर की रचना है किंतु इसके अंतर्गत सं० १७७९ वि० विषयक भविष्यवाणी के आने के कारण यह उस समय के पीछे की रचना जान पड़ती है। जीवधर्मबोध

(भा० ११) एक बहुत आधुनिक ग्रंथ है क्योंकि इसमें संसार के सभी धर्मों की चर्चा की गई है और इसमें कतिपय भाषाविज्ञान के प्रश्न तक छेड़े गये हैं। कबीरचरित्रबोध एक गद्य ग्रंथ है और कदाचित् संपादक की ही रचना है जिसमें कबीर का जीवनचरित्र, पौराणिक ढग से लिखा गया है। गद्य की कुछ अन्य रचनाएँ भी यत्र-तत्र पायी जाती हैं जिनमें से कुछ तो अवश्य ही संपादक की कृतियाँ हैं।

'मुक्तिविधान' नामक ग्रंथ में ब्रह्म, माया, जीवात्मा आदि का विवेचन है और कुछ ऐसी धार्मिक बातें भी उसमें दी गई हैं जिनसे पता चलता है कि धर्मदास किस प्रकार कबीर के शिष्य हुए थे। विल्सन साहब ने इसका रचयिता सुरतगोपाल को माना है जो कबीरपंथ की काशीवाली शाखा के प्रवर्तक थे। किंतु काशीवाली शाखा इस प्रकार के साहित्यिक प्रयत्नों से पूर्णतः मुक्त है और यदि उसने कभी ऐसा कदम उठाया भी है तो वह 'बीजक' ग्रंथ की टीका-टिप्पणियों तक ही सीमित रह गया है।

'निर्भय ज्ञान' 'भेदसार' व 'आदि टकसार' जैसे कुछ अन्य ग्रंथ हैं जिन्हें हम कबीरसागर में सम्मिलित पुस्तकों की श्रेणी में रख सकते हैं। गोरखगोष्ठी व रामानंदगोष्ठी में कबीर के साथ उन महात्माओं की बातचीत करायी गई है।

इन रचनाओं का महत्त्व इस बात में है कि इनके द्वारा पता चल जाता है कि कबीर के उपदेशों को उनके अनुयायियों और विशेषकर धर्मदासी शाखावालों के कारण कौन सा रूप मिल गया। उन्हें देखने पर उन्हें कबीरकृत नहीं स्वीकार किया जा सकता। उनके आधार पर उक्त शाखा का इतिहास लिखने में भी सहायता मिल सकती है। उदाहरण के लिए 'अनुरागसागर' से पता चलता है कि धर्मदास से छठी पीढ़ी में धर्मदासी शाखा की महंती के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में गंभीर झगड़े हुए थे। उसमें कबीर के उपदेशों पर आश्रित अन्य पंथों के ऊपर किये गये दोषारोपणों के उदाहरण भी मिलते हैं। अनुरागसागर एवं अन्य

ऐसे ग्रंथों के अनुसार कलियुग में कबीर उन्हीं के उद्धार के लिए प्रयत्न करते हैं जो निरंजन के प्रति वचनबद्ध नहीं रहा करते। फिर भी निरंजन ने कबीर को धोखा देकर उनसे नाम का रहस्य जान लिया है और उसके आधार पर उसने निर्गुणमत के द्वादश पंथ प्रचलित कर दिये हैं जिनसे धार्मिक पुरुषों को उस धर्मदास के अनुयायियों की शरण में जाने में बाधा पहुँचती है जिनके वंश के लिए कबीर ने निरन्तर बयालिस पीढ़ियों तक नेतृत्व करने की परंपरा चला दी थी। इन द्वादश पंथों में नारायणदास (मृत्यु अंधादूत) सुरतगोपाल (अंधअचेत), कमाल (मनमकरंद) प्राणनाथ (अक्लिभंग अथवा विजयदूत) और जगजीवन (नकटानैन) द्वारा प्रचलित किये पंथ आते हैं और उनके प्रवर्तकों के नाम अवज्ञापूर्वक रचे गये हैं जैसा कि कोष्ठ में दिये गये शब्दों से प्रकट है। कहा जाता है कि कबीर ने तीन अन्य काल्पनिक वंशों को भी इसी प्रकार आदेश दिये थे जिनमें कुशाहर द्वीप के कर्णाटक नगर के २७ पीढ़ियोंवाले चतुर्भुजदास प्लव द्वीप के दर्भंगा नगर के १६ पीढ़ियोंवाले बंकेजी और शाल्मली द्वीपस्थ महापुर नागरिक ७ पीढ़ियोंवाले सहतेजी हैं। किंतु ऐसी रचनाओं को कबीर के वास्तविक उपदेशों का प्रचार करनेवाला ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। इनका उनकी अपनी कृति मान लिया जाना तो और भी असंभव है।

उक्त सभी रचनाएँ १८ वीं ईस्वी शताब्दी या उसके पीछे की हैं। इनमें से सबसे प्राचीन 'सुखनिधान' होगा जिसमें दिये गये पौराणिक उपाख्यान उतने विस्तृत नहीं हैं। 'अनुराग सागर' उस समय की रचना है जब प्राणनाथ (सन् १६१८-१६९४ ई०) ने धामी संप्रदाय का प्रवर्त्तन कर दिया था और जगजीवनदास (जन्म सन् १६७०) ने अपना सत्तनामी संप्रदाय प्रचलित किया था। इसकी सबसे प्राचीन प्रति, स्वामी युगलानन्द के अनुसार, प्रबोध नाम 'बाला पीर' (सन् १७१९-१७४४ ई०) के समय की है और यही उसका वास्तविक

समय भी होगा। सिद्धांतों के विकास को ध्यान करते हुए, कहा जा सकता है कि 'ज्ञानसागर' इससे कुछ प्राचीन होगा और अन्य पीछे के होंगे।

कबीर के शिष्यों की रचनाओं में धर्मदास की शब्दावली (वेल-वेडियर प्रेस) महत्वपूर्ण है। कबीरपुत्र कमाल की भी बानी मिलती है यद्यपि वह अभी तक छपी नहीं है।

सिख, गुरुओं की रचनाओं का सबसे महत्वपूर्ण व प्रामाणिक संग्रह 'आदि ग्रन्थ' है। यद्यपि, सिखधर्म भी आज अन्य धर्मों की ही भाँति एक संप्रदाय बन गया है फिर भी 'आदि ग्रंथ' सांप्रदायिक विचारों से नितांत शून्य है। यह भले नहीं कहा जा सकता कि सिख गुरुओं के अतिरिक्त अन्य सन्तों की बानियाँ जो उसमें संगृहीत हैं संमिश्रण युक्त हैं। पुस्तक साधारण प्रकार से गुरुमुखी लिपि में छपा करती है, किंतु तारनतरन के एम० एस० वैद्य ने इसका एक नागरी लिपि में छपा संस्करण भी निकाला है। डा० ट्रम्प ने इसका अनुवाद किया था और मेकालिफ़ साहब ने भी इसका एक पूरा व उपयोगी अनुवाद कर डाला है। इसकी प्रारम्भिक रचना 'जपुजी' का प्रो० तेजसिंह द्वारा किया हुआ अनुवाद सुन्दर व शुद्ध भी है. 'संतबानी संग्रह' के सम्पादक ने गुरु नानक की कुछ ऐसी रचनाओं को संगृहीत किया है जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। पता नहीं उन्हें कौन सा महत्व प्रदान किया जाय।

दादू की बानियों के भी कई अच्छे संस्करण उपलब्ध हैं, किंतु यह कहा नहीं जा सकता कि वे क्षेपकों से कहाँ तक युक्त हैं। पं० चन्द्रिका-प्रसाद का संस्करण सबमें श्रेष्ठ समझा जाता है। उसके अतिरिक्त पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा वाला संस्करण, वेलवेडियर प्रेसवाला संस्करण (दो भाग) और ज्ञानसागर वाला संस्करण भी उपलब्ध हैं। पं० तारादत्त गैरोला ने दादू के चुने हुए पदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। यह अनुवाद ('साम्स

आफ दादू' इंडियन बुकशाप, बनारस) शुद्ध व विश्वसनीय है। दादू के शिष्यों में से केवल कुछ की ही रचनाएँ छपी हैं। सुन्दरदास का 'सवैया' ग्रंथ या 'सुन्दर विलास' (वेलवेडियर प्रेस) बहुत लोकप्रिय है। जयपुर के पुरोहित हरनारायण शर्मा ने इनकी चुनी हुई रचनाओं का एक सुन्दर संग्रह 'सुंदरसार' (का० ना० प्र० सभा) नाम से निकाला है और इनकी सारी रचनाओं का भी एक प्रामाणिक संस्करण तैयार किया है।* सुंदरदास की रचनाओं का एक बहुत अच्छा संस्करण अहमदाबाद के सैयद साले मुहम्मद नूरानी ने, प्रसिद्ध वेदांती व दादूपंथी पीताम्बर जी द्वारा संपादित कराकर, प्रकाशित किया है। रज्जबजी की भी 'बानी' प्रकाशित हो चुकी है। दादू के अन्य अनेक शिष्यों की रचनाओं को भी मैंने उस बहुमूल्य हस्तलेख से पढ़ा है जिसे पं० गैरोला ने, बड़ी उदारता के साथ मुझे देखने को दिया था और जिसे जयपुर के डा० दलजीतसिंह ने उन्हें भेंट किया था। मैंने इसे, पं० गैरोला के ही स्थान के नाम पर, 'पौढ़ी हस्तलेख' की संज्ञा दे दी है।

यह हस्तलेख आध्यात्मिक साहित्य का एक वास्तविक पुस्तकालय ही कहा जा सकता है। इसमें चार खंड हैं। पहले में 'पंचबानी', है जिसमें दादूपंथ द्वारा मान्य दादू, कबीर, नामदेव, रैदास, और हरिदास की रचनाएँ गरीबदास के भी पदों के साथ संगृहीत हैं। दूसरे में गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, कणेरीपाव, बालानाथ जैसे बहुत से योगियों की बानियाँ दी गई हैं। तीसरे में दादू के कतिपय शिष्यों, जैसे सुन्दरदास (सवैया, ज्ञानसमुद्र और अष्टक) गरीबदास (अनभय प्रबोध ग्रंथ) रज्जब जी आदि की रचनाएँ सम्मिलित हैं। चौथे में रज्जब-द्वारा किया

---

*—अब यह संस्करण, कलकत्ते की 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' द्वारा, सं० १९९३ में प्रकाशित भी हो चुका है। इसका नाम 'सुंदर ग्रंथावली' है जिसके दो खण्ड हैं।

—अनुवादक

हुआ, भिन्न-भिन्न संतों के वचनों का एक संग्रह है जिसे उन्होंने रचयिताओं के संप्रदायों का ध्यान न रखते हुए, केवल रचनाओं के मत-मतानुकूल होने की दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है। यह 'सर्वांगी' नामक संग्रह ग्रंथ संतमत सम्बन्धी विचारों का पूरा सारग्रंथ भी है। दुर्भाग्यवश इसका हस्तलेख बहुत दिनों से अधूरा चला आता है और इसके आदि एवं अंत के कुछ पृष्ठ नष्ट हो चुके हैं। इसी कारण इस हस्तलेख का ठीक-ठीक लिपिकाल भी निश्चित नहीं किया जा सकता। फिर भी इसका कागज कमसे कम दो सौ वर्ष पुराना है। संभवतः यह रज्जबदास के ही लिए शाहजहाँ के शासन-काल में लिखा गया होगा। आरम्भ के पृष्ठों के नष्ट हो जाने के कारण खो गई हुई दादू बानी फिर से लिख दी गई है। इस नये रूप में लिखित अंश में पद्यों की संख्या पहले से अधिक है और इससे पता चलता है कि सर्वप्रथम संगृहीत व संपादित होने के अनंतर भी ये बानियाँ बढ़ती गई हैं।

यह हस्तलेख तथा 'आदिग्रंथ' कबीर के पूर्वकालीन संतों के अध्ययन में बहुमूल्य सहायता पहुँचाते हैं। नामदेव एवं रैदास की बानियों को वेलवेडियर प्रेस ने भी प्रकाशित किया है।

मुझे पता चला है कि प्राणनाथ के भी कुछ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं किंतु मुझे उनमें से एक भी नहीं मिल सका है। उनके हस्तलेखों को प्राप्त करने के भी मेरे प्रयत्न असफल हो गये। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की भिन्न-भिन्न खोज-रिपोर्टों में प्रकाशित केवल 'प्रगटबानी' 'ब्रह्मबानी', 'प्रेमपहेली', व 'तारतम्य' के कुछ अवतरणों से ही मुझे संतोष करना पड़ा है। शिवनारायण एवं दीनदरवेश की रचनाओं का भी मैं उससे अधिक उपयोग न कर सका जितना मुझे शिवव्रतलाल के 'सुरति शब्दयोग कल्पद्रुम' तथा विल्सन के 'रिलिजस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज़' में प्रकाशित कतिपय अवतरणों अथवा अनुवादों से उपलब्ध हुआ। किंतु उनमें से हो मुझे अपने काम की सामग्री न मिल सकी। शिवनारायण

के 'संत सरस' नामक ग्रंथ को सभा में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति से मुझे कुछ भी लाभ न हो सका। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा के पास दीनदरवेश की बानियों का एक संग्रह है किंतु मुझे वह भी न मिला। राधास्वामी साहित्य में से शिवदयाल के सारवचन (दो भाग) राय सालिगराम बहादुर की प्रेमबानी (पाँचवाँ भाग) और जगतप्रकाश तथा साहिब जी के नाटक 'स्वराज्य' के अध्ययन करने का मुझे अवसर मिला था।

संत साहित्य को प्रकाश में लाने के कार्य में वेलवेडियर प्रेस ने विशेष भाग लिया है। अपनी 'संतबानी सीरीज' के द्वारा उसने सारे उपलब्ध संत साहित्य को सर्व साधारण के हाथों में पहुँचाने का प्रयत्न किया है। कबीर, धर्मदास, नामदेव, रैदास और दादू की उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ भी इस (सीरीज) में निकल चुके हैं:—

'मलूकदास की बानी', जगजीवनदास की 'शब्दावली' (२ भाग), पलटू साहब की 'बानी' (३ भाग) दूलमदास की 'बानी', यारीसाहब की 'रतनावली', केशवदास की 'अमी घूंट', बुल्लासाहब की 'शब्दावली', गुलाल साहब की 'बानी' और भीखासाहब की 'शब्दावली'।*

*—[यारी और उनकी परम्परा की रचनाओं के एक महत्वपूर्ण संस्करण का सम्पादन उस परम्परा के वर्तमान महन्त बाबा रामबरनदास ने 'महत्माओं की बानी' नाम से किया है। इस पुस्तक द्वारा बावरी, बीरू, ललना+ व शाह फकीर जैसे कई ऐसे संतों के पद्य प्रकाश में आ गये हैं जो अभी तक अज्ञात थे और केशवदास, बुल्ला, गुलाल और भीखा की कुछ ऐसी रचनाएँ भी प्रकाशित हो गई हैं जिनका अभी तक पता नहीं था।]

+—वास्तव में 'ललना' नामक किसी भी सन्त का पता नहीं। 'महात्माओं की बाणी' में प्रकाशित पृ० ९५-९७ वाले पद्य के रचयिता

चरनदास—'बानी' (दो भाग)—दयाबाई—'दयाबोध' सहजो-बाई—'सहजप्रकाश', दरिया (बिहारवाले)—'दरियासागर', दरिया (मारवाड़वाले)—'बानी', गरीबदास—'बानी' (उनकी चुनी हुई रचनाओं का संग्रह) तुलसीसाहब 'शब्दावली' (दो भाग), 'रत्न-सागर' व 'घट रामायन' (दो भाग) मैंने मुं० देवीप्रसाद-द्वारा संपादित 'घटरामायन' ग्रन्थ भी देखा है किंतु अपने काम के लिए, 'बेलवीडियर प्रेस' वाले को ही अच्छा समझा है। 'संतबानी संग्रह' 'संतबानी' के संपादक द्वारा किया गया एक उपयोगी संग्रह है जिसमें थोड़े में संत साहित्य का सार सा आ गया है।

धार्मिक सुधार-संबंधी मध्यकालीन आंदोलन की चर्चा अधिक वा थोड़े में कई उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा की जा चुकी है, जैसे, डा० भांडारकर (शैविज़्म व वैष्णविज़्म), ग्रियर्सन (माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर), विल्सन (रेलिजस सेक्ट्स आफ़ दि हिंदूज), (कार्पेंटर थीइज़्म इन मिडीवल इंडिया) और फर्क़ुहर (आउटलाइंस आफ रेलिजस लिट्रेचर इन इंडिया)। डा० दासगुप्त ने अपने ग्रंथ 'हिंदू मिस्टिसिज़्म' के अंतर्गत एक अध्याय साधारण रहस्यवाद पर भी दिया है। जिसमें उन्होंने इन संतों के विचारों पर सरसरे ढंग से चर्चा कर दी है। महर्षि शिवव्रतलाल ने अपने 'सुरत शब्दयोग कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ की भूमिका में जो विल्सन के 'रेलिजस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज' जैसी ही रचना है, राधास्वामी मत के दृष्टिकोण से संतमत का निरूपण किया गया है। बा० सम्पूर्णानन्द ने 'विद्यापीठ' नाम की त्रैमासिक पत्रिका में एक सुन्दर किंतु छोटा सा लेख संतमत के विषय में दिया है।

२. संतों के विषय में साहित्य

भीखा साहब हैं (दे० पृ० ९६ की १८ वीं पंक्ति) 'ललना' शब्द का प्रयोग यहाँ 'राग सोहर' की एक विशेषतामात्र है।

—अनुवादक।

यदि व्यक्तिगत रूप से विचार किया जाय तो इन संत कवियों में कबीर की चर्चा सबसे अधिक की गई दीख पड़ेगी। मिश्रबंधुओं ने अपने हिंदी 'नवरत्न' में, वेस्टकाट ने 'कबीर एन्ड दि कबीर पंथ' में और इधर डा० के ने अपने 'कबीर एन्ड हिज फालोवर्स' में उनके सिद्धांतों के सम्बन्ध में कुछ लिखा है। डा० रवींद्रनाथ ठाकुर के 'वन हंड्रेड पोएम्स आफ कबीर' की अपनी सुन्दर भूमिका में एवलिन अंडरहिल ने भी कबीर के रहस्यवाद की एक झलक दिखलायी है। मेकालिफ ने नानक की रचनाओं की भूमिका लिखते समय (अपने सिखिज़्म ग्रंथ में) तथा पिंकाट ने 'डिक्शनरी आफ़ इस्लाम' में संगृहीत अपने निबन्ध में नानक के सिद्धांतों पर प्रकाश डाला है। राय सालिगराम ने अपने 'राधास्वामी मत प्रकाश' में तथा ब्रह्मशंकर मिश्र ने अपने 'डिस्कोर्स आन राधास्वामी फेथ' में राधास्वामी मत को पूर्णतः स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

संतों के रहस्यवाद के विभिन्न अंगों का अध्ययन करने से पहले मैंने निम्नलिखित ग्रन्थों को देखा है और उनसे सहायता भी ली है।

१. अनुरूप साहित्य

एवलिन अंडरहिल—'मिस्टिसिज्म' 'दि लाइफ आफ स्पिरिट एन्ड दि लाइफ आफ टुडे'।

विलियम जेम्स—'वेरायटी आफ रेलिजस एक्सपीरियंस'।

जे० हाउली—'सायकालोजी आफ मिस्टिसिज्म'।

विलियम किंग्सलैंड—'रेशनल मिस्टिसिज़्म; 'साइंटिफिक आइडिलिज्म'।

फासेट—'डिवाइन इमैजिनिंग'।

ए० बर्सली—'कन्सेप्ट्स आफ मॉनिज्म'।

बृहदारण्यक, छान्दोग्य, जाबाल, कठ, मुण्डक व तैत्तिरीय उपनिषद्।

आर० डो० रानाडे—'कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी।

जी० ए० जैकब—'कंकार्डेंस टू दि प्रिंसिपल उपनिषद्स एन्ड दि भगवद्गीता'।

दासगुप्त—'हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी'।

गोरखनाथ—'गोरक्ष पद्धति' (गोरक्षशतक के परिवर्द्धित संस्करण का पं० महेश्वर शर्मा द्वारा संपादित रूप)।

'जयमोग संहितातंत्र'—(अधूरा संस्करण जो बनारस के चौखम्बा से निकला है)।

एफ० जे० सी० फुलर—'योग'।

ए० एवलन—'दि सर्पेण्ट पावर'।

शहीदुल्ला—'ले शांत्स मिस्तीक्स'।

एच० डब्ल्यू० क्लार्क—'अवारिफुल मारिफ' (अंग्रेजी संस्करण)

खज़ाली—'तसव्वुफ'।

निकोल्सन—'मिस्टिसिज्म आफ इस्लाम'।

जे० एम० के० स्टुअर्ट—'क्रिटिकल एक्सपोजिशन आफ बर्गसांज फिलासफी'।

वेल्वेट्स्की—'वायेस आफ माइन्डस'।

रहस्यवाद के साहित्यिक अंग को समझने में नीचे लिखी पुस्तकें उपयोगी सिद्ध हुई हैं—

मम्मट—'काव्य प्रकाश'।

आई० ए० रिचर्ड्स—'प्रिंसिपिल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म'।

जयगोपाल बनर्जी—'कलकत्ता रिव्यू' में प्रकाशित यीट्स सम्बन्धी लेखमाला और विशेषतः 'यीट्स, हिज सिम्बालिज्म'।

स्पर्जन—'मिस्टिसिज्म इन इंगलिश लिटरेचर'।

संतों में से किसी एक की भी ऐसी जीवनी या जीवनियाँ उपलब्ध

नहीं जिनका आश्रय लिया जा सके। इस सम्बन्ध में भी कबीर की ही चर्चा अधिक मिलेगी।

४. जीवन-चरित संबंधी साहित्य

नाभाजी ने इन पर छः पंक्तियों का एक पद्य लिखा है। प्रियादास ने इनके विषय में अनेक उपाख्यान संग्रह किये हैं। कबीर-पंथी विचार-धारा लहनासिंह की 'कबीर कसौटी', परमानंद के 'कबीर मन्सूर' और 'कबीर सागर' की कतिपय रचनाओं, विशेषकर 'कबीर चरित्र बोध', में पायी जा सकती है। बिशप वेस्टकाट ने इनके जीवन-चरित के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण बातें छेड़ दी हैं जिनसे सभी सहमत नहीं हो सकते। डा० के ने ऐतिहासिक कबीर व पौराणिक कबीर के बीच अन्तर दिखलाने की गम्भीर चेष्टा की है। नानक व कबीर के पूर्ववर्त्तियों के विषय में मेकालिफ ने अपनी रचना 'सिखिज़्म' के क्रमशः प्रथम व षष्ठ भागों द्वारा बहुमूल्य सहायता प्रदान की है। हिंदी-सम्बन्धी खोज के क्षेत्र में काम करने वालों के पथ-प्रदर्शक मिश्र-बन्धुओं का 'विनोद' ग्रन्थ ऐसा है जिसे सभी को देखना पड़ता है। विल्सन का 'रेलिजस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज' 'संतवानी ग्रन्थ माला' के विभिन्न भागों की भूमिकाएँ तथा शिवव्रतलाल के 'सुरति शब्द योग कल्पद्रुम' की भूमिका प्रधान सामग्रियाँ हैं जिन पर इन संतों के जीवन-चरित आश्रित रखे जाते हैं। प्राणनाथ की जीवन चरित-सम्बन्धी बातों के लिए मैं नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों का ऋणी हूँ।

परिशिष्ट

(३) विशेष बातें

पृष्ठ १६ पंक्ति ७। हिंदू-मुस्लिम एकता के साधक गोरखनाथ—महान् योगी गोरखनाथ का आविर्भाव ईसा की दसवीं शताब्दी के पूर्व ही हो गया जान पड़ता है। उन्होंने मुस्लिम काजी को यह बात समझा देने की भरपूर चेष्टा की कि जिस तलवार का प्रयोग मुहम्मद ने किया था वह लोहे वा इस्पात की नहीं बनी थी, अपितु आध्यात्मिक प्रेम वा शब्द की बनी थी +। हिमालय पर प्रचलित जादू के एक मंत्र में स्पष्ट कहा गया है कि इस तपस्वी संत ने हिंदुओं तथा मुसलमानों अर्थात् दोनों को ही शिष्य बनाया था ÷। बाबा रतन हाजी जिन्हें मुस्लिम परंपरानुसार गूगा (लगभग १००० ई०) का गुरु माना जाता है गोरखनाथ के अनुयायी अथवा संभवतः उनके मुस्लिम शिष्य जान

+—महमद महमद न कर काजी, महमद का विषय विचारं।
महमद हाथ करद जे होती, लोहे गढ़ी न सारं॥
सबदे मारै सबद जिलावै।

जोगेश्वरी साखी।

÷—हिंदू मुसलमान बाल गुदाई दोऊ सहरथ लिए लगाई।
'रखवाली' मंत्र जो भूतों को हमसे दूर ही रखकर हमारी उनसे रक्षा भी करते है

पढ़ते हैं। प्रसिद्ध है कि वे मोहमंद नामक पर्वत पर निवास करते थे। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने कई मुसलमानों को योगमत में धर्मांतरित किया था। काबुल के योगी आज भी रतनहाजी के फकीर कहे जाते हैं †। रतनहाजी ने ही कदाचित् 'काफिर बोध' की रचना की थी जिसे कुछ लोग गोरखनाथ की और कबीर की कृति समझते हैं। 'अवलि सलूक' भी संभवतः उन्हीं की लिखी पुस्तक है। उन्होंने हिंदू मुस्लिम एकता के लिए किसी मुहम्मद नामधारी बादशाह से अनुरोध किया था।

पृष्ठ २६ पंक्ति ६। आनन्दभाष्य—मुझे विदित हुआ है कि इस ग्रंथ को स्वामी रामानंद की असली रचना मान लेना असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

पृष्ठ ६७ की २०-२३ पंक्तियाँ। कबीर ने कहा है कि "कलियुग में कलमा के प्रचारक" मुहम्मद को "ईश्वरीय शक्ति वा माया का ज्ञान नहीं था। ×"

पृष्ठ १०६ पंक्ति ३। कबीर ने ईश्वर का तीनों लोकों से परे होना एकसे अधिक स्थलों पर बतलाया है *। बिहार के दरिया ने भी यही कहा है +। कबीर ने ईश्वर को तीन पदों से अतिरिक्त चौथा

---

†—गोरक्ष तत्वज्ञानदर्श, पृ० १८६।

×—जिन कलमा कलि माहि पढ़ाया (पठाया)।
कुदरत खोज तिनहु नहि पाया ॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० २८८; 'बीजक' (रमैनी ३६)।

*—कहै कबीर तिहुरे लोक विवरजित, ऐसा तत्त अनूप।
क० ग्रं० (१६३–२२०)।

+—तीन लोक के ऊपरे अभय लोक विस्तार।
सत्त सुकृत परवाना पावै पहुँचे जाय करार॥
संतबानी संग्रह, भा० १, पृ० १२३।

भी कहा है ÷ और यही भावना नीचे उद्धृत पंक्तियों में भी व्यक्त होती है ×। कहै कबीर हमारे गोव्यंद। चौथे पद में जन को ज्यंद ॥

पृष्ठ १०९ पंक्ति १४। भँवरगुफा—कबीर ने स्वयं कहा है कि भीतर के कमल (हृदय) में ब्रह्म का निवास है जिसमें मन (अपनी भौतिक प्रवृत्ति का परित्याग कर) अनुरक्त हो जाता है ⊥। जोगमंजरी के अनुसार, जो कदाचित् किसी सहजानन्द जोगी की रचना है, भँवर गुफा ब्रह्मरंध्र का ही पर्याय है ‡ जिसकी पुष्टि निर्गुणियों द्वारा भी होती हुई जान पड़ती है। योगमत में 'सुन्न' का भी प्रयोग ब्रह्मरंध्र के लिए होता है।

÷—राजस तामस सातिग तीन्यू, ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जे जन चीन्हें तिनहिं परम पद पाया ॥
क० ग्रं०, (१५०-१४८)।

×—देखिये, क० ग्रं० पृ०, (२१०-३६५)।
तीन सनेही बहु मिलें, चौथे मिले न कोय।
सबै पियारे राम के, बैठे परवस होय ॥
वही (६७-९)।

⊥—अंतरि कँवल प्रकासिया, ब्रह्मवास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया, जाणैगा जन कोइ ॥
वही (१२७)।

बंकनालि के अंतरे, पच्छिम दिसा के बाट।
नीझर झर रस पीजिए, तहाँ भँवर गुफा के घाट ॥
वही (८८,४)।

‡—भव ब्रह्मरंध्र ब्रह्म को धामा। भ्रमर गुफा है ताको नामा ॥
जहाँ सहसदल कमल ध्यावै। नासा आगे दृष्टि रहावै ॥
'जोगमंजरी' भा० ३ (मेरी हस्तलिखित प्रति, पृ० १९४)।

पृष्ठ १११ पंक्ति ८। परात्पर—केसोदास ने भी कहा है "अकेला सत्गुरु ही सत्यपुरुष है जो पिंड एवं ब्रह्मांड के परे है (जो व्यष्टि शरीर एवं समष्टि शरीर स्वरूप हैं)। वह अंतिम दूरी से भी दूर है और उच्चातिउच्च से भी ऊँचा है। वहाँ तक के लिए न तो कोई मार्ग है, न चौमुहानी है न गली है और न कूचा है।√

पृष्ठ ११२ पंक्ति ४। कबीरपंथ और विशेषकर उसकी धर्मदासी शाखा के अंतर्गत निरंजन-सम्बन्धी भावना के विकास के लिए 'ग्रंथसूची' (परिशिष्ट २ पृ०) देखिये।

पृष्ठ ११५ पंक्ति १२। यद्यपि कबीर अद्वैतवादी थे फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कबीरपंथी भी वही हैं। कबीर के प्रति उनकी श्रद्धा ने उन्हें कबीर के अद्वैतवादी सिद्धांत से विपथ कर दिया, क्योंकि, वैसा होने पर उनमें कबीर के साथ समानता का भाव आ जाता जो उनके लिए अधर्म की बात समझी जाती।* इसी कारण वे विशिष्टाद्वैती बन गये। फिर पीछे जब हिंदू एवं मुस्लिम भावनाओं का प्रभाव रोका न जा सका तो, निरपेक्ष तक की जगह कबीर को ही उसका धर्मदूत वा अवतार माना जाने लगा।† धर्मदासी शाखा के अनुसार

√—सतगुरु सत्य पुरुष हैं अकेला। पिंड ब्रह्मंड ते बाहर मेला॥
दूरिते दूर ऊँच ते ऊँचा। बाट न घाट गली नहिं कूचा॥
'महात्माओं की बानी' पृ० ३७३।

*—पारस परसे कंचन भौ, पारस कभी न होय।
पारस के अरस परस ते, सुवरन कहावै सोय॥
'बीजक' (साखी, ३४२)।

†—समरथ को परवाना लाये, हंस उवारन आये।
कबीर शब्दावली, भा० २, पृ० ४७।
हम हैं हजूरी अवगत ब्रह्म के, हंस उवारन आये हो।
धर्मदास की शब्दावली, पृ० ३१।

वे सर्वोच्च पुरुष के कई पुत्रों में एक समझे जाने लगे और निरपेक्ष परमात्मा की भावना का परित्याग कर दिया गया। (परिशिष्ट २ देखिये)।

पृष्ठ १२६ पंक्ति २६। माया—कबीर के कथनानुसार, माया उस गाय के दूध की भाँति अनस्तित्व में है जो ब्यायी नहीं है, अथवा उस श्रृंगी की ध्वनि के समान है जो खरहे की सींग की बनी है अथवा उस पुत्र के रमण करने की भाँति है जिसका जन्म वन्ध्या के गर्भ से हुआ है। फिर भी सापेक्षिक क्षेत्र के भीतर इस नितांत अभावरूपिणी माया को नष्ट कर देना महा कठिन है, क्योंकि माया की लता के अपने फलों के साथ नष्ट कर दिये जाने पर भी, इसकी सूखी डाल से, जलाये जाने पर भी कोंपल निकल आती है।+

पृष्ठ १५४ पंक्ति १ (पाद टिप्पणी)। 'ग्रन्थ' में यह पद नानक का माना गया है। यही भाव अगले पद में भी पाया जाता है, जो 'ग्रन्थ' के अनुसार कबीर की रचना है।—राम रतन पाया करत विचारा, (मैंने राम को विचार करते करते ही प्राप्त कर लिया)÷ 'प्रगटे विश्वनाथ जगजीवन मैं पाये करत विचारा'× भी देखिये।

सोरह संख के आगे समरथ जिन जग मोहि पठाया।
क० श०, भा० ३, पृ० २।

+—आंगणि वेलि अकास फल, अणब्यावर का दूध।
ससा सींग की धुनहड़ी, रमैं बाँझ का पूत॥
अब तो ऐसी ह्वै पड़ी, ना तूंबड़ी ना वेलि।
जालण आंणी लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि॥
'कबीर ग्रंथावली' पृ०२६।

÷—क० ग्रं० पृ० ३१ (३१५, १६१)।

×—वही, पृ० १७६ पद २६७।

पृष्ठ १५८ पंक्ति ३। गुलाल ने इस बात को बड़ी दृढ़ता के साथ कहा है कि निर्गुणमत वेदांत के अध्यात्म के सिवाय कुछ भी नहीं है।†

पृष्ठ १६५ पंक्ति ६। राम-गुलाल के अनुसार कबीर का मत रामनत है। कबीर ने स्वयं उपदेश दिया है कि 'ररा' का टोप एवं 'ममा' का कवच पहनो और ये दो अक्षर 'राम' शब्द के अंग हैं।* फिर भी कबीर इस बात की घोषणा करते समय कभी नहीं थकते कि लोग 'राम' शब्द का अर्थ नहीं जानते।÷ इन्हीं की भाँति अन्य अनेक संत भी अवतारों को उनके सम्मानित पदों से च्युत करने के सम्बन्ध में दृढ़ हैं। रज्जबदास कहते हैं कि "परशुराम एवं रामचन्द्र दोनों सम-कालीन थे और आपस में द्वेष भी रखते थे फिर किसे ईश्वर माना जाय ?"× "दत्तात्रेय, गोरख हनुमान व प्रह्लाद में से किसी ने भी शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था और न शिक्षा पायी थी और फिर भी अमर हो गये, किन्तु कृष्ण का प्राण एक ही तीर में चला गया था।‡"

---

†—कबिरा राम मना सो नहीं। हिंदू तुरक सबन की कही ॥
'महात्माओं की वाणी' (अ० ४)।

*—ररा करि टोप ममा कर बक्तर।
'क० ग्रं०', (२०६-२६०)।

÷—है कोइ राम नाम बतावै। वस्तु अगोचर मोहि लखावै ॥
रामनाम सब कोई बखानै। रामनाम का मरम न जानै ॥
कहैं कबीर कछु कहत न आवै। परचै बिना मरम को पावै ॥
वही, (१६८-२१८)।

×—परसुराम औ रामचन्द भये सु एकहि बार।
तो रज्जब है द्वैषिकरि को कहिए अवतार ॥
'सर्वांगी' (साखी, ४२-२६)।

‡—दत्त गोरख हनुवंत प्रह्लाद। सास्त्री पढ़िए न सुणिए साद ॥
(वाद)।

बपना कहते हैं कि "वास्तव में इस प्रकार के स्वामी तथा उनके भक्तों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। और जो कुछ है वह केवल श्रेणी मात्र का है। दोनों को जन्म-सम्बन्धी संकट सहने पड़े थे इसलिए एक जहाँ शक्तिशाली हाथी की भाँति है तो दूसरा छोटी चींटी सा है।"= गुलाल ने कहा है कि "अवतारों को भी, अन्य लोगों की ही भाँति, मुक्ति के लिए ईश्वर की भक्ति करनी पड़ती है।√" गुलाल शिष्य भीखा ने, इसके विपरीत, अवतारों के प्रति एक संतुलित भावना बना रखी है। उनका कथन है कि "राम कृष्णादि अवतारों का मर्म किसने जान पाया है। ब्रह्म केवल एकमात्र है; किंतु भक्ति के लिए अनेक देव अस्तित्व में आ गये हैं।"⊥

पृष्ठ १७३ पंक्ति ८। मूर्तिपूजा—गुलाल ने यह भी कहा है कि, "जो लोग पत्थर पूजते हैं और तीर्थों में श्रद्धा रखते हैं वे उनके समान हैं जो धूल को तौलते हुए उसे आटा बतलाया करते हैं।"* "क्या

मारे मरे न सिद्ध सरीर। कृष्ण कालबसि एकहि तीर॥
वही, साखी ४४।

=—ठाकुर चाकर की किर्तम काया। जोनी संकट दोन्यो आया॥
एक कुंजर एक कीड़ी कीना। एकहि भक्ति घरोरी दीना॥
नासो बूढ़ा नासो बाला। बपना का ठाकुर राम निराला॥
वही, ४२, ८।

√—सुर, नर, नाग, मानुष औतार। बिनु हरि भजन न पावै पार॥
म० बा०, पृ० २८६।

⊥—राम-कृष्ण अवतार को विरला पावै भेव।
भीखा केवल एक ब्रह्म है, भेद उपासन देव॥
वही, पृ० ८८।

*—पूजहि पत्थर जल को थान। जोखत धूरि कहत है पिसान॥
म० बा० (२८६)।

पूजा के लिए अपने ईश्वर को मोल लेना और फिर उसी से मुक्ति की अभिलाषा भी करना अनियमित आचरण नहीं है ?" कबीर कहते हैं कि, "पंडितों ने यह एक बुरी प्रथा चला दी है। जिस कारण सारी पृथ्वी पर पत्थर बिखेर दिये जाते हैं।" 'ये लोग मूर्ति को कपड़े पिन्हाते हैं, उसके माथे पर चंदन लगाते हैं और उसे माला भी दे देते हैं, जान पड़ता है कि लोगों ने राम को खिलौना मान लिया है।"†

पृष्ठ २४३ पंक्ति १४। प्रेम का द्वैधभाव—अद्वैतवादी भीखा भी अपने इस कथन-द्वारा लगभग इसी प्रकार बतलाते हैं कि "अपने प्रियतम को अपने नेत्रों की सेजपर पौढ़ाने का आनन्द हृदय में ही आ सकता है मैं तो कहता हूँ कि ब्रह्म एवं आत्मा एक हैं, किन्तु मिलन के उस आनन्द को कौन छिपा सकता है ?"+ और भीखा का अभिप्राय यहाँ पर स्पष्टतः द्वैतप्रभावित नहीं है। दादू भी कहते हैं कि, "जब तक द्वैत की भावना है तब तक प्रेमरस का पान करो; तभी तक शरीर

---

†—ठाकुर पूजहि मोल ले, मन हठि तीरथ जाहि।
देखा देखी स्वाग धरि, भूले भटका खाहि॥

क० ग्रं० (२५४-७१)।

कागद केरी ओबरी, मसि के कर्म कपाट।
पाहण बोई (री) पिरथिमी, पंडित पाड़ी बाट॥

वही, (४३२, २५०-२२)।

माथे तिलक हथि माला बाना। लोगन राम खिलौना जाना॥

वही, २९३।

+—नयन सेज पिय पवढ़ाई, सो सुख मौज दिलहि में जनाई।
बोलत ब्रह्म आतमा एके, भाव मिलन को सकै दुराई॥

म० बा०, पृ० ११६।

अमर है" उनका फिर भी कथन है कि, इस द्वैधभाव में भी, मैं वह निरपेक्ष ब्रह्म हूँ जिसके लिए एक और दो का प्रश्न नहीं उठ सकता।"×

पृष्ठ १४३ पंक्ति २। द्वैधीमाया—माया के भी इस द्वैधीभाव के विषय में रज्जब ने कहा है, 'कि मन और माया के समान कोई अब शत्रु वा मित्र नहीं है। पाप और पुण्य के लिए यही दोनों उत्तरदायी हैं" एक अन्य स्थल पर वे यह भी कहते हैं कि, पुत्र (साधक) माता (माया) को खा लेता है और माता (माया) अपने पुत्र (सांसारिक मनुष्य) को खा जाती है।÷ माया का नितांत परित्याग साधारण काम नहीं है। ऐसा करते समय सावधान रहना पड़ता है। कबीर का कहना है "मैंने बड़े प्रयत्न के साथ एक नाव (सर्प) समुद्र के बीच में पायी है। यदि मैं इसे पूर्णतः छोड़ देता हूँ तो डूब जाता हूँ और यदि इसे मैं पकड़े रहना चाहता हूँ तो यह मुझे डस लेती है।"※ इस कारण इसे सँभाल लेना बड़ी निपुणता व चतुरता का काम है। व्यवहार करते समय इसे उलटकर काट खाने का अवसर नहीं देना चाहिए। यदि कोई माया को इस प्रकार पूर्णतः वश में रखकर काम करता है तो वह उसका उपभोग

×—ले समाधि रस पीजिए, दादू जब लगि दोइ।
बानी (बेल०) भा० १ पृ० ७८, वही पृ० ७८ (३१५)
और पृ० ९१ (४४-५) भी देखिए।

÷—रज्जब माया मन समि वैरी मीत न कोइ।
कुकृत उपजै इनहुँ सौं इनसौं सुकृत होइ॥
रज्जब एक पूत मातहि भषै, एक मात सुत खाइ।
विभूति सुबीछनी ब्याउनी, नर देखौ चिरताइ॥
'सर्वांगी' अंग १६, साखी ७ (पौड़ी हस्तलेख)।

※—भेला पाया श्रम सों, भवसागर के मांहि।
जो छांडो तौ डूबिहौं, गहौं तौ डसिये बांह॥
क० ग्र०, (११–४३)।

भी करना है और उस पर शासन भी रखता है। (यह नियम यद्यपि अंतिम नहीं है फिर भी) हम देखते हैं कि वह हमारी दासी और शुभ-चिंतक बन जाती है।† इस प्रकार वह मध्यम मार्ग हो, जिसमें न तो उसका पूर्ण परित्याग हो और न उसका ग्रहण हो अथवा जैसा कबीर ने अन्यत्र कहा है, जहाँ काजल की कोठरी में बिना किसी धब्बा के लगे रहा जा सके, आवश्यक हो जाता है। यही द्वैधीभाव की माया निर्गुणी संतों के मध्यम मार्ग की आधार-स्वरूपिणी है।

पृष्ठ १७६ पंक्ति १। प्रत्यावर्त्तन की यात्रा–निर्गुण संप्रदाय के सभी संत इस यात्रा को, पीछे को फिर लौटना बतलाते हैं। कबीर इसे 'उलटी चाल' कहते हैं जो तलवार की धार पर चलने के समान है।+ रज्जबदास कहते हैं कि संसार के लोग सीधे ढंग से आगे जाते हैं, किंतु संत वह है जो पीछे की ओर चलता है। यारी इसे उलटी बाट कहते हैं।÷ और शिवदयाल इसका नाम उलटी धार रखते हैं।×

पृष्ठ १७८ पंक्ति २३। अलल (अथवा अनल पच्छ)—यह उस

†—(कबीर) माया दासी संत की, ऊभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमिरि सुमिरि जगदीस॥
वही (३३–१०)

+—कहै कबीर कठिन यह करणी, जैसी षंडे धारा।
उलटीचाल मिलै परब्रह्म को, सो सतगुरु हमारा॥
वही (१४५–१७०)

÷—उलटा चलै सु औलिया, सूधा गति संसार।
जन रज्जब यूं जाणिले, इनका यही विचार॥
'सर्वांगी' (२४–६)

×—हरिमद मतवाले रहत है, चलत उवट की बाट।
प्रेम पियाला सुरति भर पियो, देखो उलटी बाट॥
'म० बा०', (पृ० ४१८)

मिस्त्र देशीय काल्पनिक पक्षी 'फ़ोनिक्स' का थोड़ा बहुत रूपांतर जान पड़ता है जिसके संबंध में भिन्न भिन्न लेखकों ने भिन्न भिन्न कथाएँ कह डाली हैं। सब से प्रसिद्ध कथा यह है कि यह पक्षी एक समय में एक ही रहा करता है और ५०० वर्षों तक अरब के रेगिस्तान में जीवित रह कर अंत में अपने को उन सुगंधित टहनियों के ढेर पर जला देता है जो सूर्य की किरणों द्वारा आप से आप जल उठती हैं और जिनकी ज्वाला इसके पखों की धौंक से तीव्र हो जाती है। इसकी भस्म से इसका एक बच्चा निकल पड़ता है जो पूरे आकार का फीनिक्स बन कर शीघ्र तैयार हो जाता है। यह पक्षी हिन्दी में फारसी से आया जान पड़ता है जहाँ इसे 'आतिशज़न' कहा करते हैं और जहाँ पर इसका ग्रीक नाम 'क़ुक़नूस' है। फारसी में इसकी कथा कुछ भिन्न है। वहाँ इस पक्षी की चोंच में अनेक छिद्र बतलाये जाते हैं जिनसे सुरीला शब्द निकला करता है। इन छिद्रों से निकलनेवाले श्वासों से ही, ढेर पर बैठकर पक्षी के गाते समय लकड़ियाँ जल उठती हैं। राख के ढेर से एक अंडा उत्पन्न होता है जिससे पक्षी का जन्म होता है। हिंदी में यह सारी कथा बदल गई है और पक्षी के लिए पृथ्वी का स्पर्श करना कभी नहीं बतलाया जाता। उसका अंडा भी आकाश में ही उत्पन्न होता है और दिये जाने के अनन्तर पृथ्वी पर आने से पहले ही फूट जाता है तथा बच्चा उड़कर फिर अपनी माँ के निकट चला जाता है जो ऊपर विहरती रहती है। इस पक्षी का संबंध यहाँ, उपर्युक्त भस्म हो जाने की क्रिया के साथ अब कुछ भी नहीं रह गया है। फिर भी इसका 'अनल' (अनल) पच्छ अथवा अग्निपक्षी नाम यह सूचित करता है कि इसका संबंध फारसी के आतिशज़न तथा ग्रीक भाषा के उस फ़ोनिक्स

पालो तव नाम कुल्ल करतार, बाध कर चढ़ो सुरत का तार।
मीन मत चढ़कर उलटी धार, मकरगत पकड़ा अपनातार॥

सार वचन, भा० १, पृ० २१३।

के साथ भी कुछ न कुछ अवश्य रहा होगा जिसका उच्चारण फारसी में क़ुक़नूस हुआ करता है।

पृष्ठ १६५ पंक्ति ११। उन्नतीकरण-मन कभी भी पूर्णतः निष्क्रिय नहीं रह सकता। यह एक वस्तु की ओर से दूसरी की ओर प्रवाहित होता रहेगा और जिस किसी वस्तु की ओर चला जायगा उसके गुण ग्रहण कर लेगा। कबीर के शब्दों में मन ऐसा पक्षी है जो सभी दिशाओं में उड़ा करता है और जिस वृक्ष पर बैठता है उसके फल खा लेता है।* इसे पापों की ओर भ्रमण करने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि न केवल इसके मार्ग में बाधा डाली जाय, प्रत्युत, इसके लिए ऐसी विशुद्धतर नालियाँ बना दी जायँ जिनसे होकर यह अबाधित रूप से और सरलतापूर्वक प्रवाहित हो सके। समस्या का हल इसे केवल दबा देने अथवा मनोमारण से ही नहीं हो सकता। कबीर ने कहा कि "मन को दबा कर कौन सफल हो सका? वस्तुतः इसे कौन दबा ही सकता है? और फिर यदि तुमने मन को दबा ही दिया तो मुक्ति किस लिए चाहते हो? वह तो मन में ही है यही सभी कोई कहते हैं।‡ और फिर भी कबीर का यही कहना है कि बिना मन के मारे भक्ति नहीं हो सकती। जो कोई इस भेद से परिचित हो उसे विदित हो जायगा कि स्वयं मन ही तीनों भुवनों का स्वामी है।+ 'नूरी' मन (अर्थात् ज्योतिर्मय मन)

---

*—कबीर मन पंखी भयो, उड़ि उड़ि दहदिसि जाइ।
जो जैसी संगति मिलै, सो तैसो फल खाइ॥
'क० ग्र०', (२५७-१०४)

‡—मनका स्वभाव मनहि बियापी, मनहि मारि कवन सिधि थापी।
कवन सु मुनि जो मनको मारै, मनको मारि कहहु किस तारै॥
क० ग्रं० (३१५-२५०)

+—मन अंतर बोलै सब कोई। मन मारे बिन भगति न होई।
कहु कबीर जो जानै भेऊ। मन मधुसूदन त्रिभुवन देऊ॥
क० ग्रं०, (३१५-२५८)

परमात्मा की अनुभूति का साधन है और मन का वह रूप जिसे दबाने की आवश्यकता पड़ती है, 'खाकी' मन (अर्थात् धूल का बना मन) है जिसे उसकी बहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं। मनोविकार अथवा इच्छा स्वभावतः दोषपूर्ण नहीं। जैसा कबीर ने बतलाया है "यह हमें राम के साथ भी मिला सकता है, यदि हम केवल इतना जान सकें कि इसे अपने हृदय में किस प्रकार सुरक्षित रखा जा सकता है।"† इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कबीर कहते हैं कि "यदि मन राम के साथ उसी प्रकार रमण करने लगे जिस प्रकार माया के साथ विलास करता है तो वह तारामंडल से होता हुआ केशव के धाम तक पहुँच जायेगा।"* निर्गुणी लोग इस कार्य को अपने प्रेम-द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं। प्रेम अपनी विरह अथवा वियोग की वेदनापूर्ण सक्रिय दशा में साधक के सारे इंद्रिय-व्यापारों को उस परमात्मा में केंद्रित कर देता है जो भक्ति, कृपा एवं सौंदर्य का आधार स्वरूप है और जो कामिनी जैसे निम्न मनोविकार के विषयों का स्थान ग्रहण कर लेता है।÷ जिससे उसकी आँखें, उसके कान, होंठ तथा हृदय सभी उसकी ओर उन्मुख हो जाते हैं।× योग एवं ज्ञान

---

†—काम मिलावै रामकूं, जे कोइ जाणै राषि।
कबीर बिचारा क्या करै, (जाकी) सुषदेव बोलै साषि॥
क० ग्रं०, (५१-११)

*—जैसे माया मन रमै, यों जे राम रमाइ।
(तो) तारामंडल छाँड़ि के, जहँ केसौ तहँ जाइ॥
वही (६-२४)

÷—कामणि अंग बिरकत भया, रक्त भया हरि नाइ।
साषी गोरषनाथ ज्यूं अमर भये कलि मांइ॥
वही (५१-१२)

×—नैन निहारौं तुज्झको, स्रवन सुनो तव नांउ।
बैन उचारहु तुव नाम जी, चरनकमल रिद ठांउ॥
वही (२५६-८८)

का कठिन कार्य इस प्रकार सुगम बन जाता है। यदि हम हृदय से चाहें तो हमारा चंचल मन, हमारे व्ययशील व अनियमित प्राण तथा भटकने-वाली इंद्रियाँ सभी वश में आ जायँ।√ और जब ऐसा हो जाय तो समझ पड़ेगा कि वेही चोर (इंद्रियों के द्वारा कार्य करनेवाला मन) जो हमारे आध्यात्मिक धन की लूट मचा रहे थे, स्वयं हमारा धन बन गये। V

पृष्ठ १६६ पंक्ति १५। सुरति—बाबू सम्पूर्णानन्द समझते हैं कि सुरति शब्द स्रोत का बिगड़ा हुआ रूप है जिसकी परिभाषा "हिन्दू दार्शनिक ग्रंथों में (उनकी दृष्टि में ऐसा कहते समय कदाचित् पातंजल योगसूत्र पर किया गया योगवार्त्तिक नामक भाष्य रहा होगा) चित्त-वृत्तियों का प्रवाह दी गई है।"* गुलाल ने भीखा को बतलाया था कि सुरति और मन एक ही वस्तु है।† दादू का कहना है कि "चेतन वह मार्ग है जिस पर सुरति अग्रसर होती है।"‡ किंतु मैंने इसे 'स्मृति' शब्द से निकला हुआ माना है और ऐसी दशा में इसका तात्पर्य

√—दादू सहजैं मन सबैं, सहजैं पवना सोइ।
सहजैं पंची फिर भये, जे चोट बिरह की होइ॥
बानी, भा० १ पृ० ४२-१२७।

V—जबलग थो अँधियार घर, मूस थके सब चोर।
जब मंदिल दीपक बल्यो, वही चोर धन मोर॥
सं० बा० सं० (भा० १) पृ० १०३।

*—विद्यापीठ (त्रैमासिक पत्रिका), भा० २, पृ० १३५।

†—भीखा ! यही सुरति मन जानो। सत्य एक दूसर मति मानो॥
म० बा०, पृ० १६६।

‡—चेतन पैंड़ा सुरति का, दादू रहु ल्यो लाय।
बानी, (वे० प्रे० भा० १) पृ० ८६।

वह नहीं रह जाता है जो साधारणतः लिया जाता है। इसके साथ निर्गुणियों के उस साधनामार्ग की भी संगति लग जायगी जो 'उलटी चाल' को निर्दिष्ट करता है और यह उस अभिप्राय के भी विरुद्ध नहीं जायगा जो बा० सम्पूर्णानन्द का है। स्मृति भी चित्तवृत्तियों का प्रवाह ही है, यद्यपि यह उलटी दिशा की ओर चलता है। वास्तव में सुरति की सहायता से ही उलटी चाल संभव हो पाती है।÷ मेरी इस राय का समर्थन छान्दोग्य उपनिषद् से भी हो जाता है जो सारे बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए स्मृति का उपलब्ध कर लेना आवश्यक मानती है—'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः (१७-२७-२)। राधास्वामी सत्संग वाले लोग सुरति व सुरत का अर्थ जीवात्मा या व्यक्तिगत आत्मा लगाते हैं। इसका एक अर्थ प्रेम (सु-रति वा सुरत) भी लगाया जा सकता है।

पृष्ठ २२० पंक्ति २२। अजपाजाप—रज्जबदास ने इसकी परिभाषा देते हुए इसे वह स्मृति ठहराया है जो भौतिक शरीर के अंतर्गत शब्द एवं श्वासक्रिया की ओर निर्देश करती है।× एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है कि "अजपाजाप की साधना तब हुआ करती है जब कि आत्मा, मन, पवन तथा सुरति को आप से आप ग्रहण कर लेता है और

+—यह विचारि नहि करउ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ॥
रामचरितमानस (२-५६)।

÷—पालो तब नाम कुल्ल करतार, बाँध कर चढ़ो सुरत का तार।
मीन मत चढ़ गइ उलटी धार, मकर गत पकड़ा अपना तार॥
सारवचन, (१-२१३)।

×—सरिर सबद अरु सास करि, हरि सुमिरन तिहुँ ठाँव।
जन रज्जब आतम अगम, अजपा इसका नाँव॥
सर्वांगी (१९ १)।

वस्थ के साथ उनका प्रयोग एक साथ करता है।√ फिर उन्हीं के अनुसार जो कोई परमात्मा का नाम मुख से लेता है वह मनुष्य है जो हृदय से लेता है वह देवता है, किंतु वास्तविक भजन प्रकाशित हो गये हुए पूरे आत्मा से ही हुआ करता है।* कबीरपंथ की धर्मदासी शाखा के ग्रंथ 'अनुरागसागर' में भी कहा गया है कि अजपाजाप वह साधन है जिसमें मन, पवन, एवं शब्द सुसंगति के साथ केंद्रित हो जाते हैं और जिसमें जिह्वा, माला अथवा हाथ की कोई आवश्यकता नहीं पड़ा करती।† दादू का कहना है कि "एक हिंदू रमणी अपने पति का नाम कभी नहीं लेती किंतु फिर भी उसके लिए अपने शरीर वा आत्मा का त्याग कर देती है।"‡ यारी साहब के गुरु के गुरु बावरी के शब्दों में, "इस प्रकार की उपलब्ध दशा से मनुष्य का सारा जीवन व्याप्त

√—मन पवन अरु सुरति कों आतम पकड़े आप।
रज्जब लावै तत्त सो, योंही अजपा जाप॥
सर्वांगी (१६-२२)।

*—मुप सों भजे सो मानवा, दिल सो भजे सो देव।
जीव सो जपे सो ज्योति में, रज्जब साची सेव॥
वही (१६-२)।

†—जाप अजपा हो सहज धुन, परख गुर गम धारिए।
मन पवन थिर कर शब्द निरखे कर्म मन्मय मारिए॥
हात धुन रसना बिना कर, माल बिन निर्वारिए।
सब्द सार विदेह निरखत, अमर लोक सिधारिए॥
वही, पृ० १३।

‡—सुन्दरि कबहूँ कंत का, मुप सो नाउ न लेइ।
अपने पिय के कारने, दादू तनमन देइ॥
'बानी', (वे० प्रे०) भा० १, पृ० २४१।

है।"+ इस स्थिति को आप से आप लाने के लिए हमें किसी बाह्य साधना में लगना आवश्यक नहीं, क्योंकि इसके लिए उपयुक्त सारा साधन हमारे भीतर ही वर्तमान है। रज्जब ने कहा है कि मार्ग तो पथिक के ही भीतर विद्यमान है।÷ बुल्ला ने कहा है कि हमें उस काशी तीर्थ में ही स्नान करना चाहिए जो हमारे शरीर के भीतर अवस्थित है।× कबीर तो काया के ही भीतर परमात्मा के साथ-साथ करोड़ों काशी जैसे तीर्थों को भी देखते हैं।√ गुलाल ने इसी कारण साधक से कायाविषयक पूर्ण ज्ञान उपलब्ध कर लेने की सम्मति दी ; क्योंकि इसके भीतर मुक्ति का एकमात्र मार्ग अजपाजाप चल रहा है।V इस प्रकार आप से आप चलनेवाला भजन साधक को उसके लक्ष्य तक बिना किसी बाहरी सहायता के ही उसी भाँति पहुँचा देता है जिस भाँति हनुमान बिना किसी जहाज की सहायता के लंका द्वीप तक कूद पहुँचे थे।⊥

+—अजपाजाप सकल घट बरतै, जो जानै सोइ पेखा ॥

म० बा०, पृ० १।

÷—संतो ! बाट बटाऊ माहीं। सो आपण समझै नाहीं ॥
विरला गुरु मुषि पावै। सो फिर बहुरि न आवै ॥

सर्वांगी (४०-२)।

×—काया कासी घट करहु नहान। युग युग पावहु पद निर्बान ॥

म० बा०, पृ० २०।

√—काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कंवलापति, काया मधे बैकुंठवासी ॥

क० ग्रं०, (४५-१७१)।

V—काया परचे जानहु प्रानी। अजपाजाप मुक्ति कै खानी ॥

म० बा०, पृ० १।

⊥—नेह बिनावै सो किया, ध्यान धर्या बिन अंक।
रज्जब मनो जहाज बिन, हणवंत पहुँच्या लंक ॥
'सर्वांगी' (१६४)। इसके (पहले का पृष्ठ भी देखिये)।

जैसा मैंने पहले ही कहा है अजपा जाप को भी निर्गुणी लोगों ने गोरखनाथ से ही पाया है। गोरखपद्धति (शतक) की इन पंक्तियों द्वारा यह प्रमाणित हो जायगा—"श्वास हकार के द्वारा बाहर जाता है और सकार के द्वारा भीतर आया करता है। इस प्रकार जीव 'हंस' का जप सदा करता रहता है। यह 'अजपागायत्री' योगी को मुक्ति प्रदान करती है और इसके लिए केवल दृढ़प्रतिज्ञ हो जाने से ही सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इसके समान न तो कोई विद्या है, न जप है, न ज्ञान है और न तो ऐसा कभी था न हो सकेगा।"* कबीर ने तो योगियों के इस विश्वास को भी दुहराया है कि एक दिन में मनुष्य २१६०० बार श्वास लिया करता है (दे० 'कबीर ग्रंथावली' पृ० १०६ पद ६०६)।

पृष्ठ २३२ पंक्ति १८। सहस्रार—जो बुद्ध की मूर्तियों में दीख पड़ता है—बुद्ध की मूर्तियों में लक्षित होनेवाली केशराशि गुप्तकालीन मूर्ति-कला की विशेषता मानी जाती है। परन्तु यह कार्ली की चैत्य गुफा के द्वारमंडप की पिछली दीवार पर निर्मित उन उभारों पर भी दीख पड़ती है जिसके कुछ अंशों का निर्माण-काल ईसा की प्रथम शताब्दी मानी जाती है और इसके लिए कोई कारण नहीं कि उनका शेष अंश भी उसी समय का क्यों न समझ लिया जाय? इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न काल की विशेषताओं के

---

*—हकारेण वहिर्याति, सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा॥
अजपा नाम गायत्री, योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्प मात्रेण सर्व पापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥
पृष्ठ २२-३ (श्लोक ४२, ४४-५)।

सम्बन्ध में विद्वानों ने अपनी भिन्न-भिन्न धारणाएँ निश्चित कर ली हैं।

प्रथम व द्वितीय शताब्दी के अन्तर्गत बुद्ध के उपदेशों में स्पष्ट अन्तर लक्षित होने लगा था जैसा कि भजा व महायान सम्प्रदाय के सिद्धांतों-द्वारा प्रमाणित हो जाता है। साँची तथा सारनाथ के शिलालेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि सम्राट् अशोक को भी इस प्रकार की अधार्मिक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए कठोर आज्ञाएँ निकलनी पड़ी थीं। अतएव इसमें आश्चर्य नहीं कि योगमत को बौद्धधर्म ने बहुत पहले से अपनाना आरम्भ कर लिया था। यह बात कुछ अंशों में उन यौगिक पद्मासनों-द्वारा भी सिद्ध हो जाती है जिनमें हमें अधिकतर सभी प्राचीनतम मूर्तियों के बुद्ध, बैठे हुए दिखलायी पड़ते हैं। कहा जाता है कि नागार्जुन (तीसरी शताब्दी) ने अपने जीवन-काल को अपनी नाकद्वारा पानकर बढ़ा लिया था।† यह साधना उन नेती आदि शरीरशोधक यौगिक साधनाओं की पूर्वगामिनी हो सकती है जिनका अभ्यास योगी लोग किया करते हैं।* योगमत का बौद्धधर्म में आकर अपने भीतर भिन्न-भिन्न संप्रदायों को अस्तित्व में लाना, इस बात से प्रकट होता है कि उसके अन्तर्गत नाथ सम्प्रदाय और सिद्ध सम्प्रदाय जैसे उन योगमार्गी वर्गों का भी प्रचार होने लगा जिनकी उत्पत्ति बौद्धधर्म से ही बतलायी जाती है। इस प्रकार बुद्ध को, आगे चलकर, योग के उस षट्चक्र सिद्धांतानुसार भी महायोगी माना जाने लगा+ जिसकी परिणति

---

†—वाटर्स: 'ऑन युवान च्वांग' भा० २, पृ० २०३।

*—वाटर्स: 'ऑन युवान च्वांग भा० २, पृ० २०३।

+—षट्चक्रं क्रमभावनापरिगतं हृत्पद्ममध्यस्थितं,
संपश्यञ्छिवरूपिणं लयवशादात्मानमध्याश्रितः।
युष्माकं मधुसूदनो नववपुर्धारी स भूयान्मुदे,
यस्मिन्कण्ठेत्कमलासने कृतरुचिर्बुद्धैक लिंगाकृतिः॥

सुभाषित रत्न भाण्डागार, पृ० २७ श्लो० २०३।

सहस्रार में होती है। महायोगी बुद्ध का इतिहास बहुत प्राचीन है और यह सम्भव है कि उक्त केशराशि, अन्य भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा सहस्रार की ही प्रतीक हो। यह बहुत कुछ-सहस्रार के उस प्रतिरूप के ही समान है जो आवेलन की पुस्तक 'सर्पेंट पावर' में दिया गया है। बुद्ध की मूर्तियों के शिरों के उच्चतम भाग में जो अंश एक थोड़ा सा दीख पड़ता है उसके विषय में कहा जाता है कि यह विलक्षणता "कभी-कभी चामत्कारिक घटना के रूप में प्रकट होती है" और "उसका प्रत्यक्षीकरण सर्वसाधारण के लिए नहीं हुआ करता।"÷ इससे स्पष्ट है कि किसी समय यह भी समझा जाता था कि बुद्ध के शिर के सम्बन्ध में कोई रहस्यपूर्ण बात अवश्य है।

मुझे तो यह जान पड़ता है कि पूर्वकालीन मूर्तियों में सहस्रार के उस संकेत को न समझ सकने के कारण, जिसके उदाहरण कार्लीगुफ़ा के उभारों में पाये जाते हैं, गांधार के ग्रीक शिल्पियों ने उसे झब्बेदार बालों के रूप में परिवर्तित कर दिया और उक्त कला के आगे पुनरुद्धार हो जाने पर भी पुरानी भूल ज्यों की त्यों बनी रह गई।

पृष्ठ २४६ पंक्ति १७। आँखों का उलटना—इस क्रिया का प्रसंग प्रायः इन सभी संतों में आया है। इसके प्रमाण में अन्य अनेक उद्धरण भी नीचे टिप्पणी में दिये जाते हैं।* आँखों के उलटने का अभिप्राय कभी-कभी आध्यात्मिक अन्तर्मुखीकरण (प्रत्यावर्त्तन की यात्रा) भी लिया जा सकता है। किन्तु यह क्रिया निश्चित रूप से योगाभ्यास की भी है।

÷—वाटर्स: 'ऑन युवानच्वांग' भा० १, पृ० १९७।

*—है दिल मे दिलदार सही,
अँखियाँ उलटी करि ताहि चितइए।

सुन्दर विलास आत्मानुभव, १,

रूपों में आवृत हीरे के रूप में की है।÷ कबीर ने मघा नक्षत्र में गर्जनेवाले मेघों का वर्णन किया है जब असंख्य तारागण की चकमक बनी रहती है, बिजली चमकती है और परिणाम यह होता है कि साधक उस समय होनेवाली वृष्टि से सराबोर होकर अनुभूति की उत्कृष्टतम दशा को पहुँच जाता है।+ बुल्ला ने भी त्रिकुटी का बिजली के प्रकाश में देखा है जब आकाश काले-काले बादलों से भर जाता है और अनाहत का गर्जन सुन पड़ने लगता है।† यारी को गगन (त्रिकुटी) का गर्जन सुन पड़ता है और छत्तीसों राग त्रिवेणी के उस किनारे पर सुन पड़ते हैं। जहाँ से तीनों तीर उद्भूत होते हैं और जहाँ पर अनहद की बाँसुरी बजा करती है।* इन संतों ने परमात्मा की भी चर्चा की है जिसे इन्होंने श्वेतरूप में देखा है। गुलाल कहते हैं "अरे मन श्वेत का सुन्दर होता हुआ देख। वह उज्ज्वल प्रकाश और वह स्फटिकमयी ज्योति वर्णनातीत है। समय बीतते जाने पर भी मलिन न होने-

---

÷—जब होग हिरम्बर होइहै, तब छूटिहै ससार।

मं० बा० सं०, २१०१ पृ० १२२।

+—गगन गरजि मघ जोइए, तहँ दीसै तार अनंतरे।
बिजुरी चमकै घन बरसिहैं तहँ भीजत है सब संत रे॥

क० ग्रं०, पृ० (८८-४)

†—श्याम घटा घनघोर चहूँ दिशि आइया।
अनहद गर्जे अघोर तब गगन सुनाइया॥
दामिनि दमक जे त्रिवेणी जनाइया।
बूला हृदय विचार तहाँ मन लाइया॥

सं० बा०, पृ० ७६, पृ० ५७।

*—बाजत अनहद बांसुरी तिरबेनी के तीर।
राग छतीसों होइ रहे गरजत गगन गंभीर॥

सं० बा० सं०, भा० १, पृ० १२१।

बांका वह मणिदीप गगन में निराधार बना हुआ जलता है।"† शाह फकीर ने एक उस खेल का वर्णन किया है जिसमें हीरा दूर देश से उपलब्ध किये गये अनुपम माणिक के ऊपर अपना प्रकाश फैलाता है। मन का पक्षी श्वेत लहरों पर उड़ा करता है और जिसमें उस पवन का रूप स्फटिकमयी उज्ज्वलता में ही भासित होता है।× बुल्ला ने अपने अनुभव का आनंद से भरे शब्दों-द्वारा त्रिकुटी की झिलमिली ज्योति, जगमगाते स्वर, अनहद की दुन्दुभी के गंभीर गर्जन, वहाँ पर विद्यमान अनुभावी, पश्चिम घाट वा पिछवाड़े के घाट की ओर लगायी जानेवाली दौड़, उत्तरी मार्ग पर होनेवाले भ्रमण तथा, अन्त में, उस उज्ज्वल निरपेक्ष परमात्मा का भी वर्णन किया है।+ यारी के गुरु बीरू ने अपने आनंद के अनुभव का बड़ा सुंदर विवरण दिया है। वे कहते हैं कि हमारा लाल त्रिकुटी

---

†—सुन्दर सेत सुहाई रे मन। सुन्दर सेत सुहाई।
उज्ज्वल उदिति छवि बरनि न आवै स्वेत फिटुक गोलाई।
अनर जरै परै अधारहि मैं मानिक जान जगाई॥
म० बा०, पृ० ५५।

×—लाल बेचूनी लाल फिरंगा हीरा ऊपर बलता है।
मन परिंद जोर पवन संग स्वेत लहरि पर चलता है॥
स्वेत फिटुक है अगम निशानी, तामें यारी खेलता है॥
'शाह फकीरा' खेल रचो है, पांच तीन दल फूलता है॥
वही, पृ० १८।

+—सोहं हंसा लागलि डोरी। सुरति निरति चढ़ु मनुआ मोरी॥
झिलमिल झिलमिल त्रिकुटी ध्यान। जगमग जगमग गगना तान॥
गहगह गहगह अनहद निशान। प्राण पुरुष तहाँ रहल जान॥
लहरि लहरि दउड़े पछिव घाट। फहर फहर चले उतर बाट॥
सेत बरन तहँ आपै आप। जन बूला सोइ माई बाप॥
सं० बा० सं०, भा० २, पृ० १७१।

के किनारे वंशीवादन कर रहा है। उसके ललाट पर सौंदर्य उत्कृष्ट रंग व चातुर्य की अभिव्यक्ति स्पष्ट दीख रही है। गंगा व यमुना इन दोनों की लहरों को संगत करके उस ज्योति का निरीक्षण करो और अपनी कादरता का परित्याग कर दो। अनहद को छोड़ कर उस सुषुम्ना-द्वारा आगे बढ़ो जहाँ प्रचंड वायु बह रहा है। धारा के अन्तर्गत ॐकार निवास करता है जो नाशमान है। यहाँ पर अपने स्वामी को पहचान लो और उसके साथ हो लो। यहीं पर तुम उस सिंहिनी (माया) की भी पहचान करोगे।❀ धर्मदास कहते हैं कि कबीर ने उन्हें उस अशरीरी पुरुष के दर्शन करने का आदेश दिया था जिसके सिंहासन व छत्र श्वेत हैं। जिस देश में उसका निवास है वह भी श्वेत है और वृक्ष तथा फूले हुए कमल भी श्वेत हैं। उसे केवल श्वेत हंस (विशुद्ध जीवात्मा) ही प्यारे हैं। ÷

❀—त्रिकुटी के नीर तीर बाँसुरी बजावै लाल,
माल लाल से सबै सुरंग रूप चातुरी।
यमुना ते और गंग अनहद सुरतान संग,
फेरि देखु जगमग को छोड़ देवै कादरी।
वायु प्रचंड चड बंकनाल मेरु दंड,
अनहद को छोड़ दे आगे चलु बावरी।
ॐकार धार वास इनहूं का है विनास,
खसम को साथ करि चीन्ह ले तू नाहरी।
जन वीरु सतगुरु सबद रिकाब वरु,
चल सूर जीत मैदान घर आवरी।

म० बा०, पृ० २।

÷—अमर लोक में पुरुष विदेही, निगम न पावै पारा हो।
सेत सिंहासन सेत छत्र सिर, सेतहि हंस पियारा हो।
सेत भूमि जहँ सेत वृच्छ है, सेतहि कमल सुहाला हो।

शब्दावली, पृ० ३२।

पृष्ठ २६४ पंक्ति ७। आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ने के इस वर्णन से अंग्रेजी के लेखक 'बनियन' की पुस्तक 'पिलग्रिम्स प्राग्रस' (तीर्थयात्री का उत्तरोत्तर गमन) का स्मरण हो सकता है क्योंकि इन दोनों यात्राओं में समानता लक्षित होती है। किंतु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि वह तीर्थयात्रियों का आगे बढ़ना जहाँ आध्यात्मिक यात्रा का एक रूपकात्मक चित्रण मात्र है और उसमें विविध कठिनाइयों का दिग्दर्शन कराया गया है वहाँ इन संतों के वर्णनों को हम वैसा नहीं कह सकते। इसके विपरीत यहाँ पर वास्तविक रूप में अनुभूत की गई उन बातों का वर्णन है जो साधकों के सामने आया करती हैं।

पृष्ठ ३०५ पंक्ति १९। तांत्रिक प्रभाव—यह न समझना चाहिए कि गोरखनाथ ने वास्तविक तांत्रिक उपासना का सर्वथा परित्याग कर दिया था क्योंकि उन्होंने केवल इसके दृष्टिकोण में अंतर ला दिया था और इसे सिद्धिप्राप्त योगियों के लिए एक प्रकार से कठिन परीक्षा का रूप दे दिया था जो* सहजोली एवं अमरोली नामक भेदों से युक्त वज्रोली योगियों में प्रचलित है। उसका उद्देश्य वीर्य को कठिन दशा में भी सुरक्षित रखना समझा जाता है।+ कबीर ने इसी तथा इसके समान अन्य अभ्यासों के लिए शाक्तों के प्रति घृणा प्रदर्शित की थी। किंतु तांत्रिक साधना का उपयोग कुछ और भी होता है जिसके लिए निर्गुणी लोग

---

* —......बिंदु अगनि मुपि पारा। जो राखै सो गुरु हमारा॥
योगेश्वरी साखी।

\+ —...............बिंदु मभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितंच निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्॥ पृ० ४६।
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
पित्तोल्वणत्वात्प्रथमाम्बुधारां, विहाय निःसारतयान्त्यधाराम।
निषेव्यते शीतल मध्य धारा, कापालिके खंडमतेऽमरोली॥
—गोरक्षपद्धति, पृ० ५१।

अप्रत्यक्ष रूप से आभारी हैं। आर्थर ग्रेयेलन के अध्ययन से भली भाँति स्पष्ट है कि गुह्य शरीररचना वा वह सारा ज्ञान जो निर्गुणियों को नाथ-पंथी योगियों से प्राप्त हुआ था तंत्रों में ही विकसित हुआ था फिर भी निर्गुणियों के लिए तंत्रों का विकृत रूप ही सब कुछ था और कबीर-द्वारा शाक्तों के प्रति प्रदर्शित की हुई घृणा आगे चल कर भी उसी प्रकार विद्यमान रहती आई। निश्चित रूप से यह कहा नहीं जा सकता कि कबीर के अनंतर कोई भी निर्गुणी संप्रदाय तांत्रिक प्रभावों से बच सकता था। गुलाल ने अमरोली सहजोली एवं कदाचित वज्रोली (जबरोली ?) की भी चर्चा उन्हें स्वीकार करते हुए से की है।× 'अनुरागसागर' के रचयिता ने पारस तथा मूल नामक उन साधनाओं के विरुद्ध भी आवाज उठायी है जो कतिपय निर्गुण पंथों में प्रचलित हैं और ये साधनाएँ लगभग उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की कनफटा योगियों की अमरोली होती है।‡ 'अमर मूल' (पृ० २२०-२२६) में कबीर पारसक्रिया को व्यावहारिक रूप⊛ देते हुए जान पड़ते हैं जिससे इस बात का समर्थन होता है।

× —जबरोली (वजरोली ?) अमरोली भोली जबरोली मन मान।
सहजोली की रहनि जानिए, पंचये अकास समान॥
म० बा०, पृ० १६३।

‡—जाहि नीरते काया होई। थापिहि ताकहँ निजमत सोई॥
काया मूल बीज है कामा। राखिहि ताकहँ गुप्तहि नामा॥
प्रथमहि याका गुप्तहि राखी। सौंपहि साधि संधि तब भाखी॥
नारि भग कँह पारस दहु। आज्ञा माँगि शिष्य पहँ लेहू॥
प्रथमहि ज्ञान शब्द समुझैहै। तेहि पीछे फिर मूल पिलैहै॥
पृ० १४२।

⊛—कबीर—पारस पान बालकहँ दीजे।...कामिनि कहँ पारस है सेवा।
पृ० २२१।

पृष्ठ ३४४ पंक्ति ६। परंतु रागों के अंतर्गत भी पदों का क्रम शीर्षक के अनुसार दिया गया है जैसा 'कबीर ग्रंथावली' में मिलता है।

पृष्ठ ३७६ पंक्ति २०। उलटवाँसियाँ—त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन के अनुसार × कबीर की उलटवाँसियों तथा सिद्धों की संध्याभाषा में दूर का सम्बन्ध है। फिर भी इन दोनों में महान् अन्तर भी है। उलटवाँसी का असत्याभास भी होना आवश्यक है किन्तु संध्याभाषा के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। उलटवाँसी में वह प्रत्यक्ष अर्थ जो साधारणतः वास्तविक स्थिति या व्यवहार का विपरीत प्रदर्शन हुआ करता है, श्रोता को चकित कर देने का एक साधन होता है और इसके द्वारा उसके मौलिक एवं गूढ़ अभिप्राय को ग्रहण कराया जाता है। किन्तु संध्याभाषा में जहाँ एक संधि दो प्रकार से आती है (संधि किसी श्लेष के रूप में अथवा संधि किसी गूढ़ लक्ष्य के रूप में) वहीं ही इसका असली रूप दीख पड़ता है (संध्याभाषा जिसके प्रकाश व अंधकार संबधी दो रूप होते हैं)। बात यह है कि इसका उद्देश्य प्रकाशमय अथवा दार्शनिक अर्थ तथा

घ० दा०—सकल नरक नारी ढिग कहिए।
सोई नरक गुरु कैसे चहिए॥
व्यभिचारी महँ सत कहौ,
कहो गुरू समझाइ॥
पृ० २२२।

भामिन—यह तन लेव गुसाईं, जो होवै मम काज।
तन मन धन निछावर, सुख संपति कुल लाज॥
कर धर सिज्या पर बैठावा, अंतरगति स्थिर ठहरावा॥
जोई मुख (मौं?) सो भीतर देखा। सबहि कसौटी कीन्ह परेखा॥
पृ० २२५।

देखिये 'अमरमूल' पृ० २१६ भी।

×—'सरस्वती', भा० ३२, पृ० ७१५–७१६।

अंधकारमय अथवा दुराचार-मूलक कर्मकांड से सम्बन्ध रखने वाला अभिप्राय भी बतलाना था और, अपनी पतित अवस्था में आकर, इसका दार्शनिक संकेत उक्त अनैतिक विधियों के छिपाने के लिए एक बहाना मात्र रह गया।

पृष्ठ ४३ से ६२ तक। नीचे (संख्या १ से लेकर १२ तक) की पाद टिप्पणियाँ कबीर के जीवनचरित की कुछ बातों के संबंध में दी जाती हैं।

१—जाकै ईदि वकरीदि कुल गउरे वध करहि।
मानियहि सेष सहीद पीरा।
वापि वैसी करी पूत ऐसी सरी।
तिहूं रे लाक परसिध कबीरा॥

रैदास 'ग्रंथ' पृ० ६६८।

जाके ईद वकरीद नित गऊरे वध करै,
मानिये सेख सहीद पीरा।
वापि वैसी करी पूत ऐसी वरी,
नाँव नवखंड परसिध कबीरा॥

पीपा, 'सर्वांगी' (३७३–२२)।

२—जुलाहा गर्भ उतर्‌यो साव कबीर महामुनि।
उत्तम ब्रह्म सुमिरणं नाम तस्मात किन्याति (ज्ञाति) कारणम्॥

'सर्वांगी' 'ग्रंथसाधमहिमा', १३।

यह एक विशेष बात है कि आसाम तथा बंगाल के 'जुगी' लोग सभी कातने व बुनने की ही जीविका करते हैं (दे० डिस्ट्रिक्ट गजेटियर—शिवसागर, पृ० ८५-८६, कामरूप, पृ० ७७, दुरंग पृ० ८५, चित्तागांग पृ० ६०, बोगरा पृ० ६८-नोआखाली पृ० ३७ और नवगांग का भी।

३—मेरी बोली पूरबी ताहि लखै नहि कोइ।
मेरी बोली सो लखै जो धुर पूरब का होइ॥

क० गं०, पृ० ७६ पादटिप्पणी।

४—तेरे भरोसे मगहर बसियो, मेरे तन की तपनि बुझाई।
पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई॥
वही, पृ० २९६, पद १०, 'ग्रन्थ' पृ० ५२३।

५—हंस उबारन सतगुरु जग में आइया।
कासी में परगट भये दास कहाइया॥
बांभन व संन्यासी तो हांसी कीन्हिया।
कासी से मगहर आये कोई नहि चीन्हिया॥
मगहर गांव गोरखपुर जग मे आइया।
हिंदू तुरक प्रबोधि क पंथ चलाइया।
धर्मदास 'शब्दावली' पृ० ४।

६—कासी हांसी करवत डोलै, सँग गनिका मतवाली॥
ग्रंथ शब्दावली (ह० लि०) ऊपर का ५ भी देखिये।

७—हिरदै कठोर मरया बनारसी नरक न बंच्या जाई।
हरि का दास मरे मगहर सेन्या सकल तिराई॥
क० ग्रं०, (२२४—३४५)।
जो कासी तन तजै कबीरा, रामहि कौन निहोरा।
वही, (२३१—४०२)।
चरन बिरद कासीहि न देहूँ। कहै कबीर भल नरकै जैहूँ॥
वही, (१८५-२६०)।
जिउ जल छोड़ि बाहरि भई मीना...
तजिले बनारस मति भइ भोरी॥
मुआ रमत श्रीरामै—ग्रंथ, पृ० १७६, पद १५।

—घट घट अविनासी अहै सुनहु तकी तुम सेख।
बीजक (रमैनी ६३)।

सेत पकर्दा सेत सफर्दा तुम मानहु वचन हमार ॥
आदि अंत औ जुग जुग देखहु दृष्टि पसार ।

वही, (रमैनी ४८) ।

९—सांचे साधु जु रामानंद ।

जिन हरिजीसों हित करि जान्यो, और जानि दुख दंद ॥
जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसरानंद ।
तब हरिदास उपासिक हरिको सूरसु परमानंद ॥
उनते प्रथम तिलोचन नामा, दुखमोचन सुखकंद ।
खेम सनातन भक्ति सिंधु रस रूप रघु रघुनंद ॥
अलि रघुवंशहि फब्यो राधिका पद पंकज मकरंद ।
कृष्णदास हरिदास उपास्यो, वृन्दावन को चंद ॥
जिन विन जीवन मृतक भये हम, सहत विपति के फंद ।
तिन विन उर का सूल मिटै क्यों जिये 'व्यास अतिमंद ॥

—राधाकृष्णदास द्वारा अपने 'सूरदास का जीवनचरित्र' में उद्धृत (देखिये 'राधाकृष्ण ग्रन्थावली', भा० १ पृ० ४५४ ।) ॥

आपन. अस किये बहुतेरा । काहु न मरम पाव हरि केरा ॥
इन्द्री कहाँ करै बिसरामा । (सो) कहाँ गये जो कहत हुते रामा ॥
सो कहाँ गये जो होत समाना । होय मृतक वहि पदहि समाना ॥
रामानंद राम रस माते । कहहि कबीर हम कहि-कहि थाके ॥

—'बीजक' पद ७७ । इस पद की प्रारंभिक पंक्ति का पाठ साधारणतः 'अपन आस किजे' पाया जाता है, किंतु विचारदास ने अपने सटिप्पण संस्करण की पादटिप्पणी में वही पाठ दिया है जिसे मैंने अपने उद्धरण में स्वीकार किया है, यद्यपि उन्होंने स्वयं इसे स्वीकार नहीं किया है । किंतु मुझे जान पड़ता है कि इस पद का यही पाठ इसे बोधगम्य रूप देता है ।

राम मोहि सतगुर मिले अनेक कलानिधि, परमतत्त्व सुखदाई ।
काम अगिनि तन जरत रही है, हरि रस छिरकि बुझाई ॥
दरस परस तै दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यौ आई ।
पाषंड भरम कपाट खोलि कै, अनभै कथा सुनाई॥
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि ल्यावै तीरा ।
नाव जहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा॥
क० ग्रं० (१५२-१६०) ।

घर के देव पितर को छोड़ी, गुरु के सबद लयो ।
—ग्रन्थ (४६२-६४) ।

१०—संवत पंद्रह सौ औ पाँच मो, मगहर कियो गवन ।
अगहन सुदी एकादसी, मिले पवन मे पवन ॥
संवत पंद्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन ।
माघ सुदी एकादसी, रलो पवन में पवन ॥

—विल्सन को केवल पहली साखी ही मिली थी । दूसरी किसी समय, पीछे दीख पड़ने लगती है ।

ट्रैवर्नियर तथा अबुलफजल दोनों ही पुरी की किसी ऐसी अनुश्रुति की चर्चा करते है, जिसके अनुसार कबीर जगन्नाथ के मन्दिर के निकट गाड़े गये थे ।(ट्रैवर्नियर:ट्रैवल्स भा० २ पृ० २६६, पुरी का डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पृ० १०४ तथा जैरेट भा० २ पृ० १२६) ।

११—हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक पत्रिका) १६३२ पृ० २०६-२१३ ।

१२—करवतु भला न करवट तेरी । लागु गले सुन विनती मेरी ।
कहहि कबीर सुनहु रे लोई । अब तुमरी परतीत न होई ॥
'ग्रंथ' पृ० २६२ ।

सुन अँधली लोई बे पीर । इन मुंडियन भजि सरन कबीर ॥

पृ० ६२। कुछ अन्य सन्त— इस पुस्तक में जिन सन्तों के जीवन परिचय दिये गये हैं, उनके अतिरिक्त कुछ और हैं जो कबीर-द्वारा प्रभावित जान पड़ते हैं और जिनकी चर्चा करना आवश्यक है —

१—मीराबाई—यद्यपि मीराबाई व्यवहारतः सगुणोपासिका थीं और कृष्ण की उपासना रणछोड़ के रूप में किया करती थीं, फिर भी यह सच है कि उनके कहे जानेवाले पदों में निर्गुण विचारधारा स्पष्ट दीखती है। उन्होंने अपनी प्रेम सम्बन्धी विनय कृष्ण एवं ब्रह्म दोनों के प्रति एक साथ की है।❀ और ब्रह्म को उन्होंने अपने भीतर निवास

मेरी बहुरिया को धनियाँ नाउँ। ले राख्यो रमजनिया नाँउ॥
इन मुंडियन मेरा घर धुंधरावा। बिटवहि रामरमौवा लावा॥
कहि कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडियन मेरी जाति गँवाई॥

—ग्रन्थ पृ० ६२।

बूड्या वंश कबीर का उपज्या पूत कमाल।
हरिका सिमरन छाड़ के घर ले आया माल॥

—क० ग्रं० (२६३-१८५)।

चले कमाल तब सीस नवाई। अहमदाबाद तक पहुँचे आई॥

—बोधसागर (कबीरसागर) पृ० १५१५।

गंग जमन के अंतरे निरमल जल पाणी।
कबीर को पूत कमाल है, जिन इह गति जाणी॥

—'कमाल—बानी'।

❀—मात-पिता तुमको दियो, तुमही भल जानों हो।
तुम तजि और भतार को मन मे नहि आनों हो॥
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म पूरन पद दीजै हो॥

—बानी (बे० प्रे०) पृ० ८, पद ३२।

करनेवाला + तथा 'गगन मंडल' वाला ÷ बतलाया है। वह सुरति एवं निरति का दीपक जलाती हैं जिसमें प्रेम का तेल व मनसा की बत्ती जला करती है।× जिस सेज पर सोने से उन्हें कोई नहीं रोक सकता वह निर्गुण अर्थात् सुषुम्ना की सेज है।= प्रेमिका होती हुई भी वे ज्ञान की गली से होकर चलती हैं॥ उनकी इस रचना के भीतर सारी निर्गुण साधना आ जाती है—"यदि मैं अपने साहब को पा सकूँ तो उसे अपनी आँखों में बसा लूँ। मेरा साहब मेरी आँखों में निवास करता है जिस कारण मैं इन्हें बंद करने से डरती हूँ। त्रिकुटी में झरोखा बना हुआ है जहाँ से मैं उनकी झाँकी लगाऊँगी। अपनी सुरति द्वारा मैं शून्य महल को देखूँगी और उसमें आनन्द की सेज बिछा दूँगी। मीरा सदा अपने को अपने प्रियतम के प्रति समर्पित करती है, वह प्रीतम

+—मेरे पिय मो माँहि बसत है, कहूँ न आती जाती।
—वही (१०-१६)।

÷—गगन मण्डल पै सेज पिया की, किस विधि मिलणा होय।
—वही (४-३)।

×—सुरत निरत का दिवला सँजोले, मनसा की कर बाती।
प्रेम हटी का तेल मँगा ले, जगा करे दिन राती॥
—वही (१०-१६)।

=—तेरा कोई नहिं रोकनहार, मगन होय मीरा चली।
ऊँची अटरिया लाल किवड़िया, निरगुण सेज बिछी॥......
सेज सुषमणा मीरा सोवै, सुभ है आज घरी॥
—वही (११-१८)।

॥—मान अपमान दोऊ धर पटके, निकली हूं ज्ञान गली॥
बानी, (११-१३)।

जो नागर तथा गिरिधर है। +" वह अनाहत नाद को श्रवण करती है -" और अनादि एवं अविनाशी प्रीतम को पाकर जरा मरण से मुक्त हो जाती है। =" इस प्रकार मीरा में हमें सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं और यदि हम लोग इस बात का ध्यान रखें कि उन्हें रामानन्द के शिष्य रैदास अथवा उनकी रचनाओं से प्रेरणा मिली थी तो हमें आश्चर्य करने का कोई कारण न मिलेगा।

मीराबाई मेड़ता के राव वीरमदेव के अनुज रत्नसिंह की पुत्री थीं। उनका जन्म लगभग सन् १४६८ ई० हुआ था विवाह राणा साँगा के पुत्र भोजराज के साथ सन् १५१६ ई० में हुआ था। लगभग सन् १५१८ में वे विधवा हुई थीं और सन् १५४६ ई० में मर गईं। (गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजस्थान का इतिहास पृ० ६७०-१)।

२. बावरी, बीरू, भीखा, अजयदास और शाहफकीर-- बावरी और यारी के गुरु बीरू निर्गुण सम्प्रदाय के इतिहास में तबतक धुँधले चित्र ही

+—नैनन बनज बसाऊँरी, जो मैं साहब पाऊँरी।
इन नैनन मोरा साहब बसता, डरती पलकन नाऊँरी।
त्रिकुटी महल मे बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँरी।
सुन्न महल में सुरति जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँरी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जाऊँ॥
—वही (३०-६८)।

छ—बिन करताल पखावज बाजे, अनहद की झनकार-रे॥
—वही (४२-१)।

=—साहब पाया आदि अनादी, नातर भव में जाती॥
—वही, (१-१)।

रह गये थे अबतक गाजीपुर जिले के भुरकुडा के निवासी बाबा रामबरन-दास ने महात्माओं की वाणी का प्रकाशन नहीं किया। इस प्रकाशन-द्वारा उन महात्माओं के वस्तुतः रुचिकर जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वे लोग ऊँची आध्यात्मिक श्रेणी के संत जान पड़ते हैं। इनके कुछ पदों को परिशिष्ट ३ में उद्धृत किया गया है। बावरी को देहली का निवासी भी कहा गया है और उनका समय अकबर (सन् १५५६-१६०५ ई० के पहले आता है। भीखा जिनके पदों से उद्धरण लिया गया और जिनकी चर्चा भी इस पुस्तक में की गई है, वे भी आध्यात्मिक दृष्टि से इन बावरी के ही वंशज थे और गुलाल के प्रत्यक्ष शिष्य थे। गोविन्द, भीखा के शिष्य थे न कि गुरु जैसा कि पहले कहा गया था। बावरी की परंपरा की वंशावली निम्नलिखित रूप में मानी जाती है——१. रामानंद, २. दयानंद (ये दोनों गाजीपुर जिले के पटना स्थान के निवासी थे) ३. मायानन्द (देहली निवासी) ४. बावरी ५. बीरू ६. यारी ७. बुल्ला ८. गुलाल ९. भीखा १०. गोविन्द और ११. पलटू। जगजीवन भी जो दूलन के गुरु थे इसी परम्परा की एक शाखा के थे और बुल्ला के शिष्य थे, अजबदास व शाह फकीर भी इसी परम्परा के थे। इनकी कुछ रचनाएँ 'महात्माओं की वाणी' में दी गई हैं। इनके विषय में और कुछ भी पता नहीं चलता।

२. वीरभान—वीरभान (जिनका आविर्भाव-काल रेवरेंड के० के अनुसार सन् १५४३ ई० और विलसन के अनुसार सन् १६५२ ई० है) साधों या और साधकों के संप्रदाय के प्रवर्त्तक हैं जो गंगा व यमुना के ऊपरी द्वावे तथा मिरजापुर आदि स्थानों में पाये जाते हैं और वे नारनौल के निकट अवस्थित बृजसार के निवासी कहे जाते हैं। वे ऊदाकादास के शिष्य भी कहे गये हैं जो कहीं-कहीं गोरखनाथ के शिष्य माने गये हैं, किंतु जिन्हें डा० के रैदास का शिष्य ठहराते हैं। 'ऊदाका-दास' को 'मालिक का हुकुम' भी कहते हैं। इस पंथ की प्रधान

पुस्तक 'निर्वानग्यानी' है जिसे सर्वसाधारण को आँखों से सुरक्षित रखा जाता है और जो इसीलिए प्रकाशित नहीं है। पंथ के सिद्धांत एक गद्य पुस्तक में दिये गये हैं जिसे 'आदि उपदेश' कहा जाता है और जिसमें एक ईश्वर के प्रति भक्ति, नम्रता, संतोष, स्वच्छता, मादक वस्तु निषेध, एक पत्नीव्रत, अहिंसा और सादे श्वेत वस्त्रों के व्यवहार के उपदेश हैं। किंतु इन उपदेशों के होते हुए भी, साध लोग वस्त्रों को छापने में निपुण होते हैं। साध दर्शन पर इस्लाम का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर को ये लोग एक प्रकार का धर्मदूत या ईश्वरीय दूत मानते हैं।*

गोरखनाथ के साथ निर्गुणियों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध का प्रमाण इस बात में मिलता है कि साधों द्वारा वे एक महान् पुरुष माने जाते हैं। 'सत अवगत, गोरख उदय कबीर' जैसे शब्द व वाक्यांश इनकी फर्रुखाबाद की 'चौकी' (मठ) के ऊपर खुदे हुए हैं। ये शिव को भी महत्ता देते हैं जो यज्ञ में भाग नहीं लिया करते।× वीरभान को डॉ० विल्सन व डा० (के) आदि, ईसाई धर्म-द्वारा प्रभावित बतलाते हैं। किंतु इस बात के दूर से संभव होने के अतिरिक्त कोई प्रत्यक्ष प्रमाण इस कथन की पुष्टि में नहीं है। एक पत्नीव्रत मात्र ही ईसाइयत के प्रभाव का प्रमाण नहीं है। हिंदुओं के सामने यह आदर्श कम से कम 'वाल्मीकीय रामायण', के समय से चला आता है। साधों की अन्य धारणाएँ निर्गुण संप्रदाय के साधारण सिद्धान्तों के अनुकूल ही जान पड़ती हैं। (दे० ट्रांट "आर० ए० एस० ट्रांजैक्शंस" भा० १, पृ० २५; एच० विल्सन "सेक्ट्स" पृ० ३५२; डा० के; 'कबीर ऐंड हिज़ फ़ालोवर्स पृ० १६४ और यू० देव 'सरस्वती' भा० ३७ पृ० ३१)।

४. लालदास—लालदासी पंथ के प्रवर्तक थे जो १७ वीं ईस्वी

---

*—'हुआ' होते हुकमी दास कबीर। पैदायस ऊपर किया वजीर ॥
उस घर का उजीर कबीर। अवगत का सिष दास कबीर ॥

×—सत की भगति महादेव पाई। जग्य जाइ न भीखा खाई ॥

शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए थे। उनके अनुयायी अधिकतर अलवर के मेओ लोग थे। उनके ऊपर कबीर का पूर्ण प्रभाव है और उन्होंने राम नाम की अमोघता का उपदेश दिया है। (डा० 'के' 'कबीर एंड हिज़ फ़ालोवर्स', पृ० १६३)।

५. गरीबदास—गरीबदासी पंथ के प्रवर्तक कहे जाते हैं जो पंजाब के रोहतक जिले में पाया जाता है। वे भी कबीर के कट्टर अनुयायी थे। उनके समान उन्हें किसी ने भी देवत्व व आदर्शत्व नहीं प्रदान किया है। उनका दावा है कि मुझे स्वयं कबीर ने ही दीक्षित किया था। प्रसिद्ध है कि उन्होंने बहुत अधिक बानियाँ लिखी थीं जिनमें से केवल कुछ ही चुनकर 'वेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित हुई हैं और उनका प्रयोग इस ग्रंथ में जहाँ-तहाँ किया जा चुका है। उनके 'गुरुग्रंथ साहिब' में चौबीस सहस्र पद्य संगृहीत समझे जाते हैं जिनमें से एक सहस कबीर के ही हैं। उनकी साखियाँ 'कबीर मन्शूर' के अंतर्गत कबीर की जीवनी के संबंध में उद्धृत की गई हैं। (दे० ग० 'के' कबीर आदि पृ० १६५)।

६ रामचरन—शाहपुरा (राजपूताना) के निवासी थे और रामसनेही संप्रदाय के प्रवर्तक थे जिनका आविर्भाव १८ वीं ईस्वी शताब्दी में हुआ था। उनकी विस्तृत रचनाएँ हैं जो मुझे अभी हाल में मिली हैं। उन्होंने कबीर के सिद्धान्तों को दुहराया है और उन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ देखा है। उनके अनुयायियों और विशेष कर दूल्हाराम ने भी बहुत बानियाँ लिखी हैं। (दे० डा० 'के' 'कबीर···' पृ० १६५)।

७. पानपदास—पानपदासी संप्रदाय के प्रवर्तक थे और बिजनौर जिले के नगीना धामपुर के निवासी थे। उनकी और कबीर की बानियाँ पंथवालों-द्वारा मान्य समझी जाती हैं और ये लोग मेरठ, देहली सरधना आदि स्थानों में पाये जाते हैं। उनका ठीक-ठीक समय विदित नहीं, किंतु १८ वीं ईस्वी शताब्दी में हुए होंगे (दे० कबीर मन्शूर भा० १, पृ० ५३७)।

पृ० ३७८। उनमनि (उन्मन) एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ

प्रतिचेतन होता है। किन्तु कबीर में कभी-कभी इसकी विचित्र व्युत्पत्ति दीख पड़ती है और बिना अर्थ के परिवर्तन के यह उनमन (यन्मन) समझा जाता है जो इनमन (यन्मन) के विपरीत है। अस्तु को 'तत्' भी कहा गया है और इसीलिए सत्य को तत्व कहते हैं। इन संतों के अनुसार हमारे भीतर का सत्य 'उनमन' अथवा वह मन है जो परात्पर (तन्मनत्व) के साथ संबद्ध है। यह प्रकाशमय मन है जो 'इनमन' अर्थात् सांसारिक अनुभवोंवाले मन के विपरीत है और जो इसी कारण 'साकी' या धूलिमय है।